प्राचीन भारत में जनतंत्र

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश,
लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६६

मूल्य
पाँच रुपये, पचास पैसे
५.५०

मुद्रक
वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद।

प्रकाशकीय

जनतंत्रीय शासन-प्रणाली भारत की आदिकालीन देन है, यद्यपि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में वह लुप्त हो जाती है। इतने समय में ही जनतंत्रात्मक शासन में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं जिनके फलस्वरूप वह अनेक रूपों में दृष्टिगत होता है। वैदिक काल, महाभारत काल, बौद्धकाल, मौर्यकाल तथा उसके बाद की भारतीय जनतांत्रिक प्रणाली के रूपों में भिन्नता पायी जाती है। इससे स्पष्ट है कि भारत के विद्वानों ने पहले पहल जनतंत्र शासन की कल्पना की और भारत में सर्वप्रथम जनतंत्र के रूप में ही राज्य की उत्पत्ति हुई। जनतंत्रीय शासन के अवसान के अनंतर भी भारतीय जनता के हृदय से जनतंत्रीय भावना का लोप नहीं हो सका। १८५७ के स्वातंत्र्य आंदोलन से लेकर १९४७ पर्यंत जो दीर्घकालीन संघर्ष हुआ, उसके मूल में यही भावना रही है तथा उसके बाद इसी भावना की सफलता की परिणति जनतंत्रीय शासन के रूप में हुई।

जहाँ तक पाश्चात्य जगत का संबंध है, यूनान के पुरराज्यों में जनतंत्रीय राज्य दिखाई देते हैं। इनके जितने भी भेद किये गये हैं, वे सभी मताधिकार की पद्धतियों पर आधारित हैं, जिससे स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य राजनीतिज्ञों ने मताधिकार को जनतंत्र राज्य का श्रेष्ठ गुण माना है। बाद में विधि की प्रधानता, राजनीतिक दल, शक्ति-पृथक्करण आदि का विकास हुआ, किन्तु भारत में विधि की प्रधानता पर सर्वाधिक बल प्रारंभ से ही दिया गया है।

शासन चाहे जनतंत्र हो अथवा राजतंत्र, विधि का पालन उसकी श्रेष्ठ कसौटी मानी जाती रही है और विधि निर्माण कार्य राज्य के अधिकार के बाहर रहा है। इस प्रकार विधि की प्रधानता और शक्ति-पृथक्करण के सिद्धांत भारतीय राज्यदर्शन में इतना अधिक महत्व रखते थे कि भारतीय राजनीति में मताधिकार का महत्व गौण समझा गया। इससे प्रकट है कि भारतीय जनतंत्रीय शासन का अपना निजी रूप रहा है और उसके संगठन तथा निर्वाचन की निजी प्रणाली रही है। अतः इसका अध्ययन हमारे वर्तमान गणराज के शासन में बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है, क्योंकि यद्यपि आज की परिवर्तित परिस्थितियों में उसे उसके प्राचीन रूप में अपनाया नहीं जा सकता तथापि

उसके अध्ययन से नयी प्रेरणा और नयी विचारधारा निश्चित रूप से मिलती है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक में प्रतिपादित विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है एवं वर्तमान परिस्थितियों में इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। आशा है, यह पुस्तक राजनीति के विद्यार्थियों, राजनीतिक चिन्तकों तथा अन्य सभी लोगों के लिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होगी।

सुरेन्द्र तिवारी
सचिव, हिन्दी समिति

प्रस्तावना

राजनीति के विद्वानों में यह धारणा प्रचलित है कि संसार में सर्वप्रथम राजतंत्र का जन्म हुआ और उसका नवीनतम विकसित रूप जनतंत्र है। किन्तु भारतीय साहित्य और राजनीति में इसके विपरीत प्रमाण मिलते हैं। उनके अनुसार भारत में सर्वप्रथम जनतंत्र का जन्म हुआ और राजतंत्र उसका विकृत रूप था। भारत में राजनीतिक विचारधारा देश-काल से प्रभावित होकर पाश्चात्य विचारधारा से बहुत कुछ भिन्न रही है, इसलिए इसका अध्ययन स्वतंत्र दष्टिकोण से करना आवश्यक है। प्रस्तुत विषय का क्षेत्र भारत के प्राचीन जनतंत्रीय राज्यों तक ही सीमित है, जो आदि काल से आरम्भ होकर पाँचवी शताब्दी ईसवी में समाप्त हो जाता है। इस ग्रंथ-लेखन में आवश्यकतानुसार यथास्थान मनोवैज्ञानिक, विश्लेषणात्मक, विवेचनात्मक, तुलनात्मक और आलोचनात्मक पद्धतियों को अपनाया गया है। प्रमाण एकत्र करने में यथासम्भव ग्रन्थ-विशेष और काल का उचित ध्यान रखा गया है।

वैदिक साहित्य में प्रस्तुत विषय से सम्बन्वित सामग्री मिलती है, परंतु उसकी शैली परोक्षवादी होने के कारण उसका सही तात्पर्य समझना कठिन हो जाता है। अन्य उपलब्ध स्रोतों में जनतंत्र का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है, जो बहुधा अपूर्ण और सांकेतिक मात्र है।

प्रस्तुत विषय को प्राचीन भारतीय साहित्य से स्पष्ट करने में निम्नांकित कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं—

*(१) प्राचीन भारतीय साहित्य में जनतंत्र के शासक को भी राजा ही कहा गया है। (२) स्तुति के रूप में देवताओं से राजा की उपमा दी गयी है। (३) पैतृक गुणों पर विशष बल देने के कारण, बहुधा राजा के निर्वाचन में भी उसके पुत्रों को विशेष अवसर दिया जाता था। (४) वर्णव्यवस्था का आरम्भिक स्वरूप कर्मानुसार था। इसलिए शासन-कार्य करनेवाले सभी व्यक्तियों का वर्ण बहुधा क्षत्रिय ही मान लिया जाता था। भारतीय जनतंत्र में निम्नांकित शासन प्रणालियाँ मिलती हैं—

(१) अराज्य, (२) वैराज्य, (३) गणराज्य, (४) पारमेष्ठ्य, (५) कुलीन गणराज्य, (६) समन्तपर्यायी गणराज्य, (७) संघराज्य तथा (८) भोज्य।

अब तक बहुधा विद्वान् 'गण' और 'संघ' शब्दों को पर्यायवाची मानते रहे हैं, परंतु गण और संघ शब्दों का तीन पृथक् अर्थों में प्रयोग होता है । सामान्यत: ये दोनों शब्द लगभग समान अर्थ रखते हैं, परन्तु विशेष और पारिभाषिक अर्थों में दोनों शब्दों का भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है।

वेदों में परोक्ष वादी शली होने के कारण उनके अनेक शब्दों के वास्तविक अर्थ को समझना कठिन है। राजनीति की दष्टि से अग्नि और विश शब्दों का यथार्थ भाव समझना अनिवार्य हो जाता है। वैदिक साहित्य में उच्च कोटि के विद्वान् को अग्नि और आर्थिक संस्थाओं को विश कहा गया है। इस प्रकार विशपति शब्द आर्थिक संस्थाओं के संचालन करनेवाले विद्वानों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में एक विवरण मिलता है जिसके अनुसार कुटुम्ब से आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा और समिति का शनैः-शनैः क्रमानुसार विकास हुआ और राज्य की उत्पत्ति से पहले ही समाज में सभा और समिति नामक राजनीतिक संस्थाएँ विकसित हो गयीं । सभा का संगठन पाँच प्रकार के सभासदों द्वारा होता था—(१) प्रयाजा:, (२) अनुयाजा:, (३) हुतभागा:, (४) अहुतादः और (५) पंचप्रदिशः । इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से समाज अनेक वर्गों में विभाजित था। राजनीतिक संस्था सभा के संगठन में तत्कालीन आर्थिक और क्षेत्रीय दोनों प्रकार की संस्थाओं का प्रतिनिधित्व था । इन आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं की व्यवस्था अपनी-अपनी समितियों द्वारा होती थी।

राज्य की उत्पत्ति से पहले समाज अराजक और वैराज्य अवस्थाओं से गुजर चुका था। राज्य की उत्पत्ति के कारणों में मनुष्य के चारित्रिक पतन का विशेष हाथ रहा। इसलिए राज्य और राजा की उत्पत्ति मनुष्यों द्वारा मानवीय कारणों से ही थी। प्राचीन हिन्दू साहित्य में राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अपितु परोक्षवादी शैली में उसको मानवीय कृति ही माना गया है।

भारतीय मनीषियों ने शासन के आदर्श रूप में शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए शासन-भार तीन पथक्-पृथक् सभाओं; भारती, इडा और सरस्वती में निहित किया था और इनके अध्यक्षों की क्रमशः वरुण, इन्द्र और यम के नामों से कल्पना की थी । परन्तु वैदिक काल के शासन में एक राज्यसभा ही कार्य-पालिका और न्यायपालिका की सर्वोच्च सभा थी जिसको महानग्नि कहा गया है ।

वैदिक काल के राजा का निर्वाचन आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं द्वारा होता था। उसके बाद राज्यसभा के सदस्य उसको स्वीकृत करते थे। निर्वाचन के समय चुनाव प्रचार भी होता था। राजा के अधिकार बहुत सीमित थे और तत्कालीन राज्य वास्तव में वर्गों का संघ ही था । यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा की उपमा अनेक देवताओं से दी गयी है, परन्तु उससे न तो राजा की दैवी उत्पत्ति का प्रतिपादन होता

है और न राजा के विस्तृत अधिकारों का। उससे तो राजा के कर्तव्यों का ही बोध होता है।

महाभारत में अनेक राजतंत्रीय राज्यों का उल्लेख मिलता है परन्तु तत्कालीन जनतंत्रीय और राजतंत्रीय राज्यों का भेद राजा नामक पद से नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों प्रकार के शासनों में राज्य के प्रधान को राजा ही कहते थे। तत्कालीन जनतंत्रीय और राजतंत्रीय शासनों में वास्तविक अन्तर उनके संगठन में था जिसको राजपद पर अभिषेक, राजा का कार्यकाल, मंत्रिपरिषद् व मंत्रिमंडल और राज्य-सभा आदि पर विचार करने से स्पष्ट किया जा सकता है। धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में जो राज्य के कर्तव्य स्पष्ट किये गये हैं, उनमें से अधिकांश जनतंत्रीय और राजतंत्रीय दोनों प्रकार के राज्यों पर लागू होते हैं, जिनमें राज्य की स्थापना, राज्य का सावयव स्वरूप, राजा के वांछनीय गुण और राजा के अधिकांश कर्तव्य मुख्य हैं।

महाभारत में हमको जनतंत्रीय राज्यों के चार रूप मिलते हैं—(१) वैराज्य, (२) पारमेष्ठ्य राज्य, (३) गणराज्य और (४) संघराज्य । वैराज्य में सारी जनता मिलकर राज्यकार्य चलाती थी, पारमेष्ठ्य राज्य में प्रतिनिधित्व का अधिकार गृहपतियों को था, परन्तु गणराज्य में प्रतिनिधित्व जाति और कुलों के आधार पर होता था। एकाधिक गणराज्य मिलकर संघराज्य बनाते थे। महाभारत में संघराज्य के दो रूप मिलते हैं जिनको अँग्रेजों में फेडरेशन और कानफेडरेशन कहते हैं।

महाभारतकालीन जनतंत्रीय राज्यों में सभी वांछनीय गुण उपस्थित थे, यथा विधायनी शक्ति का पृथक्करण, सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व, उच्च न्याय व्यवस्था, सर्वोच्च सत्ता की जनता में निहिति, भाषण की स्वतंत्रता और संगठन आदि। परन्तु साथ ही तत्कालीन गणराज्यों में कुछ दोष भी पाये जाते हैं, यथा समानता के अधिकार का दुरुपयोग, दलबन्दी, मंत्रणा को गुप्त रखने में कठिनता और निर्वाचन में संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का लोप। तत्कालीन गणराज्यों में जो दोष आ गये थे, उनको दूर करने का भारतीय विद्वानों ने प्रयास किया था। परन्तु इस प्रयास में जो परिवर्तन किये गये उनसे राज्य का रूप जनतंत्र के स्थान पर संवैधानिक राजतंत्र का हो गया। जनतंत्र से राजतंत्र की उत्पत्ति होने का यही कारण था। यद्यपि भारतीय राज्य-दर्शन में जनता को क्रान्ति का अधिकार दिया गया है, तथापि मंत्रियों की नियुक्ति राजा के हाथ में आ जाने से और ब्राह्मणों की आध्यात्मिक शक्ति के पतन हो जाने से राजा को शक्ति केन्द्रित कर, स्वच्छन्द हो जाने का अवसर प्राप्त हो गया।

महाभारत शान्तिपर्व में राज्य की उत्पत्ति के विषय में दो स्थानों पर उल्लेख है, परन्तु दोनों का तात्पर्य एक ही है। महाभारत के कथन से भी राज्य का निर्वाचन होना स्पष्ट होता है, क्योंकि पृथु को प्रथम राजा कहा गया है और वह साधारण जनता

में से निर्वाचित किया गया था। इन कथाओं से राजा की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती।

आधुनिक विद्वान् बहुधा पाणिनि-सूत्र ३-३-८६ के आधार पर संघ और गण को पर्याय ही मानते हैं। परन्तु गण और संघ शब्दों का सामान्य, विशेष और पारिभाषिक तीन पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयोग होता है। सामान्यतः गण और संघ दोनों शब्दों का अर्थ समूह होता है, इसलिए सामान्य अर्थ में ये दोनों शब्द लगभग समान अर्थ रखते हैं। परन्तु अपने विशेष और पारिभाषिक अर्थों में इन दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थ में होता है। इन अर्थों में एकाधिक गण मिलकर संघ बनाते हैं, अतः संघ की इकाई को गण कहते हैं। विशेष अर्थ में ये शब्द आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं के लिए प्रयुक्त होते हैं और पारिभाषिक अर्थ में राज्य के लिए।

आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के संघों में सभी जातियों के व्यक्ति होते थे। पाणिनि के आयुधजीवी संघ भी कौटिल्य के वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों के समान आर्थिक संघ थे। आर्थिक क्षेत्र में व्रात, पूग, श्रेणी, वर्ग आदि अनेक संस्थाएँ थीं। आर्थिक संघ का संगठन उत्तरोत्तर पूग, श्रेणी, वर्ग और संघ के क्रम से था।

गण शब्द सामान्य अर्थ में समूह के लिए प्रयुक्त होता है और इस अर्थ में वह संघ का पर्याय है। विशेष अर्थ में गण शब्द वर्ग का पर्याय है जो अराजनीतिक संस्थाओं के लिए होता है। पारिभाषिक अर्थ में गण शब्द गणराज्य के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार संघ शब्द भी सामान्य अर्थ में समूह के लिए, विशेष अर्थ में अराजनीतिक संस्था के लिए और पारिभाषिक अर्थ में संघराज्य के लिए प्रयुक्त होता है। संघराज्य का संगठन उत्तरोत्तर गृह, कुल, गणराज्य और संघराज्य के क्रम से होता है।

वैदिक काल में राजन्य शब्द क्षत्रिय वर्ण के लिए प्रयुक्त होता था और राजानः शब्द राज्यसभा के सभासद् के अर्थ में। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के व्यक्ति राजानः हो सकते थे। कालान्तर में प्रशासनिक कार्य करने वाले सभी व्यक्तियों को क्षत्रिय कहा जाने लगा और अभिषिक्त-वंश्य क्षत्रियों की सन्तान को राजन्य।

आर्थिक और अराजनीतिक दोनों प्रकार के संघ अपने निजी अंक और लक्षण रखते थे। पाणिनि के सूत्रों से अथवा यूनानियों के लेखों से भी द्विसदनीय विधान का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता।

बौद्धकालीन गणराज्यों में अभिषिक्त वंशों तक ही प्रतिनिधित्व का अधिकार सीमित हो चुका था। इस प्रकार गणराज्य सामन्ततंत्र की ओर बढ़ रहे थे। डाक्टर जायसवाल का मत है कि बौद्धसंघ का संगठन और कार्यप्रणाली तत्कालीन राजनीतिक संघों के आधार पर बनायी गयी थी। अन्य कई विद्वान् इस मत से सहमत नहीं। हमारे विचार में बौद्ध धर्म का संगठन तत्कालीन आर्थिक संघों के आधार पर किया गया था

और सम्भवतः कार्यप्रणाली भी उसी आधार पर निश्चित की गयी थी। बौद्धकालीन जनतंत्रीय राज्यों को गणराज्य कहते थे और उनमें निर्वाचन तथा बहुमत से कार्य करने के संकेत मिलते हैं। परन्तु वे वास्तव में सामन्ततंत्रीय गणराज्य थे।

डा० जायसवाल ने कुछ परोक्ष प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि राजा का चुनाव सब मंत्रिगण और नागरिक एकत्रित होकर करते थे, परन्तु उनके प्रमाणों से यह बात सिद्ध नहीं होती। अन्य प्रमाणों के अभाव में यह मानना अनुचित नहीं कि आवश्यक परिवर्तनों के साथ बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली ही गणराज्यों में अपनायी जाती होगी। बौद्धकालीन गणराज्यों का शासनकार्य तथा मुख्य न्यायकार्य सभा द्वारा होता था।

शाक्य राज्य के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों में मतभेद है और अनेक विद्वानों ने उसको राजतंत्रीय बताया है। हमने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि शाक्य राज्य जनतंत्रीय राज्य ही था और उसका शासन बहुमत से होता था। लिच्छवि गणराज्य के संगठन के विषय में भी बहुत मतभेद है। यह राज्य सामन्ततंत्रीय गणराज्य था। लिच्छवियों में सेनापति के निर्वाचन का भी उल्लेख मिलता है और वैशाली नगर में अन्य वर्णों के रहने का भी संकेत पाया जाता है।

लिच्छवियों और विदेहों ने मिलकर संवृज्जि संघ बनाया था। इन राज्यों के सामन्तीय रूप के कारण ही कौटिल्य ने इनको राजशब्दोपजीवी संघ कहा था। कौटिल्य के राजशब्दोपजीवी संघ से सामन्तीय गणराज्य का ही बोध होता है। वास्तव में ये सामन्तों के ही संघ थे।

आचारंग सूत्र में एक स्थान पर अरायाणि, गणरायाणि, दोरज्जाणि, वेरज्जाणि, जुवरायाणि और विरुद्धरज्जाणि नामों का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन विद्वानों को ये विभिन्न प्रकार की शासनप्रणालियाँ ज्ञात थीं। इनमें से जुवरायाणि और दोरज्जाणि तो राजतंत्रीय थीं। अरायाणि, गणरायाणि, वेरज्जाणि और विरुद्धरज्जाणि जनतंत्रीय शासन प्रणालियाँ थीं। अराजक और वैराज्य शासन प्रणालियाँ राज्य की उत्पत्ति से भी पहले की हैं। सम्भवतः उस समय भी पिछड़े हुए भागों में उनका अस्तित्व था। उनमें वास्तविक भेद यह था कि अराजक शासन प्राकृतिक विधियों पर ही चलता था जब कि वैराज्य में मानवीय प्रशासनिक विधियों द्वारा व्यवस्था की जाती थी। वैदिक कालीन गणराज्य महाभारत के काल में कुलीन गणराज्य बन गया और बौद्धकाल में उसका रूप सामन्तीय गणराज्य हो गया। विरुद्धरज्जाणि से संघराज्य का बोध होता है। जैन साहित्य में भोग या भोज-शासन-प्रणाली का भी उल्लेख मिलता है। इससे सीमित अधिकारों वाले जनतंत्रीय राज्य का बोध होता है।

कौटिल्य ने अध्याय आठ में वैराज्य और द्वैराज्य की तुलना की है जिससे इन

दोनों प्रकार के शासनों पर प्रकाश पड़ता है। कौटिल्य ने विरोधी भाव रखने वाले संघों को दो भागों में विभाजित किया है--(१) वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ और (२) राजशब्दोपजीवी संघ। इन दोनों प्रकार के संघों के प्रति भिन्न-भिन्न नीतियाँ अपनाने को कहा गया है। वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों के लिए जिन नीतियों को अपनाने का परामर्श कौटिल्य ने दिया है, उनसे स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि वे राज्य के अन्तर्गत आर्थिक संघ थे। इसी प्रकार राजशब्दोपजीवी संघों के प्रति जिस नीति के अवलम्बन का परामर्श है उससे उनका संघराज्य होना सिद्ध होता है। अर्थशास्त्र में ही इनके भेद को स्पष्ट करने के अनेकों प्रमाण हैं। कुछ विद्वानों ने वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ को भी संघराज्य मानकर उस वाक्य में लिखित क्षत्रिय और श्रेणी शब्दों को भी राज्यविशेष के नाम माना है, परन्तु यह भ्रम वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण ही हुआ है। कौटिल्य ने राजशब्दोपजीवी शब्द से सामन्तों की ओर संकेत किया है और राजशब्दोपजीवी संघ से सामन्तीय संघों की ओर। तत्कालीन गणराज्य वास्तव में सामन्तों के संघ ही थे। कौटिल्य द्वारा लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक, मद्रक आदि शब्दों के प्रयोग से सिद्ध होता है कि कौटिल्य ने इन राज्यों के वासियों को शुद्ध राजनीतिक दृष्टि से ही नागरिक कहा है। यहाँ उसकी राजनीति में धर्मनिरपेक्षता स्पष्ट दिखाई देती है।

यूनानी लेखकों के लेखों से सत्य की खोज करने के लिए हमको निम्नांकित बातो का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) मूल लेखों से लगभग तीन सौ वर्षों तक यह वर्णन अधिकांशतः जनश्रुति के आधार पर चलता रहा, जिसमें स्वभावतः बहुत-सी बातें घटायी और बढ़ायी गयी होंगी।

(२) जनश्रुतियों में यूनान के निवासियों की प्रथाओं और विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

(३) लेखकों की लेखनी पर भी अपने देश और सभ्यता के प्रति प्रेम की भावना का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

(४) यूनानी लोग भारत में सिकन्दर के साथ आक्रमणकारी बनकर आये थे, इसलिए उनके हृदय में भारतवासियों के प्रति शत्रुता और हीनता की भावना अवश्य रही होगी।

(५) उन्होंने जिन राज्यों का वर्णन किया है, उनकी केवल युद्धकालीन अवस्था देखी थी, जो कि शान्तिकालीन अवस्था से भिन्न होनी चाहिए। इसलिए वे उनकी वास्तविक संस्कृति और सभ्यता न देख सके।

(६) यूनानी लेखक भारत में अल्पकाल के लिए ठहरे थे। इतने अल्पकाल में

भारतीय धर्म और प्रथाओं को समझना अत्यन्त कठिन था।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी यूनानी लेखों को पूर्ण सत्य नहीं मानते, उनके विचार में यूनानियों ने भारत में जनतंत्रीय शासन और उसके अनेक रूप बताने में भूल की है। परन्तु मेगस्थनीज ने भी भारत में जनतंत्रीय शासन की ओर संकेत किया है। वास्तव में यूनानी लेखकों ने निम्नांकित उल्लेखों में भूल की है।

(१) सौभूतियों और कथों में अधार्मिक शिशुघाती प्रथा का उल्लेख ।
(२) मुसिकिन लोगों में सदैव एक साथ बैठकर खाने की प्रथा।
(३) राजतंत्र से पीढ़ियों बाद जनतंत्र के उत्पन्न होने का उल्लेख।
(४) पाण्डेई राज्य को केवल स्त्रियों द्वारा शासित बताना।
(५) सिकन्दर की कीर्ति बढ़ाने के लिए अतिशयोक्ति का प्रयोग।

यूनानी लेखक राजा शब्द का जनतंत्रीय शासन के अध्यक्ष के लिए भारतीय प्रयोग नहीं समझ सके, इसलिए उन्होंने किसी राज्य में राजा होने मात्र से ही उसको राजतंत्रीय मान लिया। यूनानियो के वर्णन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन पश्चिमोत्तर भारत में विभिन्न जनतंत्रीय राज्यों में तीन प्रकार का संगठन था—(१) जनतंत्र, (२) कुलीन गणतंत्र और (३) समन्तपर्यायी संघ।

अशोक ने अपने शिलालेखों ५ और १३ में कुछ जनतंत्रीय शासनप्रणाली वाले राज्यों का उल्लेख किया है। ये राज्य अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत ही थे । अशोक के शिलालेख से कुछ पता नहीं चलता कि इनमें शासन किस प्रकार होता था। हम यही अनुमान लगा सकते हैं कि अशोक के साम्राज्य में आने से पहले जिस राज्य में जैसा शासन चल रहा था वैसा ही चलता रहा होगा। इनमें से कुछ राज्यों में राजतंत्रीय शासन विदित होता है। राष्ट्रिक राज्य में शासनाधिकार आर्थिक संघों को प्राप्त था। पैतनिक राज्य सामन्तीय संघ थे।

जनतंत्रीय राज्यों का अन्तिम अस्तित्व मुख्यतः राजपूताने में पाया जाता है। शुंग काल से गुप्त काल तक इनके अस्तित्व के प्रमाण सिक्कों और शिलालेखों द्वारा प्राप्त होते हैं। इस काल में कुछ नये गणतंत्र राज्यों के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। अन्तिम प्रसिद्ध गणतंत्र पुष्यमित्रों का था।

जनतंत्रीय राज्यों के लुप्त हो जाने के कुछ कारण प्रत्यक्ष थे, और कुछ परोक्ष। प्रत्यक्ष कारण तत्कालीन राजतंत्रीय राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा को माना जा सकता है, और परोक्ष कारण उन राज्यों का सामन्तीय स्वरूप में परिणत हो जाना था। साधारण जनता को सामन्ततंत्र में प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त नहीं था, इसलिए उसके लिए जनतंत्र और राजतंत्र समान हो गये थे, अपितु संवैधानिक राजतंत्र की जनता सामन्तीय गणराज्यों की जनता से अधिक सुखी थी । इसलिए

जनता की रुचि सामन्तीय गणतंत्र के विरुद्ध हो गयी थी।

भारतीय प्राचीन साहित्य में जनतंत्र-शासन का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता, परन्तु इसका कारण यह नहीं था कि भारतीय विद्वान् जनतंत्र से रुचि नहीं रखते थे। वास्तव में उनकी दृष्टि में जनतंत्र और धर्म-मर्यादित राजतंत्र में अधिक अन्तर न था। शासन व्यवस्था में आर्थिक, सामाजिक, स्थानीय तथा राजनीतिक संस्थाओं को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे जो कि शासन को बहुलवादी (प्लूरलिस्टिक) रूप दे देते थे। सभी प्रकार के राज्यों के लिए आदर्श संविधान धर्म-ग्रंथों में उपलब्ध था । इसलिए किसी राज्य को पृथक् संविधान बनाने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती थी। राज्य को शनैः-शनैः अधिकाधिक अधिकार धर्मशास्त्रों ने ही दिये थे, जिनके कारण राज्य को जनता के सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हो गया।

जनतंत्र के स्वरूप में विभिन्न कालों में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है और तदनुसार ही उसकी शासन-व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था और सैनिक संगठन में अन्तर आता रहा था।

वास्तव में भारत में संवैधानिक राजतंत्र भी जनतंत्र की ही देन है। सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति जनतंत्र के रूप में होने के कारण, भारतीय राजनीतिक विचारों में जो तथ्य प्राप्त है वह जनतंत्रीय भावना से ही उत्पन्न हुआ है । सामाजिक अनुबन्धवाद, व्यक्तिवाद, जनतंत्र के विभिन्न रूप, शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त, सहिष्णुता, असांप्रदायिकता और विधि की प्रधानता के बीज भारतीय प्राचीन साहित्य में बहुतायत से पाये जाते हैं, परन्तु भारत के राज्यदर्शन में अपरिपक्व विचारों का अभाव है। उसमें सभी वादों के गुण गृहीत हैं परन्तु अतिरेक किसी वाद का नहीं।

आदिकाल से शनैः-शनैः किस प्रकार और किन कारणों से जनतंत्र के रूप में परिवर्तन आये और उनका क्या प्रभाव पड़ा, इस बात पर अन्त में विचार किया गया है । वैदिक कालीन शुद्ध जनतंत्र का स्वरूप महाभारत काल में कुलीन गणतंत्र और बौद्धकाल में समन्तपर्यायी गणतंत्र दिखाई देता है। गणराज्यों में सामन्तता आ जाने से अराजनीतिक संस्थाओं का महत्व कम हो गया। अतः व्यक्ति के हृदय से लोकलाज का भय जाता रहा, जो कि उसके चारित्रिक पतन का कारण बन गया। भारतीय जनतंत्र में अराजनीतिक संस्थाओं का अत्यधिक महत्व है, और संवैधानिक राजतंत्र में भी इनका महत्व कम नहीं दिखाई देता। अपने इसी गुण के कारण राजतंत्र ने जनतंत्र के विकृत रूप, सामन्ततंत्र पर विजय पायी थी। भारतीय राजा शब्द से भी जनतंत्रीय भावना ही टपकती है। राजा होते हुए भी राजा अपने को जनता का सेवक समझता था। अतः भारतीय राजनीति जनतंत्रीय भावना से ही ओत-प्रोत है।

—**देवीदत्त शुक्ल**

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
अध्याय १		
विषय का महत्व	...	१
अध्याय २		
जनतंत्रीय शासन के अस्तित्व के प्रमाण	...	५
अध्याय ३		
विषय-विस्तार में कठिनाई	...	१८
अध्याय ४		
हिन्दू जनतंत्र के पारिभाषिक शब्द	...	२२
अध्याय ५		
आदि संस्थाएँ	...	४८
अध्याय ६		
महाभारत मे जनतंत्र	...	६७
अध्याय ७		
पाणिनि कालीन जनतंत्र	...	१०९
अध्याय ८		
बौद्ध साहित्य में जनतंत्र	...	१३२
अध्याय ९		
जैन साहित्य में जनतंत्र	...	१६०
अध्याय १०		
अर्थशास्त्र में जनतंत्र	...	१७०
अध्याय ११		
यूनानी साहित्य में हिन्दू-जनतंत्र	...	१८३
अध्याय १२		
मौर्यकाल में जनतंत्र	...	१९९
अध्याय १३		
शुंगकाल में जनतंत्र राज्य और उनका अन्त	...	२१०

अध्याय १४

जनतंत्र राज्यों की शासन-व्यवस्था का सर्वेक्षण २२१

अध्याय १५

जनतंत्र की हिन्दू राजनीति और राज्यदर्शन को देन २४५

अध्याय १६

उपसंहार २५८

ग्रन्थ सूची २६७

अध्याय १

विषय का महत्त्व

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर भारतीय विद्वान् भी बहुधा यह मानते थे कि भारतवर्ष में जनतंत्र शासन-प्रणाली केवल छोटे-छोटे कबीलों में थी। डाक्टर काशी प्रसाद जायसवाल ने अपनी गवेषणा से सिद्ध किया है कि भारतवर्ष में जनतंत्रात्मक शासन-प्रणाली अनेक राज्यों में विकसित रूप धारण कर चुकी थी और प्राचीन भारतीय विद्वानों को जनतंत्र शासन के अनेक रूपों का ज्ञान था। उसके बाद अनेक विद्वानों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने इस दिशा में कुछ नयी गवेषणाएँ कीं तथा डा० जायसवाल के विचारों के पक्ष और विपक्ष में अपने मत प्रतिपादित किये।

अब तक विद्वानों की प्रायः यही धारणा बनी हुई है कि भारतवर्ष में राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम राजतंत्रात्मक रूप में हुई थी। कालान्तर में कुछ समय के लिए जनतंत्र की लहर चली थी। कुछ छोटे-छोटे राज्य राजतंत्र से जनतंत्र में परिणत होते हुए दिखाई दिये थे, परन्तु भारतीय प्राचीन विद्वानों का झुकाव प्रायः राजतंत्र की ओर ही रहा है। प्राचीन भारत के शासन का प्रचलित रूप राजतंत्र ही था ।[1]

हमारे विचार से ये धारणाएँ भ्रमात्मक हैं। इसलिए हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि **भारतीय विद्वानों ने सर्वप्रथम जनतंत्र शासन की ही कल्पना की थी। भारत में राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतंत्र के रूप में ही हुई थी, और वैदिक काल में ही जनतंत्र का रूप पूर्णतः विकसित हो चुका था। कालान्तर में जनतंत्र शासन में कुछ दोष उत्पन्न हो गये, इस कारण जनतंत्र के रूप में कुछ परिवर्तन करने पड़े और शासन का रूप जनतंत्र से राजतंत्र की ओर झुका।** । बहुत काल तक जनतंत्र और राजतंत्र समानान्तर चलते रहे, परन्तु समय और परिस्थितियों के प्रभाव से दोनों के रूपों में शनैः-शनैः कुछ परिवर्तन भी होते रहे, यहां तक कि दोनों के रूपों

---

१. डा० ए० एस० अलटेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १.

में जनसाधारण के लिए बहुत कम अन्तर रह गया, अपितु जनतंत्र की अपेक्षा राजतंत्र अधिक हितकर दिखाई देने लगा। इसी कारण जनतंत्र का लोप हो गया।

भारतीय इतिहास से जनतंत्रीय शासन का लोप हो जाने पर भी भारतीय जनता के हृदय से जनतंत्रीय भावना का लोप न हो सका। यही कारण है कि बहुधा राजतंत्रीय शासक भी जनता की स्वीकृति से ही पदारूढ़ होने में अपना गौरव समझते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों में वर्णित राज्याभिषेक के अवसर पर विभिन्न वर्णों और वर्गों के प्रतिनिधियों की उपस्थिति इसका प्रमाण है। यही नहीं, अपितु जूनागढ़ के शिलालेख में रुद्रदामन के निर्वाचन का संकेत मिलता है, और एपिग्राफिया इण्डिका ४ में गोपाल के निर्वाचन का उल्लेख है। ग्राम–शासन का जनतंत्रीय रूप तो तेरहवीं शताब्दी तक के शिलालेखों से सिद्ध होता है।[1] महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी के कठिन संघर्षों की सफलताओं का कारण यही था कि जनता के हृदय में उस समय भी स्वतंत्रता की भावना उत्तेजित हो रही थी। सन् १८५७ की क्रान्ति को भी इसी भावना ने जन्म दिया था और अन्त में सन् १९४७ में कठिन और दीर्घकालीन संघर्ष के बाद इसी भावना ने सफलता प्राप्त कर पुनः देश को जनतंत्रीय शासन का रूप दिया।

परन्तु भारतीय जनतंत्रीय शासन का अपना निजी रूप था और उसके संगठन तथा निर्वाचन की निजी प्रणाली थी। अतः उसका अध्ययन हमारे वर्तमान गणराज्य के शासन में बहुत कुछ उपयोगी और लाभदायक सिद्ध हो सकता है। यद्यपि वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियों में हम उसको प्राचीन रूप में ही नहीं अपना सकते, तथापि उसके अध्ययन से हमको नई प्रेरणा और नई विचारधारा मिलती है, जो कि पाश्चात्य राजनीति के विद्वानों को वर्तमान प्रचलित विचारधारा पर पुनः विचार करने के लिए बाध्य करती है। इसलिए प्रस्तुत विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है, और हमारी वर्तमान परिस्थितियों में इसका महत्व और भी बढ़ जाता है।

दृष्टिकोण

किसी भी तथ्य को ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से देखने में अन्तर है। ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्य के बाहरी रूप पर बल दिया जाता है, परन्तु राजनीतिक दृष्टि उस तथ्य के कारणभूत विचारों की खोज करने का लक्ष्य रखती है। किसी लेख का ऐतिहासिक महत्त्व कुछ न होते हुए भी, राजनीतिक महत्त्व बहुत कुछ हो सकता है।

---

१. चोल वंश के शिलालेख।
उत्तरमेरूर के शिलालेख।
आरक्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया एन्यूअल रिपोर्ट १९०४–५, पृष्ठ १३१–१४५

इसलिए हमने इसी दृष्टिकोण से प्राचीन राजनीतिक विचारधारा को प्रस्तुत करना ही अपना लक्ष्य रखा है। आवश्यकतानुसार ऐतिहासिक तथ्यों को सूक्ष्म रूप में और अधिकांशत: बिना आलोचना के ही रखा गया है, क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यों के बाहरी रूप में कुछ अन्तर रहते हुए भी, उनके गर्भ में विचारधारा बहुधा अपरिवर्तित ही रहती है।

हमने भारतीय लेखकों में बहुधा भारतीय विचारों को पाश्चात्य विचारों के रूप में प्रदर्शित करने की प्रबल भावना देखी। इसी भावना से प्रेरित होकर कुछ विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति के पाश्चात्य सिद्धान्तों और शासन के पाश्चात्य रूपों को भारतीय विचारधारा में थोपने का प्रयास किया है। परन्तु देश और काल का प्रभाव मनुष्य के विचार पर बहुत अधिक पड़ता है। यूनान के भूगोल ने यूनान में नगरराज्यों की स्थापना में सहायता की थी परन्तु भारतवर्ष का भूगोल उससे सर्वथा विपरीत होने के कारण भारत में नगरराज्य किसी समय भी स्थापित नहीं हुए थे। यहां की आबादी में ग्रामों का प्रमुख भाग रहा है और विचारों की बहुत कुछ समता रही है, यहां के प्राचीन विद्वान् वेदों से उत्प्रेरित होते रहे हैं इसलिए यहां की राजनीति में स्वच्छन्द शासक भले ही विधियों का उल्लंघन कर जाये, परन्तु वह ऐसा करने की घोषणा करने का साहस नहीं करता था। विधि की प्रधानता सिद्धान्त रूप में सर्वत्र मानी जाती थी, और विधि की उत्पत्ति को आरम्भ से ही राज्य के क्षेत्र से बाहर समझा जाता रहा है।

इसलिए हमारा प्रयास प्राचीन भारतीय विचारों को उनके शुद्ध रूप में प्रदर्शित करने का रहा है।

क्षेत्र

भारत में जनतंत्र-शासन आदिकाल से आरम्भ होकर लगभग पांचवीं शताब्दी ईसवी में लुप्त हो जाता है। परन्तु इतने समय में भी हमको जनतंत्रात्मक शासन के विचारों और रूपों में अनेक परिवर्तन दिखाई देते हैं। इसलिए इस विषय के विभाजन में हमने इन परिवर्तनों पर विशेष ध्यान रखा है। वैदिक काल में जो स्वरूप जनतंत्रात्मक शासन का मिलता है, महाभारत काल से उसमें बहुत भिन्नता आ जाती है। बौद्धकाल में उसके रूपों में पुन: परिवर्तन दिखाई देते हैं। मौर्यकाल में तथा उसके पश्चात् जनतंत्र-शासन का जो स्वरूप हमारे सामने आता है, उसमें तथा राजतंत्र में बहुत कम भेद रह जाता है। अतः हमने अपने विषय को इसी क्रम से विस्तृत करने का प्रयास किया है।

लेखन पद्धति

हमको अपने विषय पर विचार करने के लिए विभिन्न स्थानों पर विभिन्न पद्धतियों को अपनाना पड़ा है। आदिकालीन मानव-विकास को समझने के लिए

विशेषतः मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करना पड़ा है। वैदिक और पौराणिक साहित्य में मुख्यतः परोक्षवादी शैली को अपनाया गया है, इसलिए इनके वास्तविक तात्पर्य के समझने के लिए हमको विश्लेषणात्मक पद्धति अपनानी पड़ी है। व्याकरणाचार्यों ने राजनीतिक तथ्यों पर प्रकाश केवल सांकेतिक भाषा में डाला है। इसलिए उनके भावों को समझने के लिए मुख्यतः विवेचनात्मक पद्धति से काम लेना आवश्यक समझा गया। भारतीय प्राचीन साहित्य में राजनीतिक विषयों को पृथक् रूप से लिखने का प्रयास बहुत कम किया गया है। बहुधा उसमें धार्मिक और सामाजिक विषयों का मिश्रण पाया जाता है। इस मिश्रण के कारण राजनीतिक विचार बहुधा इतने दबे हुए मिलते हैं कि उनको विस्तृत करने में तुलनात्मक पद्धति का सहारा लेना भी अनिवार्य हो जाता है। साथ ही यहां आधुनिक विद्वानों के विभिन्न विचारों की समालोचना करके अपने विचारों को स्पष्ट करने का प्रयास भी किया गया है और यथावश्यक आलोचनात्मक पद्धति की सहायता लेना भी उचित समझा गया।

इसलिए यह कहना उचित होगा कि अपने विषय को अधिकतम स्पष्ट करने के लिए जहां पर जैसी आवश्यकता पड़ी, वहां पर उस पद्धति को अपनाने का प्रयत्न किया गया है।

इस बात का भी यथासम्भव प्रयत्न किया गया है कि किसी ग्रन्थ के लेख की व्याख्या और विवेचन में, उसी ग्रन्थ अथवा समकालीन अन्य ग्रन्थों से ही प्रमाण एकत्र किये जायं।

अध्याय २

जनतंत्रीय शासन के अस्तित्व के प्रमाण

जनतंत्रीय शासन का अस्तित्व प्राचीन साहित्य में स्पष्ट दिखाई देता है, अपितु वैदिक साहित्य में तो राज्य का केवल जनतंत्रीय रूप ही मिलता है। धर्मसूत्रों में राज्य सम्बन्धी जो विवरण मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि उस काल में राज्य का रूप जनतंत्रीय था या राजतंत्रीय। परन्तु महाभारत में गणराज्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। बौद्ध और जैन धार्मिक साहित्य तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी जनतंत्र राज्यों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। कुछ शिलालेख और सिक्के भी इनका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, यूनानी लेखकों ने भी इनके अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण दिये हैं।

स्रोत

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारा को जानने के लिए, हमको प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का विश्लेषण करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि बहुत काल तक भारतीय विचारधारा में राजनीति को धर्म का ही अंग मानते रहे हैं। इसलिए जिन विभिन्न स्रोतों में प्राचीन राजनीतिक विचारधारा मिलती है, उन पर पृथक्-पृथक् दृष्टि डालना उचित है।

(१) ब्राह्मणों के धार्मिक ग्रन्थ

भारतीय साहित्य में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद हैं और वेदों में भी सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। अतः आर्यों के सामाजिक विकास का प्रथम स्वरूप ऋग्वेद में मिलता है, परन्तु राजनीति की दृष्टि से इसमें अधिक सामग्री उपलब्ध नहीं, इसलिए ऋग्वेद में जो कुछ उपलब्ध है, उसको स्पष्ट करने के लिए अन्य वैदिक ग्रन्थों की सहायता लेना अनिवार्य हो जाता है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में राजनीतिक विषय की अपेक्षाकृत अधिक सामग्री मिलती है, और इनकी सहायता से आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक संगठन का विकासक्रम स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि यजुर्वेद और अथर्ववेद, ऋग्वेद के बाद लिखे गये हैं और उनके लिखने के समय में पर्याप्त अन्तर सम्भव है, तथापि उनमें निहित विचारधारा कहीं भी ऋग्वेद के विचारों की विरोधी नहीं है, अपितु उनकी पूरक ही प्रतीत होती है। सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में ऋग्वेद के मंत्रों का

पर्याप्त संख्या में पाया जाना, यह स्पष्ट करता है कि इनकी विचारधारा ऋग्वेद के विचारों की विरोधी नहीं, अपितु पूरक है। इसलिए एक साथ चारों वेदों की सामग्री से तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक विकास को जानने का प्रयत्न करना अनुचित नहीं।

सामवेद में ७५ मंत्रों के अतिरिक्त शेष सभी मंत्र ऋग्वेद के हैं, और मौलिक मंत्र भी राजनीतिक महत्व के नहीं हैं। यजुर्वेद में भी मौलिक मंत्रों के अतिरिक्त बहुत से मंत्र ऋग्वेद के मिलते हैं। यजुर्वेद १४–१३ में कहा गया है कि पूर्व दिशा में राज्ञी, दक्षिण दिशा में विराट्, प्रतीची दिशा में सम्राट्, उदीची दिशा में स्वराट् और बृहती दिशा में अधिपत्नी है।[1] राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराट् और अधिपत्नी अवश्य ही राज्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द प्रतीत होते हैं और इनमें से प्रत्येक की व्याख्या यजुर्वेद १५–१०, १५–११, १५–१२, १५–१३, और १५–१४ में क्रमशः की गयी है। इन मंत्रों में राज्ञी का अधिपति वसुगण, विराट् का अधिपति रुद्रगण, सम्राट् का अधिपति आदित्यगण, स्वराट् का अधिपति मरुद्गण और अधिपत्नी का अधिपति विश्वेदेवगण बताया गया है, साथ ही प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन भी है। परन्तु इनका सही तात्पर्य निकालना पृथक् गवेषणा का विषय है। ऐतरेय ब्राह्मण में भी साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, महाराज्य, आधिपत्यमय और समन्तपर्यायी राज्यों का उल्लेख है।

अथर्ववेद में भी ऋग्वेद के बहुत से मंत्र मिलते हैं। यह चारों वेदों में अन्तिम वेद है। हमने अध्याय पांच में वेदों में निहित राजनीतिक विचारधारा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जो कि पूर्णतः जनतंत्रीय प्रतीत होती है।

कालान्तर में वेदों के अध्ययन पर विभिन्न विचारधाराएं सूत्रों के रूप में प्रकट हुईं, जिनका विभाजन विषयों के आधार पर तीन भागों में किया गया है––श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। श्रौतसूत्रों में यज्ञ सम्बन्धी, गृह्यसूत्रों में गृहस्थ सम्बन्धी और धर्मसूत्रों में विधि और वर्णाश्रम धर्म आदि विषय संगृहीत हैं।

श्रौतसूत्रों में राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञादि के वर्णन से तत्कालीन राजनीतिक अवस्था का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। पारस्कर गृह्यसूत्र १–८–१३ के अनुसार ग्राम को स्थानीय मामलों में पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी। पराशर गृह्यसूत्र १–६८ में राज्यप्राप्ति में शक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। धर्मसूत्रों में राजनीतिक विषय की अधिक सामग्री प्राप्त होती है, उनमें वर्णाश्रम धर्म का पूर्ण

---

१. **राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक्॥ यजुर्वेद १४–१३ ।**

रूप मिलता है। वे राज्य को अधिकार देते हैं कि वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का उल्लंघन करने वाले को दण्ड दिया जाय। इस प्रकार मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में राज्य का हस्तक्षेप आरम्भ हो जाता है और राज्य का क्षेत्र बढ़ जाता है।

धर्मसूत्रों में अपराधी को दण्ड देने की दो प्रकार की व्यवस्था मिलती है, अपराधी स्वयम् अपने पापकर्म पर पश्चात्ताप करते हुए तप द्वारा अपने पापकर्म के दुष्परिणाम से विमुक्त हो जाय, (२) राज्य की ओर से अपराधी को दण्ड दिया जाय। उपर्युक्त पहली व्यवस्था से विदित होता है, कि कर्मफल के सिद्धान्त पर जनता का पूर्ण विश्वास था और अनजाने में अपराध हो जाने पर भी मनुष्य स्वयम् तप द्वारा कष्ट भोगकर पापकर्म के फल से विमुक्त होना उचित समझते थे।

गौतम-धर्मसूत्र में आपद्-धर्म का भी विवरण मिलता है, जिसके अनुसार आपत्तिग्रस्त व्यक्ति अपने वर्ण से निम्न वर्ण के कर्म भी कर सकता था। इससे विदित होता है, परिवर्तित परिस्थितियों के प्रभाव से वर्णाश्रम धर्म का उल्लंघन होने लगा था। शूद्र-वृत्ति के विवरण से विदित होता है कि शूद्रों की दशा दासों के समान ही थी।

गौतम-धर्मसूत्र के ग्यारहवें अध्याय में राजा और राज्य सम्बन्धी विवरण मिलता है, परन्तु हमको इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि उसमें उल्लिखित राजा जनतंत्र का शासक था या राजतंत्र का। न्याय के क्षेत्र में अवश्य ही जनतंत्रीय व्यवस्था दिखाई देती है, क्योंकि इसके अनुसार स्थानीय, क्षेत्रीय और आर्थिक संस्थाओं की विधि राज्य को मान्य होती थी।

बौधायन धर्मसूत्र में विधि के तीन स्रोत बताये गये हैं—वेद, स्मृतियाँ और शिष्ट पुरुषों का अनुकरण। विवादग्रस्त विधि की व्याख्या दस व्यक्तियों की परिषद् द्वारा की जानी चाहिए, जिसमें चार व्यक्ति वेदों के ज्ञाता हों, एक मीमांसक हो, एक अंगों का विद्वान् हो, एक पौराणिक हो और तीन ब्राह्मण हों। इनकी अनुपस्थिति में विधि की व्याख्या पाँच, तीन अथवा एक शुद्ध विद्वान् कर सकता था, परन्तु मूर्ख हजार व्यक्तियों की सम्मति अमान्य होती थी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू राज्यदर्शन कुछ विशेष गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों को ही मताधिकार देने के पक्ष में है। स्थानीय प्रथाओं और नियमों को यह सूत्र भी मान्य मानता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार देश–काल के प्रभाव से विधि परिवर्तित होती रहती है इसलिए कोई भी विधि सनातन नहीं कही जा सकती। अन्य धर्मसूत्रों के समान ही, यह भी स्थानीय शासन को बहुत कुछ स्वतंत्रता देता है।

अन्य धर्मसूत्रों में भी लगभग समान राजनीतिक विचारधारा प्राप्त होती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सूत्रों में राजा और राज्य सम्बन्धी जो विचार मिलते

हैं उनसे यह स्पष्ट नहीं है कि वे जनतंत्रीय शासन से सम्बन्धित हैं अथवा राजतंत्रीय, क्योंकि दोनों प्रकार के शासकों को राजा ही कहा जाता था। यद्यपि राजा का वर्णन यह विचार उत्पन्न करता है कि वह राजा राजतंत्रीय शासन का था, परन्तु स्थानीय शासन और न्याय-व्यवस्था जनतंत्रीय शासन की ओर संकेत करती है। हमारे विचार से वैदिककालीन जनतंत्रीय शासन से सूत्रकाल में राजतंत्र के कुछ लक्षण आते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि राजा के अधिकारों में कितनी वृद्धि हो चुकी थी।

रामायण में केवल राजतंत्रीय शासन का ही वर्णन मिलता है, यद्यपि उसमें राजपद वशांनुक्रमिक होने के अतिरिक्त शासन में जनतंत्रीय भावना का सर्वत्र आदर किया गया है।

महाभारत में यद्यपि अनेक राजनीतिक विचारधाराएँ मिलती हैं परन्तु अधिकांश विवरण राजतंत्र से सम्बन्धित प्राप्त होता है। इसलिए ऐसा विदित होता है कि महाभारत काल तक राजनीतिक विचारधारा का प्रवाह जनतंत्र से राजतंत्र की ओर बहुत कुछ बढ़ चुका था। जनतंत्रीय विचारधारा और गणराज्यों का वर्णन जो शान्तिपर्व में मिलता है, उससे भारतीय विचारधारा के जनतंत्र से राजतंत्र की ओर झुकने के कारणों का अनुमान किया जा सकता है।

धर्मसूत्रों के बाद धर्मशास्त्रों का निर्माण हुआ। धर्मशास्त्रों अथवा स्मृतियों में मानव-जीवन से सम्बन्धित धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी प्रकार की विधियों को संगृहीत करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि स्मृतियों में वैदिकधर्म की विधियों का संग्रह ही माना जाता है तथापि काल के प्रभाव से उनके विचारों में भिन्नता आ जाना स्वाभाविक ही था। इसलिये पूर्वमीमांसा में कहा गया है कि स्मृतियों के दो विरोधी विचारों में वह विचार माना जायगा जो श्रुति द्वारा प्रमाणित हो। पुनश्च स्मृति के विचार श्रुति के अविरुद्ध होते हुए भी, यदि अनुचित सिद्धान्त के पोषक हों तो अमान्य होंगे। परन्तु जैमिनि अपने मीमांसा सूत्र में कहते हैं कि श्रुति अथवा स्मृति द्वारा अप्रमाणित स्थानीय प्रथाओं के आधार पर विधि निर्माण नहीं हो सकता। इसके विपरीत स्कन्दपुराण में कहा गया है कि जहां पर श्रुति और स्मृति मौन हों वहां कुल तथा देश की प्रथाओं पर धर्म का निश्चय होना चाहिये।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में स्मृतियों में उल्लिखित विधियों तथा कुल और देश की प्रथाओं को राज्य द्वारा मान्यता दी जाती थी। इस प्रकार विधि निर्माण का कार्य अधिकांशतः राज्य के क्षेत्र से बाहर था।

स्मृतियों में सबसे प्रसिद्ध और मान्य मनुस्मृति है। मनु ने जीवन-सम्बन्धी सभी विषयों पर विचार व्यक्त किये हैं क्योंकि उनके मतानुसार धर्म, अर्थ और काम

के सहयोग में ही मानवहित है। मनुस्मृति में वर्णधर्म और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर विशेष बल दिया गया है। मनु के अनुसार श्रुति और स्मृतियों के अतिरिक्त विधि के स्रोत शिष्ट पुरुषों का अनुकरण और आत्मतुष्टि भी हैं। धर्मावलम्बी द्विजों का व्यवहार कुल, जाति और देश-धर्म के अविरुद्ध होने पर ही मान्य है।

मनुस्मृति के आधार पर अन्य कई स्मृतियाँ लिखी गई हैं, यथा याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णुस्मृति, अत्रिस्मृति, हारीतस्मृति, औशनसस्मृति, अंगिरास्मृति, यमस्मृति, आपस्तंबस्मृति संवर्तस्मृति, कात्यायनस्मृति, पराशरस्मृति, व्यासस्मृति, शंखस्मृति, दक्ष-स्मृति, गौतमस्मृति, वसिष्ठस्मृति आदि, जिनमें अल्प परिवर्तनों के साथ मनुस्मृति के विचार ही निहित हैं। याज्ञवल्क्य ने विधि के १४ स्रोत माने हैं--पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः अंग और चार वेद। इनके अतिरिक्त मनु के समान ही याज्ञवल्क्य भी आत्मतुष्टि को विधि का स्रोत मानते हैं, और कुल, जाति तथा श्रेणी के धर्म को भी मान्यता देते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार परस्पर विरोध होने पर विधि की व्याख्या एक परिषद् के द्वारा होनी चाहिये, जिसके सदस्य वेद, धर्म तथा तीनों विद्याओं के पंडित हों।

(२) बौद्ध धर्म का साहित्य

बौद्ध साहित्य तीन भागों में विभाजित है--१–सुत्त, २–विनय और ३–अभिधम्म। इन तीनों को त्रिपिटक कहते हैं। सुत्त में पाँच निकाय सम्मिलित हैं--१–दिघ्घ, २–मज्झिम, ३–संयुत्त, ४–अंगुत्तर और ५–खुद्दक। विनय पिटक में भी पांच ग्रन्थ सम्मिलित हैं--१–पातिमोक्ख, २–महावग्ग, ३–चुल्लवग्ग, ४–सुत्तविभंग और ५–परिवर। इनमें बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिये नियम दिये गये हैं। हेरिस डेविड्स और ओल्डनबर्ग के मतानुसार विनय और सुत्त चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व में लिखे गये थे। परन्तु सिलवेन लेवी तथा अन्य विद्वानों के मतानुसार बौद्ध धर्म का साहित्य अशोक के बाद ही लिखा गया था और द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व से पहले का नहीं हो सकता।

खुद्दक निकाय में जातकों की कथाएं सम्मिलित हैं। कहा जाता है कि अशोक के शासन काल में महिन्द इन कथाओं को सिंहल द्वीप ले गया था। वहां उनका पाली से सिंहली में अनुवाद किया गया था। पांचवीं शाताव्दी ईसवी में बुद्धघोष ने उनका पुनः सिंहली से पाली में अनुवाद किया था। इस प्रकार जिस रूप में जातक-कथाएं अब उपलब्ध हैं, वह उनका बुद्धघोषकृत अनुवाद है। कीथ के मतानुसार जातक-कथाएं कुछ मौर्य काल से पहले की हैं और कुछ मौर्यकाल के बाद की। जातक कथाएं २२ निपातों में विभाजित की गई हैं। परन्तु यह विभाजन विषय की दृष्टि से नहीं किया गया है। प्रथम निपात में १५० कथाएं और द्वितीय निपात में १०० कथाएं हैं तथा

अन्य निपातों में और भी कम हैं। बनारस का राजा ब्रह्मदत्त अनेक कथाओं में उल्लिखित है। यद्यपि यह ग्रन्थ मुख्यतः धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे गये हैं, तथापि इनमें तत्कालीन राजाओं, मंत्रियों और कुछ राजकार्यों का वर्णन मिलता है। इसलिये तत्कालीन जनतंत्रीय राज्यों के सम्बन्ध में इनसे कुछ विवरण और निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(३) जैन धार्मिक साहित्य

जैन धार्मिक साहित्य में बारह अंग, बारह उपांग, दस पयण, छः वेद-सूत्र—नन्दी और अनुयोग तथा चार मूल सूत्र हैं। उपर्युक्त ग्रन्थ केवल श्वेताम्बरों के हैं। इनमें से अंग के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की सूची और शीर्षक विभिन्न रूपों में प्राप्त होते हैं। कहीं पर नन्दी, अनुयोग और पंचकप्प को पयण के प्रथम दिखाया गया है।

कल्पसूत्र में महावीर का जीवन चरित्र, गणधरों का संक्षिप्त विवरण और गण, कुल, शाखा आदि की सूची है। भगवती सूत्र में प्रश्नोत्तर के रूप में महावीर का चरित्र, उनके शिष्यों तथा तत्कालीन कुछ राजाओं और राजपुत्रों का भी विवरण है। इसमें महावीर और उनके शिष्य इन्द्रभूति के प्रश्नोत्तर का उल्लेख है। थनंग सूत्र में महावीर से प्रभावित आठ राजाओं का वर्णन है। उवसावगदशक में महावीर के दस शिष्यों का विवरण है। आचारंग सूत्र, कृतंग और उत्तराध्ययन में जैन साहित्य के प्राचीनतम रूप का वर्णन है।[1]

उत्तराध्ययन का बहुत कुछ वर्णन जातकों और महाभारत से साम्य रखता है। राजा नेमि की कथा जातकों की अनेक कथाओं से मिलती है, जिनमें सन्यासी के आदर्शों का दिग्दर्शन कराया गया है। हरिकेश की कथा मतंगजातक की कथा से मिलती है। चित्र, सम्भूत और इषुकार के अध्याय चित्तसम्भूत जातक और हत्तिपाल जातक की कथाओं से मिलते हैं, जैन श्रुति के अनुसार महावीर के शिष्य गणधरों ने महात्मा महावीर के शब्दों को अंगों और उपांगों में संगृहीत किया है।

कुछ कारण ऐसे भी हैं जिनसे उपलब्ध जैन साहित्य की मौलिकता में सन्देह उत्पन्न होता है। एक ही ग्रन्थ के विभिन्न नाम मिलना तथा ग्रन्थ संख्या में अन्तर इस सन्देह को पुष्ट करता है। प्रसिद्ध व्याख्याकार सिलंक, मलयागिरि और अभयदेव विभिन्न वचन-भेदों का संकेत करते हुए लिखते हैं कि बहुत से सूत्र गल गये थे और बहुत से दुर्लक्ष्य हो गये थे। नन्दी के अनुसार नयधम्मकह में साढ़े तीन करोड़ पद हैं जब कि उपलब्ध ग्रन्थ में केवल बीस अध्याय हैं। यही बात भगवती सूत्र के विषय में भी

१. जेकोबी एण्ड विण्टरनिट्ज—पृष्ठ ४३१

कही जा सकती है। आचारंग सूत्र का सातवां अध्याय महापरिन्न अप्राप्य है। इसी प्रकार पयणों का कुछ भाग लुप्त है ।

विण्टरनिट्ज ने इसी प्रकार की त्रुटियों की खोज के आधार पर उपर्युक्त ग्रन्थों की मौलिकता में सन्देह किया है । परन्तु उनके मतानुसार जो कुछ उपलब्ध है वह अपरिवर्तित प्रतीत होता है ।

जैन मूल ग्रन्थों की व्याख्या नियुक्तियों (निज्जुत्ति) में की गई थी । इन नियुक्तियों में अनेक ऐतिहासिक और उपन्यासात्मक गाथाएं हैं। ये नियुक्तियाँ दस हैं– आचारंग, सूपगदंग, सूपपन्नति, उत्तराध्ययन, अवस्सय, दशकेयलिय, दसासुयवखण्ड, कप्प, व्यवहार और इसिभासिय। जैन साहित्य के मूल ग्रन्थों की व्याख्या के रूप में नियुक्तियों के बाद भाष्य, चुन्नी, टीका आदि ग्रन्थ मिलते हैं। व्यवहार भाष्य में न्याय की अनेक गाथाएँ मिलती हैं, जिनसे विदित होता है कि कभी-कभी छोटी-छोटी बातों के लिये भी लोग न्यायालय में पहुँच जाते थे । कभी-कभी राजा छोटे अपराधों के लिये भी कठोर दण्ड दे देता था, और कभी-कभी बिना पूरी जानकारी प्राप्त किये भी राजा आज्ञा दे देता था।

आदि पुराण में राज्य की उत्पत्ति का कारण मत्स्य-न्याय से बचने के लिये ही बताया गया है। उद्दण्ड व्यक्ति बिना कठोर दण्ड के दुष्टता नहीं छोड़ सकते, अतः राज्य आवश्यक है। परन्तु वह राज्य को मानव-कृत ही मानता है, उसके मतानुसार मनुष्य के सुखी जीवन के लिये आर्थिक या राजनीतिक संस्थाएँ अनिवार्य नहीं हैं। जैन साहित्य के अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी अनुबन्ध द्वारा भी नहीं हुई अपितु जनता की आवश्यकता पूर्ति और पथप्रदर्शन के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई ।

उत्तरपुराण में ऋषभदेव के बाद के २३ तीर्थंकरों तथा राजाओं और सामन्तों की गाथाएँ हैं। इसमें किसी नवीन राजनीतिक विचारधारा का समावेश नहीं है। हरिवंशपुराण में सभी संस्थाओं की उत्पत्ति ऋषभदेव से मानी गयी है। पद्मपुराण में भी कोई नवीनता नहीं है।

नयधम्मकह में बन्दीगृह की कुछ गाथाएँ मिलती हैं जो सिद्ध करती हैं कि तत्कालीन बन्दीगृहों में बन्दियों के साथ कठोरता का व्यवहार होता था। कुछ गाथाओं से विदित होता है कि राजा को भेंट आदि से पर्याप्त आय होती थी। जब कोई व्यक्ति किसी कार्यवश राजा के सम्मुख उपस्थित होता था, कुछ भेंट अवश्य लेकर जाता था।

(४) विदेशी यात्रियों के लेख

विदेशी यात्रियों के लेखों में हमारे विषय से सम्बन्धित सामग्री सिकन्दर के साथी यूनानी लेखकों से प्राप्त होती है। सिकन्दर के आक्रमण-काल में अथवा उसकी मृत्यु के कुछ समय बाद, लगभग १९ यूनानी लेखकों ने भारतवर्ष का कुछ न कुछ वर्णन

किया है। पेट्रोक्लेस के अनुसार सिकन्दर ने अपने साथी विद्वान् लेखकों को भारत का वर्णन लिखने की आज्ञा दी थी। वह वर्णन सिकन्दर के कोषाध्यक्ष जेनीक्लेस ने उसे समर्पित किया था।[1] परन्तु वे सब मौलिक लेख नष्ट हो गये। इन लेखों के आधार पर उपलब्ध सामग्री से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तथा प्रथम शताब्दी ईसवी में कुछ लेखकों ने भारत का वर्णन पुनः लिखा। इन लेखकों में से स्ट्रेबो और डायोडोरस प्रथम शताब्दी ईसवी के आरम्भ में, क्विन्टस कर्टियस और प्लूटार्क प्रथम शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में और एरियन प्रथम शताब्दी ईसवी के अन्त में हुए। प्लिनी ने प्रथम शताब्दी ईसवी में इन्साइक्लोपीडिया हिस्टोरिया नेचुरैलिस तथा टोलेमी ने ज्योगरैफिक हाइफेगेसिस लिखी। इन लेखकों ने भारत के सम्बन्ध में तत्कालीन प्रचलित उक्तियों से अधिकांश सामग्री ली थी। कहीं-कहीं इन लेखकों के परस्पर विरोधी लेख भी मिलते हैं। स्वयं स्टरेबो ने इन लेखों की सत्यता में सन्देह प्रकट किया था।

चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में मेगस्थनीज़ कुछ समय तक रहा था। उसने भी तत्कालीन भारत की राजनीतिक अवस्था का बहुत कुछ वर्णन किया था। मेक क्रिण्डल ने उपर्युक्त लेखों के आधार पर अंग्रेजी में कई ग्रन्थ लिखे हैं, यथा एन्शियण्ट इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, एन्शियण्ट इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, इनवेज़न आफ इण्डिया बाई एलेग्ज़ेण्डर दि ग्रेट एज़ डिस्क्राइब्ड बाई एरियन, क्विण्टस कर्टियस, डायोडोरस, प्लूटार्क और जस्टिन इत्यादि।

उपर्युक्त यूनानी लेखकों के अतिरिक्त फाह्यान और युआन-च्यांग जैसे चीनी यात्रियों ने भी प्राचीन भारत का विवरण दिया है। यद्यपि फाह्यान ने गुप्तकाल के राजतंत्र का वर्णन किया है, तथापि उसने तत्कालीन राजतंत्र की जो प्रशंसा की है उससे गुप्तकाल में जनतंत्रीय राज्यों के लोप होने के कारणों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। युआन-च्यांग भारत में सातवीं शताब्दी में आया था जब कि भारतीय इतिहास से प्राचीन जनतंत्रीय राज्यों का लोप हो चुका था। उसके विश्वसनीय विस्तृत वर्णन से प्रस्तुत विषय में कोई सहायता नहीं मिलती।

(५) ऐतिहासिक सामग्री

प्राचीन भारतीय विद्वानों का लक्ष्य मानव उत्थान की ओर अवश्य था, परन्तु वे मनुष्य का वास्तविक उत्थान उसके आध्यात्मिक विकास में मानते थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, वह देश और जाति का इतिहास न होकर मुख्यतः धर्म का इतिहास प्रतीत होता है। अतः प्राचीन भारत में हमको आधुनिक अर्थ में ऐतिहासिक

---

१. स्ट्रेबो ४, मेक क्रिन्डल, इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृष्ठ ९५।

ग्रन्थ नहीं मिलते। इसलिए प्राचीन भारत का इतिहास लिखने में इतिहासकारों ने धार्मिक ग्रन्थों, विदेशी लेखों, शिलालेखों और उपलब्ध सिक्कों से सामग्री एकत्र की है।

अशोक ने अपनी नीति और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शिलालेखों का प्रयोग किया था। उसके बाद अन्य शासकों ने भी शिलालेखों के प्रयोग की ओर ध्यान दिया। इस प्रकार मौर्यकाल और उसके बाद के इतिहास का निर्माण करने में शिलालेख सहायक सिद्ध हुए।

अशोक के शिलालेख ५ और १३ में कई जनतंत्रीय राज्यों का उल्लेख है। समुद्रगुप्त के शिलालेखों में मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, प्रार्जुन, काक, आभीर, खरपरिक, सनकानिक आदि अनेक जनतंत्रीय राज्यों का उल्लेख मिलता है। इनमें से बहुत से राज्य तो ऐसे हैं जिनके अस्तित्व के प्रमाण अन्य प्राचीन स्रोतों से भी उपलब्ध होते हैं परन्तु कुछ राज्य बिल्कुल नये प्रतीत होते हैं। यौधेयों का उल्लेख भरहुत के शिलालेख में तथा रुद्रदामन के द्वितीय शताब्दी के शिलालेख में भी मिलता है। बलश्री के शिलालेख में कुकरों का उल्लेख है। स्कन्दगुप्त ने अपने शिलालेख में पुष्यमित्रों का उल्लेख किया है।

उपलब्ध सिक्कों से भी अनेक जनतंत्रीय राज्यों के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। सिक्कों पर अंकित अंकों और लक्षणों से सम्बन्धित राज्य की प्रकृति का अनुमान हो जाता है। यौधेयों के सिक्कों पर 'यौधेयगणस्य जय' मालव सिक्कों पर 'मालव गणस्य' तथा वृष्णियों के सिक्कों पर 'वृष्णि-राजन्य-गणस्य त्रातस्य' लिखा हुआ मिलता है। जनतंत्रीय राज्यों के उपलब्ध अधिकांश सिक्कों का समय इतिहासकारों ने द्वितीय शताब्दी ईसवी तक माना है। इस काल के अन्य जनतंत्रीय राज्यों, शिबि, महाराज जनपद, राजन्य महमित, औदुम्बर आदि के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं।

(६) राजनीतिक लेख

प्राचीन ग्रन्थों में राज्यशास्त्र का प्रसिद्धतम ग्रन्थ है कौटिलीय अर्थशास्त्र। कौटिल्य ने इस ग्रन्थ का नाम 'अर्थशास्त्र' रखने का कारण भी बताया है। उसके मतानुसार मनुष्यों से बसी हुई भूमि ही अर्थ है। इसको प्राप्त और रक्षण करने के उपायों को बताने वाला शास्त्र अर्थशास्त्र है।[1] इस प्रकार कौटिल्य ने राजनीति को भी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत ले लिया है। सोमदेव सूरि के मतानुसार जिससे सब प्रयोजन सिद्ध हों, वह अर्थ है। इसमें अप्राप्य का प्राप्त करना, प्राप्त की रक्षा करना और

---

१. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः। तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति। कौटिलीय अर्थशास्त्र १५–१–१, २, ३।

रक्षित का परिवर्धन ही अर्थानुबन्ध है।[1] परन्तु शुक्रनीतिसार का रचनाकार अर्थ की उपर्युक्त परिभाषा से सहमत नहीं। उसके अनुसार श्रुति-स्मृति से अविरुद्ध राजकार्य का नाम शासन है और सुयुक्ति से जिसमें अर्थोपार्जन के उपाय बताये गये हों वह अर्थशास्त्र है।[2]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर ही कामन्दक ने अपने नीतिसार और सोमदेव सुरि ने नीतिवाक्यामृत की रचना की है। कामन्दक ने तो कई श्लोकों में कौटिल्य का ऋण भी स्वीकार किया है। नीतिसार के रचयिता कामन्दक कब हुए यह तो निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, परन्तु डा० फ्रेडरिक के मतानुसार बौद्धों के भय से हिन्दू लोग अपनी बहुत सी संस्कृत पुस्तकें लेकर बाली द्वीप को चले गये थे और उन्हें फिर भारत लौटने का अवसर नहीं मिला। इन्ही पुस्तकों में यह नीतिसार ग्रन्थ भी था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र और सोमदेव सूरि के नीतिवाक्यामृत के बहुत से वाक्य मिलते हैं, और विषय भी दोनों के लगभग एक से हैं। परन्तु सोमदेव सूरि ने अपने ग्रन्थ में धर्म और आचार को भी महत्त्व दिया है, जब कि कौटिल्य का ग्रन्थ केवल राजनीतिक है।

जैन साहित्य में हेमचन्द्र का लघु-अर्हन्नीतिशास्त्र भी राजनीतिक ग्रन्थ है, जो सन् १९०६ में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। इसमें जैनधर्म के सिद्धान्तों पर राजधर्म को आधारित करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि राजा के लिये युद्ध वर्जित नहीं, तथापि युद्ध से पहले वह शत्रु को अन्य सभी उपायों से जीतने का प्रयास करे। युद्ध में भी धर्म के सिद्धान्तों और जीवदया का यथासम्भव पालन करे। अतः नीतिशास्त्र की अपेक्षा, यह ग्रन्थ धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण से लिखित है, यद्यपि इसमें नीतिशास्त्र के विषय सम्मिलित हैं।

चौदहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में भी चण्डेश्वर, लक्ष्मीधर, मित्रमिश्र आदि ने राजनीति पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे। चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर, लक्ष्मीधर का राजनीतिकल्पतरु और मित्रमिश्र का वीरमित्रोदय ग्रन्थ उपलब्ध है। परन्तु इनमें कोई मौलिक बात नहीं मिलती।

---

१. यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः। अलब्धलाभो लब्धपरिरक्षणं
   रक्षितपरिवर्धनं चार्थानुबन्धः। अर्थसमुद्देश, नीतिवाक्यामृत

२. श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तं हि शासनम्।
   सुयुक्तमर्थार्जनं यत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते॥ शुक्रनीतिसार ४–२९६

वेदों कि शैली परोक्षवादी है।

बृहस्पति के बार्हस्पत्य शास्त्र के बदले कुछ सूत्र बार्हस्पत्य नाम से, डा० एफ० डब्ल्यू० टामस के द्वारा सम्पादित किए गए हैं। इस बार्हस्पत्य सूत्र में केवल ६ अध्याय और ४३० सूत्र हैं। परन्तु यह बार्हस्पत्य शास्त्र नहीं है, क्योंकि महाभारत के अनुसार इसमें तीन हजार अध्याय होने चाहिए। इसके अतिरिक्त उपलब्ध बार्हस्पत्य सूत्र गद्य में है, परन्तु वह पद्य में होना चाहिए क्योंकि सोमदेव सूरि के नीतिवाक्यामृत के टीकाकार ने बृहस्पति और शुक्र के वचन पद्य में उद्धृत किये हैं।

शुक्रनीति के विषय में भी इसी प्रकार का सन्देह है। उपलब्ध पुस्तक शुक्रनीतिसार है, शुक्रनीति नहीं। महाभारत के अनुसार शुक्रनीति एक हजार अध्यायों का ग्रन्थ होना चाहिए परन्तु इसमें केवल चार ही अध्याय हैं। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'ओम् नमश्शुक्रबृहस्पतिभ्याम्' लिखा है, इससे स्पष्ट है कि इनके ग्रन्थ कौटिल्य के समय में उपलब्ध थे।

उपलब्ध बार्हस्पत्य सूत्र में एक बात विशेष है। धर्मशास्त्रों के अनुसार स्थानीय प्रथाएं धर्म की विधियों के अविरुद्ध होने पर ही मान्य हैं, परन्तु बार्हस्पत्य सूत्र के अनुसार धर्म की विधि स्थानीय प्रथाओं के अविरुद्ध होने पर ही मान्य है। इस प्रकार यहाँ पर धार्मिक और राजनीतिक विचारों में विरोध दिखाई देता है।

स्रोतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

वेदों की शैली परोक्षवादी होने के कारण, उनके मंत्रों का सही तात्पर्य समझना कुछ कठिन हो जाता है। कहीं-कहीं उनमें मानव-जगत की बात को समझाने के लिये केवल देव-जगत के विषय में कहकर छोड़ दिया जाता है। वैदिक शब्दों में भी श्लेष-भाव है। अतः उनकी शैली को ध्यान में रखते हुए, उनसे निष्कर्ष निकालना उचित है। तथापि वैदिक साहित्य से जो कुछ मिलता है उसका मूल्य संसार के लिए बहुत अधिक है, क्योंकि संसार का प्राचीनतम साहित्य होने के कारण उससे मानव-विकास का ठीक-ठीक क्रम ज्ञात हो जाता है। इस साहित्य की सहायता से ही हमने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतंत्र के रूप में हुई थी।

कल्पसूत्रों से शासन की कार्यप्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, परन्तु उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि राज्य का रूप जनतंत्रीय था अथवा राजतंत्रीय। राजा का राज्याभिषेक होना भी इस बात का निर्णय नहीं करता।

महाभारत में स्पष्टतः गणराज्यों की नीति और शासन पर कुछ प्रकाश डाला गया है इसलिये प्रस्तुत निबन्ध के लिए उसका मूल्य अधिक है। परन्तु गणराज्य के संघटन के विषय में उससे स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। तथापि उसमें यत्र-तत्र निहित सामग्री की सहायता से तत्कालीन जनतंत्र पर बहुत प्रकाश पड़ता है।

स्मृतियों में राजनीतिक वर्णन विशेषतः राजतंत्र से सम्बन्धित प्रतीत होता है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में उनसे अधिक सहायता नहीं मिलती।

बौद्ध साहित्य का निर्माण सम्भवतः अशोक के शासन काल के बाद में ही हुआ था परन्तु उसका वर्णन अधिकांश में महात्मा बुद्ध के जीवन काल से ही सम्बन्धित है। इसलिये उसमें जनश्रुतियों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। दूसरे, उसमें राजनीतिक दृष्टि से कुछ नहीं लिखा गया। तथापि तत्कालीन जनतंत्रीय राज्यों का कुछ विवरण उसमें अवश्य मिलता है, क्योंकि उन राज्यों से बुद्ध-धर्म का सम्बन्ध था। अन्य सामग्री के अभाव में हमको बौद्ध साहित्य से जो कुछ प्राप्त होता है, उसका मूल्य प्रस्तुत विषय के लिये कम नहीं है।

जैन धार्मिक साहित्य में भी प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित सामग्री अधिक नहीं है, क्योंकि उसमें यत्र-तत्र निहित राजनीतिक विचार राजतंत्र से ही सम्बन्धित हैं। आचारंग सूत्र में वैराज्य, गणराज्य, अराजक और विरुद्ध राज्य आदि जनतंत्रीय राज्यों के विभिन्न नाम उल्लिखित हैं, परन्तु इनके सम्बन्ध में कोई विवरण उस ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं। अतः जैन साहित्य का मूल्य प्रस्तुत विषय की दृष्टि से अधिक नहीं।

यूनानी लेखों में सिकन्दर के आक्रमणकाल में वर्तमान पंजाब के जनतंत्रीय राज्यों का विवरण प्राप्त होता है। यूनानी लेखकों का दृष्टिकोण भी राजनीतिक था इसलिये उनके लेखों का मूल्य बहुत अधिक होना चाहिये। परन्तु सिकन्दर के साथ के यूनानी लेखकों के मूल लेख सब नष्ट हो गए थे, और उपलब्ध लेख मूल लेखों के लगभग तीन शताब्दी बाद में अधिकांशतः जनश्रुतियों पर लिखे गए थे। इसलिये उनमें पूर्ण सत्य मिलना असम्भव है। सिकन्दर के साथ के यूनानी लेखक भारत में अल्पकाल के लिये ठहरे थे और भारतीय आचार-विचारों से अपरिचित थे, इसलिये भी उनके लेखों में वास्तविकता का रूप परिवर्तित हो सकता है। अतः उन लेखों से प्रस्तुत विषय की अमूल्य सामग्री मिलते हुए भी, उसमें से सत्य की खोज करना सरल नहीं है।

चीनी यात्रियों के लेखों से जनतंत्र राज्य का विवरण प्राप्त नहीं होता। तथापि फाह्यान के लेख, भारतीय इतिहास से जनतंत्र राज्यों के लोप होने के कारणों का अनुमान लगाने में सहायक होते हैं।

शिलालेखों से प्राप्त सामग्री का ऐतिहासिक मूल्य तो बहुत है, परन्तु राजनीतिक विचारधारा का, विशेषतः जनतंत्रीय राज्यों के विषय में उनसे अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वे लेख बहुधा राजतंत्रीय शासकों के मिलते हैं और उनमें जनतंत्रीय राज्यों के नाम केवल राजतंत्र के शासकों से सम्बन्धित होने के कारण उल्लिखित हैं।

उपलब्ध सिक्कों से अनेक जनतंत्रीय राज्यों के अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण

मिलते हैं, परन्तु उन राज्यों के नामों के अतिरिक्त कुछ नहीं प्राप्त होता। सिक्के प्राप्त होने के स्थानों से सम्बन्धित राज्य के स्थान का अनुमान किया जा सकता है परन्तु राजनीतिक विचारधारा जानने के लिये यह सामग्री पर्याप्त नहीं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र यद्यपि विशुद्ध राजनीतिक ग्रन्थ है, तथापि उसका विषय राजतंत्र तक ही सीमित है। जनतंत्रीय संस्थाओं और राज्यों का विवरण भी उसमें राजतंत्र से सम्बन्धित रूप में ही मिलता है। तथापि संयोगवश उसमें जनतंत्र से सम्बन्धित जो कुछ विवरण उपलब्ध है वह विश्वसनीय है और उससे तत्कालीन जनतंत्र राज्यों की वास्तविक दशा का ज्ञान हो जाता है। अतः प्रस्तुत विषय में उससे पर्याप्त सहायता मिलती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध राजनीतिक ग्रन्थों में जनतंत्रीय शासन का विवरण नहीं मिलता, सम्भवतः वे उस समय लिखे गये थे जब कि भारतीय इतिहास से जनतंत्र राज्यों का लोप हो गया था।

अध्याय ३

विषय-विस्तार में कठिनाई

प्राचीन भारतीय साहित्य में निहित राजनीतिक विचारधारा का जनतंत्र और राजतंत्र से विश्लेषण करने में निम्नांकित कारणों से कठिनाई उपस्थित होती है—

(१) प्राचीन भारतीय साहित्य में जनतंत्र के शासक को भी राजा ही कहा गया है। इस कारण राजा शब्द मिलने से यह ज्ञात नहीं होता कि राज्य जनतंत्रीय है अथवा राजतंत्रीय। विदेशी लेखकों ने इसी भ्रम के कारण जहां राजा शब्द मिला वहीं राजतंत्र का अनुमान कर लिया है।

(२) राजा की स्तुति में अनेक देवताओं से उसकी उपमा दी गई है। इस कारण बहुत से लेखकों ने राजा के दैवी अधिकार की कल्पना की है। वास्तव में प्राचीन भारतीय विद्वानों ने अधिकार पर इतना बल नहीं दिया है, जितना कर्तव्य पर। राजा की देवताओं से उपमा देकर भी, उन्होंने राजा के कर्तव्यों की ओर ही संकेत किया है। मनु ने इस बात को स्पष्ट करते हुए व्याख्या की है कि अमुक-अमुक देवताओं की उपमा से राजा के अमुक-अमुक कर्तव्यों का बोध होता है।

(३) भारतीय विद्वान् पैतृक गुणों का विशेष प्रभाव मानते थे। इसी कारण कर्मों के आधार पर बनी हुई वर्णव्यवस्था कालान्तर में जन्म के आधार पर मानी जाने लगी। इसी लिये राजपद पर निर्वाचन करने के लिये राजपुत्रों को विशेष रूप से योग्य समझा जाता था। बौद्ध साहित्य में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि रिक्त पद पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति करने में भी, सर्वप्रथम गत पदाधिकारी के पुत्रों की योग्यता पर विचार किया जाता था और यथासम्भव उन्हीं में से किसी की नियुक्ति की जाती थी। इसी कारण बहुधा निर्वाचित पद भी वंशानुक्रमिक दिखाई देता है।

(४) आरम्भ में कर्मानुसार वर्णव्यवस्था होने के कारण, अन्य वर्णों के व्यक्तियों को भी शासनाधिकार प्राप्त कर लेने पर, क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित कर लिया जाता था। इस कारण बहुधा क्षत्रिय लोग ही शासन में पदारूढ़ दिखाई देते थे।

प्रस्तुत निबन्ध में यथास्थान इन कारणों पर प्रकाश डाला गया है और इनके वास्तविक अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त

कुछ अन्य कारण भी हैं जिनसे प्राचीन राजनीतिक विचारधारा को स्पष्ट करने में कठिनाई प्रतीत होती है।

(अ) अल्प सामग्री

महाभारत, शान्तिपर्व में कहा गया है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा ने नीति-शास्त्र बनाया। विशालाक्ष महेश्वर ने इसको दस हजार अध्यायों में संक्षिप्त किया और उनके इस ग्रन्थ का नाम वैशालाक्ष पड़ा। इन्द्र ने इसका सार निकालकर पांच हजार अध्यायों में रख दिया और इस ग्रन्थ का नाम बाहुदन्तक पड़ा। बृहस्पति ने इसको भी संक्षिप्त किया और इस ग्रन्थ का नाम बार्हस्पत्य हुआ। तदनन्तर शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायों में इसका सारांश लिखा और वह ग्रन्थ शुक्र-नीति कहलाया। इनके अतिरिक्त महाभारत के अनुसार नीतिशास्त्र के रचयिता प्रचेतसा, मनु, भरद्वाज और गौरशिरा मुनि और हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक स्थानों पर प्राचीन लेखक विशालाक्ष, इन्द्र, बहुदन्त, बृहस्पति, शुक्र, मनु, भरद्वाज, गौरशिरा, पराशर, पिशुन, वातव्याधि, घोटकमुख, कात्यायन, चारायण आदि का मत उद्धृत किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय में ये ग्रन्थ उपलब्ध थे। परन्तु दुर्भाग्य से अब उपर्युक्त कोई ग्रन्थ मूल रूप में उपलब्ध नहीं। उपलब्ध बृहस्पतिसूत्र और शुक्रनीतिसार के विषय में हम लिख चुके हैं कि ये मूल ग्रन्थ नहीं प्रतीत होते।

नीतिवाक्यामृत में भी शालिहोत्र, बृहस्पति, शुक्र, अंगिरा, ऋषिपुत्र, कविपुत्र, कामन्दक, गर्ग, गौतम, अत्रि, कौशिक, नारायण, भारवि, माघ, यम, वराहमिहिर, भृगु, भार्गव, विश्वकर्मा, चाणक्य, विष्णुशर्मा, चारायण, जैमिनि, दक्ष, दन्तिल, देवल, धन्वन्तरि, नारद, पराशर, पालकि, भागुरि, भारद्वाज, मनु, मार्कण्डेय, याज्ञवल्क्य, राजगुरु, राजपुत्र, रैभ्य, वल्लभदेव, वशिष्ठ, बादरायण, व्यास, शौनक, हारीत आदि अनेक प्राचीन लेखकों के मत उद्धृत हैं। इनमें से बहुत कम लेखकों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं और जो उपलब्ध हैं उनमें भी कई के मौलिक होने में सन्देह है।

अतः यह निश्चित है कि भारतीय राज्यशास्त्र पर प्राचीन ग्रन्थ अधिकांश लुप्त हो गये, अथवा नष्ट कर दिये गये। ऐसी स्थिति में उपलब्ध ग्रन्थ भारतीय राजनीतिक विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए अत्यन्त अल्प हैं, यह कहना अनुचित नहीं।

(आ) सिक्कों से उपलब्ध प्रमाण अपर्याप्त

पुरातत्व विभाग ने यत्र-तत्र खुदाई करके बहुत से प्राचीन सिक्के उपलब्ध किये हैं, परन्तु लगभग द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व से पहले के कोई सिक्के उपलब्ध नहीं। जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उन पर सन् अंकित न होने के कारण उनके समय में अनिश्चितता बनी रहती है। यद्यपि बहुत से सिक्कों से जनतंत्रीय राज्यों के अस्तित्व

के प्रमाण मिलते हैं, तथापि उनसे अधिक स्पष्ट विवरण नहीं मिलता।

(इ) अन्य साधनों से पुष्टि का अभाव

प्राचीन जनतंत्र के सम्बन्ध में जो कुछ प्रमाण मिलते हैं उनकी पुष्टि के लिए समकालीन अन्य साधन बहुत कम मिलते हैं। वैदिक कालीन जनतंत्र राज्यों के प्रमाण के लिये वैदिक मंत्रों के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक साधनों का सर्वथा अभाव है। महाभारत में जिन गणराज्यों का उल्लेख है, उनकी पुष्टि के लिये तत्कालीन अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं। उनमें से कुछ गणराज्यों के नाम मात्र यत्र-तत्र उल्लिखित मिलते हैं। केवल वृष्णियों के सिक्के उपलब्ध हुए हैं। परन्तु उनका समय, इतिहासकारों के मतानुसार द्वितीय शताब्दी पूर्व से पहले का नहीं। इसी प्रकार यूनानी लेखकों ने पंजाब के जिन जनतंत्रीय राज्यों का वर्णन किया है, उनमें से कुछ के केवल नाम यत्र-तत्र मिलते हैं। परन्तु यूनानी लेखकों के विवरण का विरोध या पुष्टि करने के लिये हमारे पास तत्कालीन कोई सामग्री उपलब्ध नहीं। शुंगकाल के बहुत से गणराज्यों के प्रमाण में हमको उनके सिक्कों पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

(ई) प्राचीन ग्रंथों में संकेतात्मक विवरण

यद्यपि जनतंत्रीय राज्यों का कई ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है परन्तु इनका उल्लेख बहुधा सरसरी तौर पर किया गया है। महाभारत में केवल इतना कहा गया है कि गणराज्य में जाति और कुल की दृष्टि से सब लोग समान माने जाते हैं। परन्तु इतने विवरण से गणराज्य के संगठन के विषय में स्पष्ट बात मालूम नहीं होती। इसी प्रकार महाभारत के सभापर्व में पारमेष्ठ्य राज्य का संकेत मात्र मिलता है। वैदिक साहित्य की शैली परोक्षवादी होने के कारण उससे सही तात्पर्य निकालना कठिन हो जाता है। बौद्ध और जैन धार्मिक साहित्य में संयोगवश राजनीतिक विवरण कहीं-कहीं प्राप्त हो जाता है किन्तु वह भी अपर्याप्त होता है। शिलालेखों का विवरण भी जनतंत्रीय राज्यों की ओर संकेत मात्र करता है। इस प्रकार प्रस्तुत विषय में बहुधा सांकेतिक विवरण पर आश्रित रहकर अनुमान से काम चलाना अनिवार्य हो जाता है।

(उ) वैज्ञानिक ढंग के विवरण का अभाव

वास्तव में प्राचीन भारतीय साहित्य में कौटिलीय अर्थशास्त्र से पहले का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं जिसमें राजनीति का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया गया हो। वैदिक और पौराणिक साहित्य में राजनीति को धर्म का ही अंग मानकर धर्ममिश्रित रूप में लिखा गया है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ का विषय राजतंत्र बनाया था अतः उसमें भी जनतंत्र का विवरण राजतंत्र के सम्बन्ध में ही किया गया है। कौटिल्य के अनुकरण पर जो नीतिशास्त्र के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उन सब में राजतंत्र को ही मुख्य विषय बनाया

गया है। अतः जनतंत्रीय शासन का वैज्ञानिक ढंग पर वर्णन किसी प्राचीन भारतीय ग्रन्थ में नहीं मिलता।

यूनानी लेखकों ने पंजाब के जिन जनतंत्र राज्यों का विवरण दिया है, उनमें भी स्पष्ट और पूर्ण विवरण नहीं मिलता। उनके मूल लेखों के अभाव में यह आशा भी नहीं की जा सकती।

अध्याय ४

हिन्दू जनतंत्र के पारिभाषिक शब्द

रिपब्लिक शब्द का अर्थ वह राज्य है जहां सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित हो। इस अर्थ में सभी जनतंत्रात्मक राज्य आ जाते हैं। पाश्चात्य जगत में जनतंत्र राज्य सर्वप्रथम यूनान के पुरराज्यों के रूप में दिखाई देते हैं। यूनानियों ने इनके कई भेद किये हैं, जैसे आलीगर्की, एरिस्टोक्रेसी, डिमाक्रेसी आदि। ये भेद निर्वाचन पद्धतियों और मताधिकार के आधार पर किये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि पाश्चात्य राजनीतिज्ञों ने जनतंत्र राज्य का सर्वोत्तम गुण मताधिकार को ही माना है। मताधिकार किन वर्गों के लोगों को तथा जनता के कितने भाग को प्राप्त था, यही दृष्टिकोण जनतंत्र के विभिन्न भेद करने का मुख्य आधार था। विधि की प्रधानता, राजनीतिक दल, शक्ति पृथक्करण आदि जनतंत्र के गुण पाश्चात्य जगत में बाद के विकास है।

भारतीय जनतंत्र में सर्वाधिक बल विधि की प्रधानता को ही दिया गया है, क्योंकि यहाँ आदि काल से ही धर्म को सर्वोपरि माना गया है।[1] विधि की प्रधानता का यह गुण राज्य में इतना महत्वपूर्ण माना गया है कि शासन चाहे जनतंत्र हो अथवा राजतंत्र, विधि का पालन करना ही उसकी श्रेष्ठता की कसौटी थी। साथ ही विधि-निर्माण का कार्य राज्य के अधिकार से बाहर था, इसलिये विधायिनी शक्ति को कार्यकारिणी से पृथक् करके, शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त भी आरम्भ से ही अपनाया गया था। विधि की प्रधानता और शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त, भारतीय राज्यदर्शन में इतने महत्व के माने गये थे कि राज्य का रूप जब जनतंत्र से राजतंत्र में परिणत हुआ तब भी ये दोनों सिद्धान्त स्थायी रूप से माने जाते रहे। इसलिये भारतीय राजनीति में मताधिकार का महत्व गौण समझा गया।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने मताधिकार के आधार पर जनतंत्र राज्यों के नामकरण की कभी चिन्ता नहीं की, परन्तु समयानुसार जनता के इस अधिकार में

---

१. नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।—महाभारत, उद्योगपर्व, १३७-९।

परिवर्तन अवश्य आते रहे। यदि हम मताधिकार के आधार पर भारतीय जनतंत्रात्मक राज्यों का नामकरण करना चाहें तब वह निम्नांकित रूप में होगा —

(१) वैराज्य, जिसमें जनता के प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार प्राप्त था और प्रत्येक व्यक्ति शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था।

(२) गणराज्य, जिसमें मताधिकार तो जनता के प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त था परन्तु शासनाधिकार उनके प्रतिनिधियों को वर्गीकरण के आधार पर प्राप्त था।

(३) पारमेष्ठ्य राज्य, जिसमें राजनीतिक मताधिकार प्रत्येक गृहपति को प्राप्त था और प्रत्येक गृहपति शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था।

(४) कुलीन गणराज्य, जिसमें राजनीतिक मताधिकार कुलपतियों को प्राप्त था और प्रत्येक कुलपति शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेता था।

(५) समन्तपर्यायी गणराज्य, जिसमें मताधिकार केवल सामन्तों को प्राप्त था और प्रत्येक सामन्त शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का अधिकारी था।

(६) संघराज्य, जिसमें एकाधिक गणराज्य मिलकर शासन में समान अधिकार रखते थे।

राजनीतिक दलों को हिन्दू राज्यदर्शन में कभी भी मान्यता नहीं दी गयी, क्योंकि जनतंत्रात्मक शासन चलाने के लिये उनको आवश्यक नहीं समझा गया। विचारों की भिन्नता तो मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, और बुद्धि के विकास के साथ ही विचारों की भिन्नता भी बढ़ती देखी जाती है। विचारों की इस स्वाभाविक भिन्नता को पुष्ट करते हुए, एक संस्कृत कवि की उक्ति है कि वेदों और श्रुतियों में भी परस्पर विभिन्न विचार मिलते हैं, क्योंकि ऐसा कोई मुनि नहीं हुआ जिसके विचारों में भिन्नता न हो।[1]

यदि सभा में उपस्थित सब लोग विद्वान् हैं, तो भिन्न विचारों के कारण अवश्य ही प्रत्येक प्रश्न पर निर्णय करने से पहले, उस पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार किया जायगा और उस सभा के बहुमत से किया हुआ निर्णय उत्तम ही होगा।

राजनीतिक दलों में वैयक्तिक विचारों की अभिव्यक्ति स्वतंत्र रूप से नहीं हो पाती। वहां पर व्यक्ति के स्वतंत्र विचारों को दलीय स्वार्थ दबा देता है। इसी लिये महाभारत के अंधक-वृष्णि संघ में जब अक्रूर और आहुक के दल बन गये तो सभासदों में भेद पड़ गया और वह संघ राज्य को निर्बल करने का कारण बन गया, जिसके लिये

---

१. वेदा विभिन्नाः श्रुतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य मतिर्न भिन्ना।

श्री कृष्ण चिन्तित दिखाई पड़ते हैं।[१] गणराज्य की निर्बलता और पतन का मुख्य कारण परस्पर का भेद ही है[२] और राजनीतिक दलों के द्वारा यह भेद कृत्रिम रूप से उत्पन्न कर दिया जाता है। इसलिए हिन्दू राज्यदर्शन में राजनीतिक दल जनतंत्र राज्य की शक्ति को क्षीण करने वाले माने गये हैं, यद्यपि उनका प्रादुर्भाव स्वभावतः हो जाता था।

पाणिनि ने भी सूत्र ४–३–५४ और ३–१–११९ में राजनीतिक दलों, यथा वासुदेववर्ग्याः, वासुदेवगृह्याः, वासुदेवपक्ष्याः आदि की ओर संकेत किया है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, इनको गणराज्य का अवगुण ही माना जाता था।

हिन्दू राज्यदर्शन में निर्वाचन का आधार वैयक्तिक योग्यता और विद्वत्ता को ही माना जाता था।[३]

गण

गण शब्द संख्यासूचक है और इसका प्रयोग समान गुण वाले एकाधिक प्राणियों के समूह के लिए होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है, जैसे कि अष्ट वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, तेरह विश्वेदेव, उनञ्चास मरुत् आदि सब के गण कहे जाते हैं।[४] वाल्मीकि रामायण में भी गण शब्द का प्रयोग इसी प्रकार के समूह के अर्थ में किया गया है।[५] परन्तु रामायण में गणवल्लभ शब्द भी मिलता है

---

१. यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्।
द्वयोरेव प्रचरतोर्वृणोम्येकतरं न च ॥९॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः ॥१०॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामुने।
नैकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्य पराजयम् ॥११॥

महाभारत शान्तिपर्व, अ. ८१ श्लोक ९–११

२. भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।

महाभारत शान्तिपर्व १०७–८

३. धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमादधे। दक्षस्य पितरं तना।

ऋग्वेद ३–२७–९

४. अध्याय ५ पृष्ठ ४०–४१

५. आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः।
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह ॥ अयोध्याकाण्ड १४–४०

जिससे प्रकट होता है कि रामायण काल में गण नाम की संस्थाएं भी बन चुकी थीं जिनके प्रधान को गणवल्लभ कहते थे।[1] यहां पर यह तो प्रकट होता है कि भावी राजा की नियुक्ति में गणवल्लभों का भी हाथ होता था, इसलिए ये संस्थाएं महत्वपूर्ण मानी जाती थीं, परन्तु इनके संगठन और कार्यों का रामायण में कोई संकेत नहीं मिलता। परन्तु ये आर्थिक संस्थाएं थीं, इसका संकेत हमको बृहदारण्य-कोपनिषद्, चतुर्थ ब्राह्मण के उस वाक्य से मिलता है जिसमें गणों का उदाहरण विश अर्थात् वैश्यवर्ण के संगठनों से दिया गया है।[2] अतः हम कह सकते हैं कि रामायण काल तक गण, अराजनीतिक संस्थाओं के रूप में संगठित हो चुके थे, परन्तु राजनीति में उनका महत्वपूर्ण भाग था।

(१) गण पर पाणिनि

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में गण शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है, और आधुनिक विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि पाणिनि ने वास्तव में गण शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया है। डाक्टर डी० आर० भण्डारकर के अनुसार पाणिनि ने संघ और गण शब्द का प्रयोग, किसी निश्चित उद्देश्य से संगठित व्यक्तियों के समूह अथवा किसी निश्चित कार्य के लिए संगठित व्यक्तियों की संस्था, के अर्थ में किया है।[3] डा० के० पी० जायसवाल के मतानुसार पाणिनि ने गण शब्द का प्रयोग जनतंत्रीय राज्य के लिए किया है।[4] डाक्टर मजूमदार ने भी गण शब्द का अर्थ जनतंत्रीय राज्य ही माना है।[5]

पाणिनि सूत्र ३–३–८६ 'संघोद्धौ गणप्रशंसयोः' में कहा गया है कि संघ शब्द का प्रयोग गण के अर्थ में भी होता है। इसी आधार पर प्रायः आधुनिक विद्वानों ने राज्यशास्त्र में गण और संघ को एक ही मान लिया है। परन्तु हमारे विचार से संघ शब्द का सामान्य अर्थ में ही गण अर्थ होता है, क्योंकि संघ और गण दोनों शब्द सामान्यतः समूह के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

पाणिनि सूत्र ५–२–५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि ने गण और संघ को विशेष अर्थ में संस्थाओं के लिये प्रयुक्त किया है और दोनों संस्थाओं को भिन्न-भिन्न माना है। क्योंकि उक्त सूत्र में पूग, गण और संघ नामक

---

१. ब्राह्मणान् क्षत्रियान्योधानमात्यान्गणवल्लभान्। अयोध्याकाण्ड ८१–१२
२. अध्याय ५ पृष्ठ ४०–४१
३. ए० एच० आई०, पृष्ठ १४२–४६
४. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ २३–२८
५. कार्पोरेट लाइफ इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २२३

संस्थाओं की कार्यप्रणाली की ओर संकेत किया गया है। काशिका में पूग को आर्थिक संस्था बताया गया है।[१] और वह गण तथा संघ से भिन्न संस्था होती थी, अतः उक्त सूत्र की पूग गण और संघ तीनों संस्थाएं भिन्न भिन्न होनी चाहिए। इसलिए इस सूत्र से गण और संघ का भिन्न अर्थ सिद्ध हो जाता है। परन्तु उक्त सूत्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि पाणिनि ने गण और संघ को राजनीतिक संस्थाओं के अर्थ में प्रयुक्त किया है अथवा अराजनीतिक संस्थाओं के अर्थ में। हमने अध्याय सात में अन्य प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि गण और संघ नामक संस्थाएं राजनीतिक क्षेत्र में राज्य के रूप में भी होती थी तथा आर्थिक, धार्मिक आदि अराजनीतिक क्षेत्र में भी।

(२) गण पर महाभारत और अमरकोश

महाभारत में गण शब्द स्पष्टतः गणराज्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। शान्तिपर्व अध्याय १०७ में गणों की आन्तरिक और बाह्य नीति, उत्थान-पतन के कारण, गणों की न्याय व्यवस्था आदि का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि जिन गणों का उसमें उल्लेख है, वे गणराज्य थे, अराजनीतिक संस्था नहीं। शान्तिपर्व ८१–१७ में स्पष्टतः उनको राज्य कहा गया है।[२] पुनश्च सभापर्व में अर्जुन द्वारा गणों को जीतकर करदायी बनाने का उल्लेख है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए अर्जुन उत्तर दिशा के राज्यों को जीतने की अभिलाषा से प्रस्थान करते हैं। इसलिए उनका लक्ष्य स्वतंत्र राज्यों को जीतकर युधिष्ठिर के करदायी बनाना था। किसी राज्य के अन्तर्गत अराजनीतिक संस्था को जीतने का प्रश्न नहीं उपस्थित होता, अतः सभापर्व २७–१६ में अर्जुन ने कई गणों पर विजय प्राप्त की, ऐसा लिखा है।[३]

इस प्रकार महाभारत में गण शब्द का प्रयोग केवल गणराज्य के अर्थ में मिलता है, जिनके सम्बन्ध में हमने अध्याय ६ में विस्तृत विवरण दिया है।

अमरकोश में गण शब्द समान गुण वाले व्यक्तियों के समूह के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। अमरकोश २, ८ ३-४ में राजाओं के गण (समूह) को राजक और क्षत्रियों के गण (समूह) को राजन्यक कहा गया है।[४]

---

१. नानाजातीया अनियतवृत्तयो ह्यर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः। काशिका ५–२–५२।

२. बभ्रूग्रसेनतो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञातिभेदभयात्कृष्ण त्वया चापि विशेषतः॥ शा० प० ८१–१७

३. पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्पर्वतवासिनः।
गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डवः॥ सभापर्व २७–१६

४. अथ राजकम्। राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात्।
अमरकोश ८, २, ३-४

(३) गण पर जातक

बौद्ध साहित्य में यद्यपि गण शब्द को बहुधा गणराज्य के लिए ही प्रयुक्त किया गया है,[१] तथापि गणबन्धन, गणपूरक आदि शब्दों का प्रयोग धार्मिक संघ की कार्यप्रणाली में भी मिलता है। बौद्ध धर्म में संघ की इकाइयों को वर्ग कहा गया है।[२] मित्र मिश्र ने वर्गिन् शब्द की व्याख्या करते हुए वर्ग को गण कहा है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि संघ की इकाई को गण कहते थे। बौद्ध धर्म में संघ की इकाई को गण न कहकर वर्ग कहने का कारण सम्भवत: यह था कि गण शब्द तत्कालीन जनतंत्रीय राज्यों के लिये प्रयुक्त किया जाता था,[४] और वह इस अर्थ में प्रसिद्धि पा चुका था। परन्तु गणपूरक[५] गणबन्धन,[६] गणमग्ग[७] आदि शब्दों का प्रयोग बौद्ध संघ के सम्बन्ध में में अपरिवर्तित रूप में ही किया गया है। इससे विदित होता है ये शब्द अपने पारिभाषिक अर्थ रखते थे और प्रसिद्ध हो चुके थे।

(४) गण पर जैन साहित्य

कल्पसूत्र २–१२८ में "नवमल्लई नवलेच्छई कासी—कोसलगा अट्ठारस विगणरायाणो" वाक्य उल्लिखित है। उसके व्याख्याकार ने लिखा है कि ये राजा लोग मिलकर गण बनाते थे (गणमेलकं कुर्वन्ती गणराजानो चेतक महाराजस्य सामन्ता उच्यन्ते)। उपर्युक्त प्रयोग से गण एक राजनीतिक संस्था सिद्ध होती है। परन्तु यहां पर गणराजानो को सामन्त गण बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि महाभारत काल के स्वतंत्र गणराज्य बौद्ध और जैनकाल में सामन्तों की स्थिति में आ गये थे। इस विषय पर हमने अध्याय आठ में विचार किया है।

---

१. वैशाली नगरे गणराजकुलानां अभिसेक मंगल पोक्खरणो। जातक ४–१४८
(केचिद् देशा गणाधीनाः केचिद्राजाधीनाः।)

२. चतुर्वर्ग भिक्षुसंघ, पञ्चवर्ग भिक्षुसंघ, दशवर्ग भिक्षुसंघ, विंशतिवर्ग भिक्षसंघ।
महावग्ग ९–४–१, चाम्पेय स्कन्धक।

३. वीरमित्रोदय, पृष्ठ १२

४. इमे सम पि हि भो गोतम संघानम् गणानम् सेयथिदम् वज्जिनम् मल्लानम्।
मज्झिम निकाय १–४–५–३५

५. गणपूरको व भविस्सामीति। महावग्ग ३–६–६

६. कदाचि तीनि चतारि एकतो हुत्वा। कदाचि गणबन्धनेन, कदाचि वीथि-सभागेन, कदाचि सकल नगरम् छंदकं संहरित्वा। जातक १–४२२
गणबन्धनेन बहु एकतो हुत्वा। जातक २–४५

७. गणमग्गेन गणेतुम्। महावग्ग २–१८

वराहमिहिर की बृहत्संहिता १५–१५ में गणनायक शब्द मिलता है परन्तु वहां पर उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। कल्पसूत्र २–६१ में भी अनेक गणनायकों का वर्णन है जिससे गणनायक का अर्थ सैनिक दल का नेता प्रतीत होता है।

एक जैनकोश अभिधान-राजेन्द्र में गण शब्द की व्याख्या करते हुए, गण दो प्रकार के बताये गये हैं, अचितगण और सचितगण। इसके अनुसार अचित गण साधारण समूह को कहते हैं, जैसे वसुगण, और सचित गण मनुष्यों की संस्था को कहते हैं जिसमें चित्त अथवा विवेक पाया जाता है, जैसे मल्लों का गण, पुर का गण। हम सचित गण को दो भागों में विभक्त करते हैं, अराजनीतिक संस्था और राजनीतिक संस्था अथवा गणराज्य। जैन साहित्य में इन दोनों अर्थों में गण का प्रयोग भी मिलता है। जैन धर्म में गणधर की संस्था धार्मिक संस्था थी और आचारंग सूत्र में गणरायाणि शब्द गणराज्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।

अतः जैन साहित्य के अनुसार गण शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में मिलता है; (१) समान गुण वाले प्राणियों का समूह, (२) अराजनीतिक संस्था और (३) राज्य। इसके अतिरिक्त गण से सैनिकदल का भी बोध होता है, जैसा कि गणनायक शब्द से प्रतीत होता है।

(५) गण शब्द के वास्तविक अर्थ में मतभेद

हमारे विचार से गण शब्द के अर्थ पर दो प्रकार का मतभेद है। प्रथम यह कि लगभग सभी विद्वान् गण और संघ शब्द को पर्याय मानते हैं। परन्तु हम गण और संघ के अर्थों में अन्तर पाते हैं, हमारे विचार से संघ की इकाई को गण कहते हैं, अर्थात् अनेक गण मिलकर संघ बनाते हैं। इस विचार को स्पष्ट करने का प्रयास अध्याय ७ के प्रकरण (अ) में किया गया है, इसी लिये यहां पर उसको दुहराना अनावश्यक प्रतीत होता है।

गण और संघ को पर्याय मानने वाले विभिन्न आधुनिक विद्वानों के मतों में भी भेद है। डाक्टर फ्लीट आदि अंग्रेज विद्वान् बहुत काल तक गण शब्द का अर्थ कबीला (ट्राइब) लेते रहे।[1] डाक्टर के० पी० जायसवाल ने इस शब्द का अर्थ गण राज्य माना है।[2] डाक्टर डी० आर० भण्डारकर के अनुसार गण और संघ शब्द का अर्थ किसी निश्चित उद्देश्य से संगठित व्यक्तियों का समूह अथवा संस्था है।[3]

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ २४
२. उपर्युक्त, पृष्ठ २३
३. ... ० एच० आई०, पृष्ठ १४२–४६

डाक्टर आर० सी० मजूमदार ने संघ और गण का अर्थ ऐसी संस्था लिया है जिसका कार्य नियम और विधियों से होता है।[1] परन्तु अन्य स्थान पर उन्होंने इसका अर्थ प्रजातंत्र राज्य माना है।[2] डाक्टर यू० एन० घोषाल ने गण अथवा संघ का दो अर्थों में प्रयोग बताया है; (१) संघ शब्द साधारण अर्थ में प्राणियों के समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होता था, जब कि संघात शब्द निर्जीव वस्तुओं के ढेर के लिए प्रयुक्त होता था, और (२) यह शब्द विशेष अर्थ में अनेक राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक संस्थाओं के लिये प्रयुक्त होता था।[3]

हम गण शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग सिद्ध कर चुके हैं। डा० घोषाल ने संघ शब्द का जिस विशेष अर्थ में प्रयोग किया है, उसको यदि राजनीतिक संस्था (राज्य) और अराजनीतिक संस्था, दो भागों में विभाजित कर दें, तो उसके तीन अर्थ हो जाते हैं, क्योंकि गणराज्य को आर्थिक अथवा धार्मिक संस्था के स्तर पर नहीं उतारा जा सकता। डा० घोषाल ने संघ शब्द का साधारण अर्थ में, निर्जीव वस्तुओं के विरुद्ध केवल प्राणियों के समुदाय के लिए प्रयोग किया है, परन्तु गण शब्द का प्रयोग निर्जीव वस्तुओं के ऐसे समुदाय के लिए होता है, जिनकी इकाइयों की गणना की जा सके, यथा संगीत-शास्त्र के भावगण अथवा पाणिनि के श्रेण्यादिगण, दामन्यादिगण आदि।

संघ

हमारे विचार से गण और संघ शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। इनके अर्थों में जो अन्तर है उसको हमने अध्याय ७ प्रकरण (अ) में स्पष्ट किया है। गण और संघ को पर्यायवाची मानकर, इनके जो अर्थ विभिन्न आधुनिक विद्वानों ने लिये हैं, उनको हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं।

हमारे विचार से गण के समान ही संघ शब्द भी तीन विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। संघ का सामान्य अर्थ समूह है, यथा नटों, गायकों, नर्तकों आदि के संघ।[4] संघ शब्द अपने विशेष अर्थ में अराजनीतिक संस्था के लिये प्रयुक्त होता है, यथा बौद्धसंघ। संघ शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग संघराज्य के लिये होता है, जिसको एकाधिक गणराज्य संघटित होकर बनाते हैं, जैसे अन्धक-वृष्णि संघ।

कौटिल्य ने संघ शब्द का प्रयोग आर्थिक संस्थाओं और संघ-राज्यों के अर्थ में

---

१. कार्पोरेट लाइफ इन एंशियन्ट इन्डिया, पृष्ठ २२१
२. वही, पृष्ठ २३९
३. स्टडीज इन इन्डियन हिस्टरी एन्ड कलचर, पृष्ठ ३६३
४. नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥ वाल्मीकिरामायण, अयोध्या ६–१४

किया है। उसके वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ आर्थिक संघ थे जिन पर हमने अध्याय १० में विस्तृत विवेचना की है। कौटिल्य के समय में आर्थिक क्षेत्र में संघ बनाकर व्यवसाय करने की प्रथा थी।[१] कौटिल्य के राजशब्दोपजीवी संघ राजनीतिक संघ थे। परन्तु कौटिल्य ने जिन राज्यों को राजशब्दोपजीवी संघ कहा है, वे वास्तव में सामन्ततंत्रीय संघ-राज्य थे जिन पर हमने अध्याय ८ में विचार किया है।[२] इनको इस विशेषता के कारण ही संघ कहा गया है। महाभारत में संघ शब्द स्पष्टतः राजनीतिक संघ अर्थात् संघ-राज्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। शान्तिपर्व ८१–२५ में श्री कृष्ण को संघमुख्य कहा गया है और उनको ऐसी नीति अपनाने का आदेश दिया गया है जिससे संघ में भेद न पड़े।[३]

(१) संघ पर पाणिनि

पाणिनि ने संघ शब्द का दो अर्थों में प्रयोग दिखाया है। पाणिनीय सूत्र ३–३–८६ 'संघोद्घौ गणप्रशंसयोः' में सामान्य अर्थ में संघ का गण के अर्थ में प्रयुक्त होना कहा गया है। यहां पर संघ शब्द का अर्थ साधारण समूह होता है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि संघ और गण सदैव पर्यायवाची होते हैं। पाणिनि-सूत्र ५–२–५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से संघ शब्द का संस्था के अर्थ में प्रयुक्त होना सिद्ध होता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर संघ शब्द का अर्थ गण से भिन्न होता है, क्योंकि इस सूत्र में पूग, गण और संघ को पृथक्-पृथक् संस्थाओं के अर्थ में दिखाया गया है।

पाणिनीय सूत्र ३–३–४२ 'संघे चानौत्तराधर्ये' से, डा० के० पी० जायसवाल ने संघ को राजनीतिक अर्थ में मानकर, द्विसदनीय विधान के अस्तित्व की कल्पना की है। परन्तु इस सूत्र से न तो यह स्पष्ट होता है कि यहां पर संघ शब्द अराजनीतिक संस्था के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ, और न यह सिद्ध होता है कि इसका तात्पर्य एकसदनीय और द्विसदनीय विधान से है। हमारे विचार में तो पाणिनि ने इस सूत्र द्वारा संघ का एक महत्वपूर्ण गुण यह दिखलाया है कि संघ में सर्वत्र समानता का व्यवहार होना अनिवार्य है। पाणिनि सूत्र ५–३–११४ 'आयुधजीवि-संघात्०'—में स्पष्टतः आर्थिक संघों की ओर संकेत किया गया है।

---

१. संघभृतः संभूय समुत्थातारो वा यथासंभाषितं वेतनं समं वा विभजेरन्।
अर्थशास्त्र ३–१४–२२

२. प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ८

३. भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु ॥ महाभारत शान्तिपर्व ८१–२५

(२) संघ पर बौद्ध धर्म का साहित्य

बौद्ध धर्म के साहित्य में संघ शब्द अपने विशेष अर्थ में धार्मिक संस्था के लिए प्रयुक्त किया गया है। जिस प्रकार राजनीतिक संघ में अनेक गणराज्य मिलकर संघ बनाते थे उसी प्रकार बौद्ध संघ में अनेक वर्ग मिलकर संघ बनाते थे।[1] परन्तु "चतुर्वर्ग भिक्षुसंघ पंचवर्ग भिक्षुसंघ" आदि में संघ का विशेषण भिक्षु होने से प्रतीत होता है कि बौद्ध काल में अन्य आर्थिक संघ भी थे जो कि अनेक वर्गों से मिलकर बनते थे। इसी लिए भेद दिखाने के लिए बौद्ध धार्मिक संघ को भिक्षुसंघ कहा गया है।

'मज्झिम निकाय' में संघ शब्द राजनीतिक संघ के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] यहां पर वज्जियों का संघ-राज्य बताया गया है। वज्जि-संघ लिच्छवि और विदेह गणराज्यों ने मिलकर बनाया था।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य में संघ शब्द का प्रयोग अराजनीतिक और राजनीतिक संस्थाओं के लिए हुआ है। परन्तु हम सिद्ध कर चुके हैं कि रामायण में संघ शब्द साधारण समूह के अर्थ में प्रयुक्त मिलता है और पाणिनि ने भी संघ शब्द का सामान्य अर्थ—समूह ही बताया है।

---

१. चतुर्वर्ग भिक्षुसंघ पञ्चवर्ग भिक्षुसंघ, दशवर्ग भिक्षुसंघ विंशतिवर्ग भिक्षुसंघ।
महावग्ग ९–४–१

२. इमे सम पि हि भो गोतम संघानम् गणानम् सेयथिदम् वज्जिनम् मल्लानम्।
मज्झिम निकाय १–४–५–३५

अध्याय ५

आदि संस्थाएँ

मानव का उत्थान कहाँ से और किस प्रकार आरम्भ हुआ, यह विषय ऐतिहासिक क्षेत्र से बाहर है, क्योंकि इतिहास इससे हजारों वर्ष बाद आरम्भ होता है। इसलिए इस विषय में सभी विद्वानों ने अनुमान और कल्पना से काम लिया है। मार्क्स इस उत्थान का मूल अर्थ को मानता है, रूसो इच्छा को मानता है, परन्तु भारतीय दर्शन इसका मूल धर्म, अर्थ और काम (इच्छा) तीनों को मानता है।[1] अतः भारतीय दर्शन न तो मार्क्स के अर्थवाद का विरोध करता है, और न रूसो के इच्छावाद का, परन्तु वह इनका महत्व आंशिक मानता है। महाभारत के अनुसार धर्म, अर्थ, काम में धर्म का महत्त्व उच्चतम है। कौटिल्य अर्थ का महत्त्व सर्वोच्च मानता है। परन्तु सोमदेव सूरि ने दोनों मतों का समन्वय बड़े अच्छे ढंग से किया है। उसके अनुसार धर्म, अर्थ और काम में धर्म का महत्त्व सर्वाधिक है, और अर्थ का महत्व धर्म से कम परन्तु काम से अधिक है, परन्तु यदि व्यक्ति की परिस्थितियाँ तीनों की साधना के लिए पर्याप्त समय न दे सकें तो केवल अर्थ की ही साधना करनी चाहिये, क्योंकि धर्म और काम दोनों का मूल अर्थ ही है।[2]

अर्थ-वाद के अनुसार मानव का उत्थान अर्थ और उसके उत्पादन के साधनों से आरम्भ होता है। जैसे-जैसे उत्पादन के साधन बदलते जाते हैं, उसके अनुसार ही मानव की परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं, और तदनुसार ही मनुष्य के विचारों में परिवर्तन आता जाता है। भारतीय दर्शन इसको आंशिक रूप में सत्य मानता है। क्योंकि उसके अनुसार मानव के उत्थान के कारणों में अर्थ का भी स्थान है।

---

१. यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः।
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एव स्वयम्भुवा॥ महाभारत शान्तिपर्व ५९–२९, ३०

२. धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः गरीयान् कालसहत्वे पुनरर्थ एव।
धर्मकामयोरर्थमूलत्वात्। नीतिवाक्यामृत

इच्छावाद के अनुसार मनुष्य जो कुछ करता है उसकी प्रेरणा उसको इच्छा से मिलती है। पहले मनुष्य किसी वस्तु की इच्छा करता है, फिर उसकी प्राप्ति के साधन खोजता है, फिर उन साधनों की सहायता से कर्म करके इच्छित वस्तु के प्राप्त करने का प्रयास करता है। इसलिये कर्म की प्रेरणा का मूल इच्छाशक्ति है और इच्छावाद के अनुसार यही मानव के उत्थान का मूल कारण है। भारतीय दर्शन इसको भी आंशिक रूप से सत्य मानता है, क्योंकि उसके अनुसार मानव-उत्थान के कारणों में काम (इच्छा) का भी स्थान है।

परन्तु उपर्युक्त दोनों कारणों से अधिक महत्व, भारतीय दर्शन के अनुसार, मानव-उत्थान में धर्म का है। अतः हमको पहले यह देखना उचित है कि धर्म है क्या।

सर्वप्रथम मनुष्य के हृदय में कोई इच्छा उत्पन्न होती है। वह इच्छा उत्पन्न होते ही बुद्धि-कोष में जाती है। बुद्धि उसका विश्लेषण करके उसको निश्चय के रूप में परिवर्तित कर देती है। इस निश्चय के अनुसार इन्द्रियाँ कर्म करती हैं और कर्म-फल से इच्छा की तृप्ति होती है। इस प्रकार मनुष्य का प्रत्येक कार्य मन से आरम्भ होकर मन ही पर समाप्त हो जाता है, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ—ये तीनों मिलकर प्रत्येक कार्य को पूर्ण करती हैं। मन से काम (इच्छा), बुद्धि से निश्चय और इन्द्रियों से अर्थ की उत्पत्ति होती है। बुद्धि बहुत सी इच्छाओं को दबा देती है, और केवल उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए इन्द्रियों को प्रेरित करती है, जिनको वह उचित समझती है। बिना बुद्धि की प्रेरणा के इन्द्रियाँ कर्म विशेष में अग्रसर नहीं होतीं। इसी कारण मानव-कृत्य में बुद्धि का महत्व अधिक माना जाता है। मनुष्य ने जो कुछ भी उन्नति की है, उसका कारण, उसमें अन्य प्राणियों की अपेक्षा बौद्धिक शक्ति का अधिक होना ही है। अतः मानव के उत्थान में जितना महत्त्व बुद्धि का है, उतना अन्य कारणों का नहीं।

मनुष्य ने प्रकृति को ध्यान से देखा तो पाया कि प्रकृति का प्रत्येक कार्य कुछ निश्चित नियमों पर चल रहा है। अतः उसने प्राकृतिक नियमों की खोज के आधार पर अपनी शक्ति का विकास आरम्भ किया। मनुष्य जो अनुभव प्राप्त करता है, उसके आधार पर उच्च बुद्धि की सहायता से कुछ तत्सम्बन्धी नियम बना लेता है। अतः मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, तदनुसार अनुभूति के आधार पर उच्च बुद्धि के द्वारा कुछ विधियां बनाता गया, और ये विधियां पीछे आनेवालों का मार्ग प्रदर्शन करने लगीं। अनुभूति के आधार पर शुद्ध बुद्धि द्वारा जो विधियां बनायी गयीं, उनकी सत्यता और उपयोग को देखकर, पीछे आनेवाली पीढ़ियों ने उन पर विश्वास किया, और उनका पालन करना मानव-उत्थान के लिए आवश्यक समझा। ये विधियां

ही भारतीय साहित्य में धर्म नाम से कहीं गयीं, जिनकी उत्पत्ति शुद्ध बुद्धि से हुई थी।

परन्तु इस प्रकार की विधियां बनाने के लिए जिस उच्च कोटि की तथा शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता होती है वह जन साधारण में नहीं होती है। इसलिए जन साधारण के कल्याण के लिए इन विधियों को बनाने तथा समयानुसार परिवर्तित करने का कार्य केवल सर्वोच्च विद्वानों तथा मनीषियों को सौंपा गया। चूंकि इन विधियों का कठोरता से पालन करने में ही समाज का उत्थान निहित था, इसलिए भारतीय दर्शन में मानव-उत्थान के मूल कारणों में प्रथम स्थान धर्म को ही दिया गया।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, मनुष्य का प्रत्येक कार्य मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा सम्पन्न होता है। हम देख चुके हैं कि मन से काम (इच्छा), बुद्धि से धर्म (विधि) और इन्द्रियों से अर्थ की उत्पत्ति होती है। अतः काम, धर्म और अर्थ के सहयोग से ही मानव-उत्थान का आरम्भ भारतीय दर्शन में माना गया है। महत्व के अनुसार इनका क्रम धर्म, अर्थ और काम बनाया गया जिसको त्रिवर्ग कहा जाता है।[1]

इस अध्याय के प्रकरण (अ) में हमने मानव-शक्तियों के विकास की आरम्भिक अवस्था का चित्र दिया है। अग्नि और विश शब्दों के यथार्थ भाव का उल्लेख करते हुए, इस प्रकरण में कुटुम्ब, वर्ण, विश, सभा, समिति और धर्म की उत्पत्ति पर विचार किया गया है।

प्रकरण (आ) में कुटुम्ब, विश, सभा, समिति आदि के संगठनों और कार्यों पर विचार किया गया है। राज्य की उत्पत्ति से पहले अराजक और वैराज्य अवस्था का भी उल्लेख करते हुए धर्म, अर्थ और काम का सामाजिक विकास में सहयोग दिखलाया गया है।

प्रकरण (इ) में राज्य तथा राजा की उत्पत्ति पर विचार करते हुए आदर्श शासन की कल्पना का चित्र देवजगत की शासन-व्यवस्था के रूप में दिखाया गया है। वैदिक कालीन राज्यसभा के अधिकार, राजा के निर्वाचन तथा राजा के अधिकार और कर्तव्यों का विवेचन करते हुए, वैदिक कालीन राजा के विषय में आधुनिक विद्वानों के मतों पर भी विचार किया गया है।

प्रकरण (आ) में स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार इस त्रिवर्ग को साथ लेकर भारतीय समाज आगे बढ़ा था।

प्रकरण (ई) में वैदिक कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं

---

[1] त्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः।
र्गं इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा ॥ शान्तिपर्व ५९–२९, ३०

पर दृष्टिपात करते हुए अन्य विद्वानों के तत्सम्बन्धी मतों की समालोचना की गई है। विश और समिति के लोप के यथार्थ कारणों को प्रकट करने का प्रयास भी किया गया है।

वास्तव में इस अध्याय में हमारे विचार अधिकांश मौलिक ही हैं। विश, सभा, समिति, राज्यसभा और वैदिक कालीन राजा के सम्बन्ध में हमारे विचार आधुनिक अन्य विद्वानों के विचारों से बिल्कुल मेल नहीं खाते।

(अ) आदिकालीन संस्थाओं के अस्तित्व के प्रमाण

मनुष्य ने जब सर्वप्रथम संसार को देखा होगा, तब तो अवश्य ही उसमें पशुबल का महत्व पाया होगा। मनुष्य की शारीरिक शक्ति से अधिक शक्तिशाली अनेक जीव सृष्टि में दिखाई देते थे, जो निरन्तर अपने से निर्बलों का संहार करते रहते थे, यह देखकर मनुष्य का ध्यान शक्ति के महत्व की ओर गया। उसने अपनी शक्तियों पर विशेष चिन्तन किया और अपने में बौद्धिक शक्ति अन्य प्राणियों से अधिक पायी। अतः अपनी बौद्धिक शक्ति के विकास और उपयोग की ओर उसका ध्यान गया। उसने चिन्तन किया और सूर्य के प्रकाश को अपनी जीवन-शक्ति का विशेष आधार समझा। सर्वप्रथम सूर्य के रूप में उसको अग्नि के दर्शन हुए। तत्पश्चात् उसने दावाग्नि के रूप में पृथ्वी पर ही अग्नि को पा लिया, और अपनी बुद्धि की सहायता से उसकी उत्पत्ति तथा उपयोग करने लगा। उसके विचार में अग्नि की शक्ति और उसका महत्व अत्यधिक प्रतीत हुए और वह अग्नि की शक्ति को अपनी शक्ति से उच्चतर मानकर उसको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगा। इसलिए वेद का आरम्भ अग्नि और उसकी प्रशंसा से होता है।[1]

अग्नि की शक्ति के खोजने के पश्चात् मनुष्य ने प्रकृति के अन्य तत्वों पर भी ध्यान दिया और जल, वायु, विद्युत् आदि में भी महान् शक्तियों का अवलोकन किया। मानव-उत्थान में इन शक्तियों का विशेष महत्व जानकर, इनको वरुण, वायु, इन्द्र आदि अनेक नाम देकर, मनुष्य इन शक्तियों में श्रद्धा और विश्वास रखने लगा। प्रकृति के सभी कार्य विधिवत् होते देखकर, उसें उनमें विधि की प्रधानता का बोध हुआ। इसीलिए वेदों में विभिन्न स्थानों पर ब्रह्म शब्द विधि अथवा मंत्र, और ब्रह्मा शब्द विधि का ज्ञान रखने वाले विधिवेत्ता के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[2]

---

१. अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋग्वेद १–१–१

२. श्री रामधारी सिंह दिनकर कृत संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ८४.

मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है। अतः वह रक्त-सम्बन्ध के कारण कुटुम्ब को ही अपनी सर्वप्रथम संस्था बना कर रहने लगा। परन्तु उस समय उसके सामने भोजन की समस्या न थी। यदि मान भी लिया जाय कि वह आरम्भ से ही मांसाहारी था, तब भी बन्दरों की भाँति वह फलाहारी भी अवश्य होगा, और बन्दरों की भाँति उसमें आरम्भ से ही इतनी स्वाभाविक बुद्धि भी होगी कि वह खाने योग्य फलों को चुन सके। जन-संख्या कम रहने और जंगलों की अधिकता के कारण, उसको पर्याप्त फलों की उपलब्धि में कठिनाई नहीं होगी। इसलिए आरम्भ में उसके सामने आर्थिक समस्याएं न थीं। परन्तु मनुष्य से बलवान् अनेक पशु होने के कारण, अपनी रक्षा का प्रश्न उसके सम्मुख अवश्य उपस्थित हुआ और वह गृह बनाकर रहने लगा। अपने अनुभव और अवस्था के कारण वयोवृद्ध पिता ने ही गृहपति का पद ग्रहण किया।

वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद माना जाता है। अतः मनुष्य के उत्तरोत्तर विकास का अनुमान ऋग्वेद के आधार पर किया जा सकता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल से ही विदित होता है कि यज्ञ करने के लिए बहुत से मनुष्य एकत्रित हुआ करते थे; उद्गाता गान करते थे, स्तोता स्तुति करते थे और अन्य ब्राह्मण उनको आदेश देते थे।[1] इसी प्रकार यज्ञ को सर्वत्र सामूहिक कार्य के रूप में वर्णित किया गया है। इससे अनुमान होता है कि बहुत से गृह एक स्थान पर बनाकर वे लोग जनसमुदाय के रूप में रहते थे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही ब्रह्मणस्पति और सदसस्पति शब्द भी मिलते हैं।[2] इससे विदित होता है कि वे लोग सभा के रूप में भी एकत्र होते थे और विद्वानों के नेता तथा सभापति की भी नियुक्ति होती थी।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल में ही हमको विश्पति शब्द भी मिलता है, जो कि अग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3]

इस मंत्र में कहा गया है कि हे अग्नि, आपको देवताओं ने मनुष्य के हित के लिए प्रथम मनुष्य रूप में विश्पति बनाया। इस कथन को समझने के लिए अग्नि और विश् शब्दों को भली प्रकार समझने की आवश्यकता है। वैदिक और पौराणिक

---

१. गायन्ति त्वाम् मंत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वशमिव येमिरे ॥ ऋग्वेद १–१०–१

२. मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्‌ मर्त्यस्य ।
रक्षाणो ब्रह्मणस्पते ॥ ऋग्वेद १–१८–३
सदसस्पतिमद्‌भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधा मयासिषम् ॥ ऋग्वेद १–१८–६

३. त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्नहुषस्य विश्पतिम् । ऋग्वेद १–३१–११

साहित्य का यथार्थ भाव समझने के लिए एक बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है । श्रीमद्भागवत ११–३–४४ में कहा गया है कि जिस प्रकार बच्चों को सरलता के लिए नाना प्रकार के उदाहरण, कथाएं आदि कहकर समझाया जाता है, उसी प्रकार वेदों में यथार्थ भाव को समझाने के लिए बहुत सी कथाएं परोक्ष रूप मे कही गयी हैं ।[1] कौटिल्य ने इस परोक्षवादी शैली को समझकर ही लिखा है कि इन्द्र की मंत्रिपरिषद् में एक सहस्र ऋषि सदस्य थे, इनको ही इन्द्र की आंखें कहा गया है, इसीलिए वह दो आंखों वाला होने पर भी सहस्राक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[2] इस परोक्षवादी शैली की ओर संकेत करते हुए महाभारत के ग्रन्थकार ने लिखा है कि ब्राह्मणोचित लक्षणों से युक्त, विद्यावान् और समदर्शी ब्राह्मणों को ब्रह्मा कहा गया है ।[3] इसलिए 'परोक्षवादो वेदोऽयम्' (वेद परोक्षवादी है) को ध्यान में रखते हुए ही, हमको वैदिक और पौराणिक साहित्य पर विचार करना चाहिए ।

यजुर्वेद १२–१८ के अनुसार सबसे प्रथम आकाश में विद्यमान अग्नि 'सूर्य' है । दूसरी अग्नि हममें से वेदों का विद्वान् है । तीसरी अग्नि जल में बड़वानल है, जो कि विद्यमान मनुष्यों में सबसे अधिक विचारवान्, स्वयं नित्य तेज से प्रकाशमान पुरुष है । उसको उत्तम रीति से धारण करने में समर्थ प्रजाजन उसकी स्तुति करते हैं ।[4]

इसी को ऋग्वेद २–९–११ और यजुर्वेद ११–३६ में अधिक स्पष्टतः कहा गया है कि सबसे अधिक वसुमान्, ऐश्वर्यवान्, सहस्रों प्रजाओं का पालन-पोषण करने में समर्थ, शुद्ध सत्य वाणी बोलने वाला, अखण्डित व्रतों द्वारा उत्कृष्ट, मतिमान् पुरुष अग्नि कहलाने योग्य है ।[5]

साथ ही यजुर्वेद २७–३ में कहा गया है कि अग्नि को ब्राह्मण लोग वरण करते

---

१. परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासना ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥ भागवत ११–३–४४

२. इन्द्रस्य हि मंत्रिपरिषदृषीणां सहस्रम् । स तच्चक्षुः ।
तस्मादिमं द्वयक्षं सहस्राक्षमाहुः ॥
कौटिल्य अर्थशास्त्र १–१५–६०–६२

३. विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः ।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ महाभारत शान्तिपर्व ७६–२

४. दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरेतस्वाधीः ॥ यजुर्वेद १२–१८

५. अदब्धव्रतद्युमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वो अग्निः ।
ऋग्वेद २–९–११, यजुर्वेद ११–३६

है।[1] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण अर्थात् विधिवेत्ता लोग विद्वान्, बुद्धिमान् और ऐश्वर्यवान् पुरुष को अग्नि अर्थात् विश्पति बनाते थे।

विश शब्द का अर्थ समझने के लिए हमको विश की उत्पत्ति पर ध्यान देना आवश्यक है। बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ ब्राह्मण में इस विषय में एक मन्त्र मिलता है, जिसका अर्थ निम्नांकित है—सर्वप्रथम केवल ब्रह्म ही था। उससे काम न चला। इसलिए पालनादि कार्य के लिए क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति की गयी, जो पृथ्वी पर क्षत्रिय नाम से कहे गये और देवजगत में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान इत्यादि नामों से कहे गये। फिर भी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों से काम न चला। इसलिए विश (वैश्यवर्ण) की उत्पत्ति की गयी। इस वर्ण वाले देवजगत में गण नाम से कहे गये, जैसे अष्ट वसुगण, एकादश रुद्रगण, द्वादश आदित्यगण, त्रयोदश विश्वेदेव गण और उनंचास मरुद्गण। इससे भी जब काम नहीं चला तब सेवा के लिए शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की गयी। देवलोक में पोषणकारिणी पृथ्वी शूद्रवर्ण की मानी गयी। इस प्रकार चारों वर्णों की उत्पत्ति करने पर भी व्यवस्था नहीं चली। सब में मनमाना करने की प्रवृत्ति बनी रही। क्षत्रिय प्रबल होकर अन्य दुर्बल जातियों को सताने लगे। तब चारों वर्णों के संचालन के रूप में धर्म की उत्पत्ति की गयी। धर्म की अधीनता में रहकर चारों वर्ण अपना काम ठीक-ठीक करने लगे और समाज की सब व्यवस्था ठीक हो गयी।[2]

उपर्युक्त वर्णन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं —

(१) हिन्दू समाज के समान ही देवजगत में भी वर्णव्यवस्था की कल्पना की गयी, अथवा देवजगत की वर्णव्यवस्था की कल्पना को आदर्श रूप में रखकर हिन्दू समाज में वर्णव्यवस्था बनायी गयी।

(२) वैदिक काल में मनुष्यों को शत्रुओं का भय अधिक रहने के कारण सर्वप्रथम रक्षा की विशेष व्यवस्था करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। ऋग्वेद प्रथम मण्डल में ही अनेक

---

१. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणाः—यजुर्वेद २७–३.

२. ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किन्च। स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथ अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः। बृहदारण्यकोपनिषद्, चतुर्थ ब्राह्मण

मंत्रों में रक्षा के लिए प्रार्थना की गयी है। इससे विदित होता है कि तत्कालीन आर्यों को अनार्यों से भय बना हुआ था।[1]

(३) कालान्तर में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों से ही समाज का काम न चला क्योंकि इस समय तक आर्यों को कृषि, पशुपालन, शिल्पकला[2] आदि उद्योगों का ज्ञान हो गया था। अतः इन व्यवसायों में समाज के कुछ योग्य व्यक्तियों को नियुक्त करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। इसलिए विश् बनाये गये। यहाँ पर स्पष्टतः विश शब्द वैश्य वर्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है, और यह भी स्पष्ट है कि इनकी उत्पत्ति समुदायों के रूप में की गयी, क्योंकि उदाहरणस्वरूप वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत आदि गणों का उल्लेख किया गया है जो कि क्रमशः आठ, ग्यारह, बारह, तेरह और उनंचास देवताओं के गणों अर्थात् समुदायों के रूप में हैं। वैश्य वर्ण का मुख्य कार्य कृषि, वाणिज्य और पशुपालन है।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि ये कार्य आरम्भ में सामूहिक रूप से किये जाते थे। अतः विश शब्द से व्यावसायिक संघों अथवा आर्थिक संस्थाओं का बोध होता है।

(४) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्णों की उत्पत्ति से भी काम न चला। क्योंकि आर्थिक संस्थाओं के बन जाने पर श्रमिकों की विशेष आवश्यकता पड़ने लगी। तब सेवा के लिए शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की गयी।

(५) धर्म की उत्पत्ति चारों वर्णों के अधिकार और कर्तव्य सम्बन्धी विधियों के रूप में हुई।

भागवत में भी विश् शब्द वैश्यवर्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है।[4]

---

१. उद्ब्रुवन्तु नोनिदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद्‌दुवः।
ऋग्वेद १–४–५
मा नो मती अभिद्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः। ईशानो यवया वधम्॥
ऋग्वेद १–५–१०

२. सुसस्याः कृषीस्कृधि। यजुर्वेद ४–१०
सुरूपकृतनुभूतये सदुधामिव गोदुहे। जुहुमसि द्यवि द्यवि॥ ऋग्वेद १–४–१
ये धीवा नो रथकारा कर्मारा ये मनीषिणः। अथर्ववेद ३–५–६

३. वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥ भागवत १०–२४–२०
कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। अर्थशास्त्र १–४–१

४. विप्र–क्षत्रिय–विट्–शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात् पुरुषाज्जाता य आत्माचार लक्षणाः॥ भागवत ११–१७–१३

चतुर, शुद्ध सत्य वाणी बोलनेवाला मतिमान् पुरुष होता है। इस प्रकार समाज की आहवनीय अवस्था से दक्षिणाग्नि अवस्था बन गयी। इन विद्वानों का समाज में सम्मान होने लगा और इनको गृहपतियों से आतिथ्य तथा दक्षिणा (भेंट) भी मिलने लगी। कालान्तर में जनसंख्या की वृद्धि और विस्तार होने पर यह उचित समझा गया कि इन विद्वानों की एक स्थायी सभा बना दी जाय। इस प्रकार दक्षिणाग्नि अवस्था सभा में परिणत हो गयी। सभा को एक स्थान पर स्थायी बना देने के कारण, आवश्यकता पड़ने पर इस सभा की शाखाओं के रूप में यत्र-तत्र समितियाँ बनने लगीं। अतः सभा की अवस्था विकसित होकर समिति की अवस्था में आ गयी। भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक समितियाँ बन जाने के कारण यह प्रथा चल पड़ी कि किसी भी समिति के आमंत्रण पर अन्य समितियों के विद्वान् उपस्थित होकर सभा के रूप में सारे समाज से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करते थे। यह रूप एक प्रकार से कार्यपरिषद का ही रूप था, जिसमें किसी भी समिति के आमंत्रण पर विद्वान् लोग निर्दिष्ट स्थान पर एकत्र होकर अपने सर्वसम्मत निर्णय से समाज में व्यवस्था बनाये रखते थे। वे ही समाज के नेता थे। इस समय तक समाज में चारों वर्णों की उत्पत्ति हो चुकी थी परन्तु राज्य की उत्पत्ति अभी नहीं हुई थी।

यजुर्वेद २०–२५ में प्रार्थना है कि जिस लोक में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण एकमत से मिले हुए रहते हैं, जहाँ देवता (श्रेष्ठ पुरुष) अग्नि (विद्वान्) के साथ निवास करते हैं, मैं उस पवित्र लोक को प्राप्त करूँ।[1] इससे सिद्ध होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय एकमत होकर सामूहिक रूप से समाज-व्यवस्था चलाते थे।

इस प्रकार वैदिक काल की मुख्य संस्थाओं—कुटुम्ब, विश, सभा और समिति का शनैः-शनैः निर्माण हुआ। अब इनके गुण और कार्यों पर विचार किया जायगा।

(आ) आदिकालीन संस्थाओं के गुण और कर्म

मनुष्य ने सर्वप्रथम जो संस्था बनायी, वह स्वाभाविक सामाजिक संस्था थी—कुटुम्ब, जिसका आरम्भ पति-पत्नी और सन्तान से होता है। प्रकृति पर दृष्टि डालने से, जहाँ एक ओर पशुओं में नर-मादा के स्वच्छन्द विहार की प्रवृत्ति पायी जाती है, वहाँ ऐसे भी पशु-पक्षी पाये जाते हैं जिनमें पति-पत्नी का आदर्श प्रेम होता है। सिंह अपनी सिंहनी और सन्तान के साथ परिवार के रूप में रहता है, सर्प और सारस में पति-पत्नी का आदर्श प्रेम देखा जाता है। मानव हृदय में

---

१. यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह ।
तंल्लोकम्पुण्यम्प्रज्ञेषु यत्र देवाः सहाग्निना ॥ यजुर्वेद २०–२५.

वात्सल्य प्रेम आज भी अपने आदि स्वरूप में आभासित होता है। इसलिए हमारा यह कहना अनुचित न होगा कि आरम्भ में मनुष्य में पति-पत्नी का स्वाभाविक प्रेम और वात्सल्य प्रेम था, जिसने कुटुम्ब की संस्था को जन्म दिया। हो सकता है कि मनुष्य आरम्भ में मांसाहारी हो, परन्तु वह बन्दर के समान आरम्भ से ही फलाहारी अवश्य था। जन-संख्या की कमी और जंगलों की अधिकता के कारण, उसको खाद्य-पदार्थों की कमी न थी। उसके सामने रक्षा का प्रश्न अवश्य था क्योंकि उससे बलवान् अनेक पशु उसके चारों ओर रहते थे। गृह-निर्माण और अग्नि के उपयोग ने इस प्रश्न को हल कर दिया था। इसलिए वह कौटुम्बिक अवस्था में सुखी था। ऋग्वेद में यज्ञ का वर्णन और सोम का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन मनुष्य सब मिल-जुलकर आनन्द से जीवन बिताते थे। यदि खाद्य पदार्थों का अभाव प्रतीत होता तो उसके प्रभाव से परस्पर द्वेष तथा वैमनस्य उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। श्री एस० ए० डांगे ने तत्कालीन मनुष्यों के लिए जीविका की समस्या को अत्यन्त कठिन माना है।[1] क्योंकि वे यह विचार न कर सके कि मनुष्य आरम्भ से ही फलाहारी भी था। श्री एस० ए० डांगे ने प्रमाणस्वरूप कहा है कि वेदों में यत्र-तत्र धन और प्रजा के लिए प्रार्थनाएं हैं।

तत्कालीन मनुष्य के लिए धन मुख्यतः अन्न और पशु थे, क्योंकि जिस समय की ये प्रार्थनाएँ हैं, उस समय मनुष्य कृषि[2] और पशुपालन करने लगा था। ऋग्वेद प्रथम मण्डल में ही गो-दोहन का उल्लेख है।[3] कृषि और पशुपालन के लिए वर्षा की अत्यन्त आवश्यकता रहती है, अतः धन के रूप में वर्षा के लिए इन्द्र, विष्णु आदि देवताओं से प्रार्थना करना, आस्तिक मनुष्य के लिए स्वाभाविक था। यदि जीविका दुर्लभ होती तो प्रजा (सन्तान वृद्धि) के लिए प्रार्थना करना अनुचित प्रतीत होता। सुखी मनुष्य का प्रजा और पशुओं की वृद्धि के लिए प्रार्थना करना भी अस्वाभाविक नहीं।

तत्कालीन दूसरी संस्था विश थी, जो आर्थिक कारणों से आर्थिक संघ के रूप में उत्पन्न हुई थी, और इन्हीं कारणों से समाज में वैश्य तथा शूद्र वर्णों की उत्पत्ति हुई। विश का सामूहिक संस्था के रूप में उत्पन्न होना सिद्ध करता है कि तत्कालीन समाज की भावना सामूहिक उत्पादन की थी। अथर्ववेद ३–५–६ और ३–५–७ में राजा अपने मंत्री से कहता है —हे पर्ण, तू मुझ राजा के लिए बुद्धिमान् और मननशील

---

१. श्री एस० ए० डांगे, इण्डिया फ्राम प्रीमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी, पेज ३६
२. सुसस्याः कृषीस्कृधि। यजुर्वेद ४–१०
३. ऋग्वेद १–४–१

(रथकाराः) रथों को बनाने वाले, (कर्माराः) धातु के कारीगर, शिल्पी, सूत, ग्रामणी आदि को मेरे चारों ओर उपस्थित कर।[1] इससे प्रतीत होता है कि रथकार, शिल्पी, सूत, कृषक आदि व्यवस्थाओं में लगे हुए व्यक्ति समुदाय अथवा विश बनाकर कार्य करते थे, क्योंकि उपर्युक्त मंत्र में रथकाराः, कर्माराः, सूताः आदि शब्द बहुवचन में प्रयोग किये गये हैं, तथा इनमें से बुद्धिमान् और मननशील व्यक्तियों को आमंत्रित किया गया है, जो कि निर्वाचन की ओर संकेत करता है। राजा का इन लोगों को आमंत्रित करना सिद्ध करता है कि इन आर्थिक विशों का राजनीतिक कार्यों में महत्वपूर्ण सहयोग था। अथर्ववेद ३–४–२ में स्पष्टतः कहा गया है कि विश राजा को चुनते थे।[2]

मुख्य राजनीतिक संस्थाएं सभा और समिति थीं। अथर्ववेद ७–१२–१ में कहा गया है कि सभा और समिति प्रजापति की दो कन्याओं के समान हैं। वे परस्पर एकमत होकर राजा का पालन करती हैं और राजा को आवश्यक परामर्श देती हैं। राजा दोनों को एक साथ सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे पितर, आप एकत्रित लोगों के बीच में मैं उत्तम प्रकार से अपना अभिप्राय प्रकट करूँ।[3] इस मंत्र से विदित होता है कि सभा और समिति दो भिन्न-भिन्न संस्थाएं थीं, परन्तु दोनों का एकत्रित सत्र होता था और वे दोनों ही राज्य-व्यवस्था में समान रूप से महत्त्वशाली थीं, राजा सदैव उनके निर्णय के अनुसार चलता था। हम यह भी देख चुके हैं कि अथर्ववेद के अनुसार सभा ही विकसित होने के बाद समिति के रूप में प्रकट हुई थी। अथर्ववेद १–३०–४ में कहा गया है कि सभासद पाँच प्रकार के व्यक्ति होते थे (१)—प्रयाजाः, (२) अनुयाजाः, (३) हुतभागाः, (४) अहुतादः और (५) पंचप्रदिशः।[4] इसलिए यह देखना आवश्यक है कि इन शब्दों का क्या तात्पर्य था। प्रयाजाः शब्द का अर्थ

---

१. ये धीवानो रथकाराः कर्माराः ये मनीषिणः।
उपस्तान् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥
ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तान् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अथर्ववेद ३–५–६, ७

२. त्वां विशो वृणतां राज्याय...... अथर्ववेद ३–४–२

३. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छ उप मा स शिक्षाचारु वदानि पितरः संगतेषु॥ अथर्ववेद ७–१२

४. प्रयाजा उतवानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः।
प्रदिशो विभक्त.स्तान् वो अस्मै सत्रसदः वृणोमि॥ अथर्ववेद १–३०–४

यज्ञ करने वाले और अनुयाजा: शब्द का अर्थ यज्ञ में सहयोग देने वाले होता हैं। अतः हमको पहले यज्ञ शब्द का तात्पर्य समझना आवश्यक है ।

गीता ३–९ में कहा गया है कि यज्ञ से अतिरिक्त अन्य कर्म ही मनुष्य को बन्धन में बाँधते हैं, यज्ञकर्म नहीं बाँधते, इसलिए मनुष्य जो कुछ भी करे यज्ञ रूप में करे।[1] इसलिए यज्ञ के भाव में मनुष्य के सभी धर्मानुकूल कर्म आ जाते हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए गीता ३–२५ में कहा गया है कि मनुष्य को लोक-संग्रह के लिए कर्म करना चाहिए।[2] इसके अनुसार लोकसंग्रहार्थ कर्म यज्ञ की परिधि में आ जाते हैं। इसी को गीता ४–२८ में द्रव्य-यज्ञ कहा गया है।[3] उपर्युक्त तीनों श्लोकों का भाव एकत्रित करने पर यह है कि द्रव्य-यज्ञ वे कार्य हैं जिनको जनहित की भावना से सहयोग द्वारा किया जाय ।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र ३–१४ में सम्भूय-समुत्थान (सामूहिक रूप में किये गये काम) के नियमों में यज्ञ का भी उल्लेख किया है। इसी अध्याय के वाक्य ३२ में कहा गया है कि यज्ञ करने वाले पुरुष अपने-अपने काम में आनेवाली प्राप्त वस्तुओं के अतिरिक्त अपने पूर्व निश्चय के अनुसार वेतन को समान भागों में बाँट लें।[4] इससे प्रकट होता है कि कौटिल्य के समय में भी यज्ञ को सामूहिक उत्पादन कार्य माना जाता था।

श्री एस० ए० डांगे ने लिखा है कि वैदिक काल में सामूहिक उत्पादन के कार्य को यज्ञ कहते थे, और यह अवस्था समाज में व्यक्तिगत सम्पत्ति, जातियों तथा राज्य की उत्पत्ति से पहले की थी।[5] श्री डांगे के ये यज्ञ सम्बन्धी विचार गीता के उपर्युक्त भाव को बहुत कुछ ग्रहण करते हैं, परन्तु गीता के अनुसार लोककल्याण की भावना

---

१. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।। गीता ३–९

२. सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वान् तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।। गीता ३–२५.

३. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ।। गीता ४–२८

४. याजकाः स्वप्रचारद्रव्यवर्गं यथासंभावितं वेतनसमं वा विभजेरन् ।
[अर्थशास्त्र ३–१४–३२

५. श्री एस० ए० डांगे, इण्डिया फ्राम प्रीमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी—
पेज ४० एन्ड ४७.

से स्वार्थरहित होकर कभी भी कोई कार्य किया जाय तो वह यज्ञ ही कहलाएगा।

अतः वैदिक काल में जो उत्पादन कार्य सामूहिक रूप से किये जाते थे, उनको यज्ञ कहते थे। हम यह भी देख चुके हैं कि सामूहिक उत्पादन में काम करने वाले व्यक्तियों के समुदाय को विश कहते थे। अतः विश के कार्यों को भी यज्ञ ही कहते थे। गीता में अनेक प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं, इसलिए यह द्रव्ययज्ञ ब्राह्मणों के देव-यज्ञों से भिन्न था।

यज्ञ का अर्थ सामूहिक उत्पादन कार्य मानते हुए, 'प्रयाजाः', वे लोग थे जो यज्ञ अर्थात् सामूहिक उत्पादन कार्य के संचालक थे और 'अनुयाजाः', वे लोग थे जो सामूहिक उत्पादन में कार्य करते थे। किसी भी कार्य को कौशल के साथ करने के लिए संचालकों की आवश्यकता होती ही है। वैदिक काल में इनको विशपति कहते थे। 'हुतभागाः' वे लोग थे जो यज्ञ-फल अर्थात् उत्पादित वस्तुओं में भाग लेने के अधिकारी थे।

'हुतभागाः' शब्द को प्रयाजाः और अनुयाजाः से भिन्न पाते हुए, हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते थे जो अन्य सामाजिक कार्यों में संलग्न रहते थे, पहले उत्पादन कार्य में भाग न लेते हुए भी, उत्पादित वस्तुओं में उनका भाग रहता था। सम्भवतः इस वर्ग के लोग धार्मिक कार्यों में संलग्न ब्राह्मण और रक्षा कार्य में संलग्न क्षत्रिय होते होंगे। 'अहुतादः' वे व्यक्ति थे जो न तो सामूहिक उत्पादन में कार्य करते थे और न उत्पादित वस्तुओं में उनको भाग मिलता था। इन व्यक्तियों को हम व्यक्तिगत कार्य करने वाले मान सकते हैं। इस प्रकार तत्कालीन समाज राज-नीतिक दृष्टि से प्रयाजाः, अनुयाजाः, हुतभागाः और अहुतादः में विभाजित था।

उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त सभासद् बनने का अधिकार पंच-प्रदिशों को भी था, क्योंकि प्रयाजाः, अनुयाजाः, हुतभागाः और अहुतादः के साथ ही पंचप्रदिशः को भी उपर्युक्त अथर्ववेद १–३०–४ में सभासद बताया गया है। इसी मंत्र में इनको "येषां पञ्च-प्रदिशो विभक्ताः" लिखा है, इससे प्रतीत होता है कि ये पञ्चप्रदिशः यत्र-तत्र विभक्त थे। महाभारत सभापर्व ५–८१ के अनुसार जनपद के प्रत्येक गाँव में शूरवीर, बुद्धिमान् और कार्यकुशल पाँच-पंच मिलकर जनहित के कार्य करते थे।[1] अतः पंचप्रदिशः शब्द से भी ग्रामों के प्रतिनिधि पंचों का भाव विदित होता है, क्योंकि ग्राम-समितियाँ यत्र-तत्र विभक्त थीं। अथर्ववेद ३–४–२ में पंचप्रदिशः शब्द का विशेषण

१. कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव ॥ महाभारत सभापर्व ५–८१

देवी (स्त्रीलिंग) कहा गया है,[1] जो कि समिति (स्त्रीलिंग) की ओर संकेत करता है। अथर्ववेद ३–५–७ में राजा अन्य राजकृत: और राजान: के साथ ही ग्रामीणियों को भी आमंत्रित करता है।[2] जिससे स्पष्ट होता है कि ग्राम के प्रतिनिधियों को राज्यसभा में निमंत्रित किया जाता था। इसलिए यह अनुमान लगाना अनुचित नहीं कि पंच-प्रदिश: शब्द ग्राम के प्रतिनिधियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद ३–४–२ के अनुसार पंचप्रदिश: राजा का निर्वाचन भी करते थे[2] और अथर्ववेद १–३०–४ के अनुसार राज्यसभा के समासद भी होते थे।[3] अत: हमारे विचार से पंचप्रदिश: ग्राम की समितियाँ थीं और ग्रामणी इनके प्रधान को कहते थे। इनकी समानता आधुनिक ग्रामपंचायतों से की जा सकती है।

अब हम राज्यसभा के संगठन पर पुन: विचार करते हैं। उपर्युक्त अथर्ववेद १–३०–४ के अनुसार इसके समासद पाँच प्रकार के व्यक्ति होते थे—प्रयाजा:, अनुयाजा:, हुतभागा:, अहुताद: और पंचप्रदिश:। साथ ही इन शब्दों का बहुवचन में प्रयोग किया गया है, जिससे विदित होता है कि ये प्रत्येक प्रकार के सदस्य एकाधिक संख्या में होते थे, जो कि अपने-अपने वर्गों में से चुने जाते होंगे। वर्ग शब्द गण का पर्याय है।[4] अत: उपर्युक्त पाँच वर्गों अथवा गणों का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व राज्यसभा में होता था। इसीलिए इस प्रकार के शासन को कालान्तर में गणराज्य कहने लगे थे। ये प्रतिनिधि अपने-अपने गणों का पृथक्-पृथक् प्रतिनिधित्व करते थे, अत: प्रत्येक वर्ग अथवा गण की एक पृथक् समिति होती थी और इस प्रकार राज्यसभा का संगठन उपर्युक्त पाँच गणों की पाँच समितियों द्वारा होता था। ये पाँचों समितियाँ एकत्रित रूप में सभा कहलाती थीं। इसीलिए सभा और समितियों को एक साथ सम्बोधित करना सम्भव था और वे एकमत होकर राजा को आदेश देती थीं।

अत: समिति एक ही वर्ग अथवा गण के प्रतिनिधियों की संस्था थी, जब कि सभा में सभी वर्गों अथवा गणों के प्रतिनिधि एकत्रित रूप में बैठते थे।

सभासदों का निर्वाचन करते समय इस बात का ध्यान अवश्य रखा जाता था कि अयोग्य व्यक्ति न चुना जा सके, क्योंकि ऋग्वेद ३–२७–९ में कहा गया है कि

---

१. त्वां विशो राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पन्च देवीः। अथर्ववेद ३–४–२

२. ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तान् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥ अथर्ववेद ३–५–७

३. येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि॥
अथर्ववेद १–३०–४

४. वीरमित्रोदय, पृष्ठ १२

विद्वान् ही अपनी धारणा, ज्ञानशक्ति और कर्म-सामर्थ्य के कारण सबसे वरण (निर्वाचन) करने योग्य, सबसे श्रेष्ठ होकर काम करे। वही सब पदार्थों और प्राणियों को अपने वश में धारण करता है, और प्रजा उस अपने पालक को पिता के समान धारण करती है और मानती है।[१] इसलिए ७-१२-१ में सभासदों को पितरः कहकर राजा द्वारा सम्बोधित किया गया है।[२]

आदि काल से ही राज्य की उत्पत्ति होने तक समाज दो विभिन्न अवस्थाओं से निकला है, जिनको अराजक और वैराज्य नाम दिया जाता है। अतः इन दोनों अवस्थाओं पर भी विचार कर लेना उचित है।

मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अवश्य ही प्राकृतिक विधियों पर चलता होगा। परन्तु प्रकृति पर दृष्टिपात करने पर मालूम होता है कि मछली आदि कुछ प्राणियों में बलवान् अपने सजातीय निर्बल को खा जाते हैं, और हाथी, बन्दर, चींटी आदि कुछ ऐसे प्राणी हैं जो अपने सजातीय से मिलकर रहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, परस्पर के सहयोग से ही उसने उन्नति की है, इसलिए यह मानना उचित है कि उसमें सहयोग की भावना आरम्भ से ही होगी। इसलिए अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वह परस्पर सहयोग से कार्य करते हुए, शान्तिपूर्वक रहता होगा। यह सहयोग की भावना मनुष्य के उत्थान के साथ-साथ बढ़ी, जैसा कि आर्यों के यज्ञादि सामूहिक कृत्यों से विदित होता है। श्री एस० ए० डांगे के मतानुसार अपनी इस अवस्था में मनुष्य सामूहिक रूप में अर्थोपार्जन करते थे और सामूहिक रूप से ही खाते-पीते थे। श्री एस० ए० डांगे ने इस अवस्था को अराजक राज्य कहा है।[3] इसके सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना हमने अध्याय ९ में की है।

तत्पश्चात् आर्यों ने शनैः-शनैः अपनी बौद्धिक और सामाजिक उन्नति के लिए विधियाँ बनायीं जिनको उन्होंने धर्म नाम की संज्ञा दी। इस समय तक रक्षात्मक और आर्थिक समस्याओं के कारण समाज में वर्ण-व्यवस्था बन चुकी थी, और सभा तथा समिति नामक राजनीतिक संस्थाओं का जन्म हो चुका था, जो कि सामाजिक समस्याओं और मानव-उत्थान पर विचार करती थीं। मनुष्य अपनी संतुलित मनोभावनाओं के कारण विधियों का पालन स्वभावतः करते थे। यह वह अवस्था थी जिसका भीष्मजी ने निम्न शब्दों में वर्णन किया है—

---

१. धिया चक्रे वरेण्यो भूतानां गर्भमादधे। दक्षस्य पितरं तना। ऋग्वेद ३-२७-९

२. येना संगच्छ उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु। अथर्ववेद ७-१२-१

३. श्री एस० ए० डांगे, इण्डिया फ्राम प्रीमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी। पेज १४०, १४१

सतयुग में न राजा था, न राज्य, न दण्ड था, न दण्ड देनेवाला; सब लोग धर्म से ही परस्पर सहायता करते हुए सुरक्षित थे।

सम्भवतः इसी अवस्था को श्री एस० ए० डांगे ने वैराज्य कहा है।[१] वैराज्य के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन हमने अध्याय ९ में किया है।

भीष्मजी के मतानुसार कालान्तर में मानव-हृदय में मोह जाग्रत हो गया। यह स्वाभाविक ही है कि कौटुम्बिक अवस्था में आने के बाद मनुष्य के हृदय में सन्तान के प्रति ममत्व की भावना जाग्रत हुई होगी और अपने कुटुम्ब के सदस्यों के प्रति उसके मन में मोह ने जन्म लिया होगा। मोह के कारण प्रिय-अप्रिय की भावना का जाग्रत होना भी स्वाभाविक ही है, और परिणामस्वरूप प्रिय वस्तु के लोभ और अप्रिय से घृणा का भाव भी उत्पन्न हुआ होगा। लोभ के कारण अप्राप्त प्रिय वस्तु की प्राप्ति की इच्छा अनायास ही आ जाती है, फलतः काम की उत्पत्ति स्वाभाविक है। इस प्रकार मानव-हृदय में मोह, लोभ और काम की वृद्धि हो गई, जिसके कारण मनुष्य का स्वभाव परिवर्तित हो गया और वह स्वार्थवश विधियों का उल्लंघन करने लगा, जिसके कारण दण्ड और दण्ड देनेवाले राज्य की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार भीष्मजी के मतानुसार समाज के वैराज्य से राज्य में परिणत होने के कारण मनोविकार हैं, परन्तु श्री एस० ए० डांगे वैराज्य से स्वराज्य में परिणत होने के कारण भी आर्थिक ही मानते हैं।[२] यहाँ पर हम श्री डांगे से असहमत हैं।

अतः हम तत्कालीन समाज पर धर्म, अर्थ और काम का प्रभाव निम्न प्रकार से देखते हैं।

आरम्भ में जब मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों को देवता मानकर स्तुति करता था, तब यमदण्ड के भय से वह किसी बुरे कर्म को करने से बचता रहा। यह भय ही उसको सन्मार्ग पर अग्रसर करने के लिये पर्याप्त था। जब मनुष्य का विश्वास देवी-देवताओं के प्रति कम होने लगा, तब भी वह कर्मफल में विश्वास रखकर परलोक के भय से पापकर्म करने से बचता रहा। परन्तु परलोक का भय प्रत्यक्ष न होने के कारण, हीन मनोवृत्ति के मनुष्यों को अधिक काल तक बुरे कर्मों से बचाने में असफल प्रतीत हुआ। तब सामाजिक विधियों की उत्पत्ति हुई और परस्पर के भय अर्थात् लोकापवाद से मनुष्य सामाजिक विधियों का उल्लंघन करने का साहस नहीं करता था। इस

---

३. श्री एस० ए० डांगे, इण्डिया फ्राम प्रीमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी, पृष्ठ १४२।
२. राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते। यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते। एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥
—महाभारत शान्तिपर्व १५—५, ६.

प्रकार धर्म ने दीर्घ काल तक बिना राजा और राज्य के ही समाज की रक्षा की। समाज में परस्पर के भय को ही लोकलाज कहते हैं। वर्तमान समय में भी लोकलाज के कारण भले मनुष्य बुरे कर्मों से बचने का प्रयत्न करते हैं।

काम (इच्छा) ने मनुष्य को अपनी शक्तियों के विकास की ओर अग्रसर किया। आज भी जो भौतिक उत्थान निरन्तर प्रगति करता जा रहा है, उसकी मूल प्रेरणा काम से ही प्राप्त हो रही है। भीष्मजी ने राज्य की उत्पत्ति का कारण भी काम को ही माना है।

अर्थ ने मनुष्य को अधिकाधिक सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध किये, तथा समाज का श्रम के आधार पर विभाजन किया। आज भी अर्थ के कारण ही समाज में गरीब—अमीर के वर्ग दिखाई दे रहे हैं।

(इ) जनतंत्र और राजतंत्र के आधार पर राजनीतिक विकास

हम देख चुके हैं कि राजा और राज्य की उत्पत्ति से पहले ही समाज में सभा और समितियाँ सामाजिक विधियों (धर्म) के द्वारा व्यवस्था रखती थीं। भीष्मजी के मतानुसार समाज की बहुसंख्यक जनता यमदण्ड के भय से, परलोक के भय से और लोकापवाद के भय से साधारणतः धर्म का पालन करती थी। परन्तु कालान्तर में चारित्रिक पतन के कारण ऐसे उद्दण्ड व्यक्ति भी उत्पन्न होने लगे जो उपर्युक्त तीनों भयों को नहीं मानते थे, अतः ऐसे व्यक्तियों को बुरे कर्मों से रोकने के लिए राजदण्ड की आवश्यकता प्रतीत हुई और इसी कारण राज्य की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की आवश्यकता केवल बुरे मनुष्यों के लिए है।

राज्य और राजा की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई और उन दोनों की उत्पत्ति के कारण भी भिन्न-भिन्न थे। राज्य की उत्पत्ति के कारण केवल आन्तरिक थे जब कि राजा की उत्पत्ति में बाह्य कारणों का प्रभाव अधिक पड़ा। भारतीय साहित्य के अनुसार पहले राज्य की उत्पत्ति हुई और उसके बाद राजा की।

महाभारत शान्तिपर्व में राज्य और राजा की उत्पत्ति के विषय में दो स्थानों पर प्रकाश डाला गया है। अध्याय ५९ के अनुसार ब्रह्माजी के द्वारा दण्डनीति अर्थात् प्रशासनिक विधियों के उत्पन्न किये जाने पर राज्य की उत्पत्ति हो गयी थी और मनु तथा उनके बाद कई प्रशासनाधिकारी हुए। परन्तु प्रथम राजा पृथु को बनाया गया था। शान्तिपर्व अध्याय ६७ के अनुसार जनता के उद्दण्ड व्यक्तियों पर नियंत्रण रखने के लिए जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों ने मिलकर यह नियम बनाया कि हम लोगों में जो भी निष्ठुर बोलनेवाला, भयानक दण्ड देनेवाला, परस्त्री-गामी तथा पराये धन का अपहरण करने वाला हो, ऐसे सब मनुष्यों को समाज से बहिष्कृत कर देना चाहिए। इस प्रकार

प्रथम प्रशासनिक विधियों की उत्पत्ति होने पर राज्य की उत्पत्ति हो गयी। परन्तु राजा की उत्पत्ति उसके बहुत समय बाद हुई। महाभारत की उपर्युक्त दोनों कथाओं का यथार्थ भाव यह है कि आत्मदर्शी मनीषियों ने जनता में से एक योग्य व्यक्ति को चुनकर राजा बनाया था। इन कथाओं में उल्लिखित ब्रह्मा और विष्णु शब्दों से आत्म-दर्शी ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियों की ओर संकेत किया गया है। अतः इन कथाओं के अनुसार राज्य की उत्पत्ति मानव के मनोविकारों और चारित्रिक पतन के कारण हुई तथा राजा की उत्पत्ति जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों द्वारा निर्वाचन से हुई। इन कथाओं पर विस्तृत विवेचना अगले अध्याय में की गयी है।

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण १–१४ में एक कथा मिलती है। सुरों और असुरों के संग्राम में सुरों की पराजय हो रही थी। तब सबने मिलकर विचार किया कि हम लोगों में कोई राजा न होने के कारण ही हमारी पराजय हो रही है। अतः उन्होंने अपने में से ही एक को राजा बनाने का निर्णय किया और सोम को राजा बनाया। इस कथा से भी निर्वाचन द्वारा ही राजा बनाना सिद्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण ३–४–२ में इसी कथा को निम्न प्रकार कहा गया है—देवताओं में भेद पड़ने से वे चार भागों में विभक्त हो गये और एक-दूसरे की अधीनता मानने को तैयार न हुए। उनके इस प्रकार विभक्त हो जाने पर असुर उनके बीच में घुस गये। देवताओं को यह बात मालूम हो गयी कि असुर हमारे बीच में आ गये हैं और अब हम पर आपत्ति आने वाली है। इसलिए उन्होंने सोचा कि हम सबको मिलकर एक को राजा बनाना चाहिए, जिससे कि उसके नेतृत्व में हम रह सकें। उन्होंने इन्द्र को अपना राजा बनाया और अपनी शक्तियाँ एक-एक करके इन्द्र को दे दीं। इस कथा के अनुसार भी राजा निर्वाचन द्वारा बनाया गया।

वैदिक साहित्य की परोक्षवादी शैली को समझते हुए, ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित सुरासुर-संग्राम को मानव-हृदय की अच्छी-बुरी भावनाओं का संघर्ष मानने पर राजा की उत्पत्ति के कारण मनोविकार ही सिद्ध हो जाते हैं। हम शतपथ ब्राह्मण के इस कथन को कि देवताओं में भेद पड़ने से वे चार भागों में विभक्त हो गये—आर्यों का चार वर्णों में विभक्त होना मानते हैं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र १–१३–६ में कहा गया है कि मात्स्यन्याय से अभिभूत प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया।[1] इससे भी यही विदित होता है कि प्रजा ने राजा बनाने के लिए मनु को चुना।

बौद्ध ग्रन्थ दिघ्घनिकाय ३–८४ में राजा की उत्पत्ति के विषय में कहा गया है

---

१. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे।—कौटिल्य, १–१३–६.

कि अराजकता को दूर करने के हेतु, जनता के आग्रह पर महाजनसम्मत ने राजा बनना स्वीकार किया था ।

जैन-ग्रन्थ आदिपुराण में भी राज्य की उत्पत्ति का कारण मात्स्य न्याय से बचना ही बताया गया है। उद्दण्ड व्यक्ति बिना कठोर दण्ड के दुष्टता नहीं छोड़ सकते अतः राज्य आवश्यक है ।

वास्तव में एक ही बात को भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से कहा है । यह अन्तर परोक्षवादी शैली के कारण ही उत्पन्न दिखाई देता है ।

हमारे विचार से अब तक के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा की उत्पत्ति से पहले समाज पूर्ण विकसित हो चुका था । चारों वर्ण बन चुके थे और सामाजिक व्यवस्था तथा रक्षा का भार विद्वानों की समितियों पर था, जिनका सत्र आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र होता रहता था। परस्पर विभिन्न मतों से निर्णय शीघ्र नहीं हो पाता और भेद के शत्रुओं तक पहुँचने का डर रहता है, इसलिए युद्धकाल में एक ही व्यक्ति के नेतृत्व से अधिक दृढ़ता और सफलता की आशा रहती है । इसी कारण कार्यपरिषद का नेतृत्व एक व्यक्ति के हाथों में पहुँच गया, और वह राजा कहलाने लगा। इतना तो सभी उल्लेखों से विदित होता है कि प्रथम राजा, जनता अथवा उसके प्रतिनिधियों ने निर्वाचन द्वारा बनाया था ।

भारतीय साहित्य की परोक्षवादी शैली और ब्रह्मा शब्द का ब्राह्मण के अर्थ में प्रयोग न समझने के कारण ही कुछ विद्वानों ने भारतीय साहित्य में राजा की उत्पत्ति को दैविक माना है। परन्तु हम स्पष्ट कर चुके हैं कि राज्य और राजा की उत्पत्ति भारतीय समाज में शनैः-शनैः मानवीय कारणों द्वारा हुई । राज्य की उत्पत्ति के कारण सर्वथा आन्तरिक थे परन्तु राजा की उत्पत्ति में सम्भवतः बाह्य कारणों का भी प्रभाव पड़ा था ।

भारतीय विद्वानों ने राज्य की उत्पत्ति हो जाने के बाद शासन के एक आदर्श स्वरूप का चित्रण किया । उसको समाज के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने देवजगत के शासन का चित्र उपस्थित किया । उनके राज्यदर्शन में सृष्टि का शासन चलाने के लिए ब्रह्म के तीन विभिन्न स्वरूप रखने पड़ते हैं । ब्रह्माजी के रूप से वह सृष्टि करता है, परमपुरुष नारायण के रूप से इसकी रक्षा करता है तथा रुद्रस्वरूप से सबका संहार करता है ।[1] उसी प्रकार देवजगत् में भी उन्होंने इन

---

१. सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः ।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः ॥ —महाभारत, वनपर्व २७२-४७।

विभिन्न कार्यों के लिए तीन विभिन्न संस्थाओं का चित्र निम्न प्रकार से चित्रित किया है—

महो=ज्ञान की प्रकाशक, उत्तम उपायों का उपदेश देती हुई इडा, सरस्वती और भारती, तीनों सभाएं इस महान् राष्ट्र पर आकर बिराजें।[1] जिस प्रकार देवियाँ पति के वंश की वृद्धि करती हैं उसी प्रकार तीन देवियाँ इन्द्र राजा की वृद्धि करें। उनमें से भारती नाम वाली परम विद्वानों की बनी हुई दिव नाम सर्वोच्च सभा को संयोजित करती है। सरस्वती दुष्टों को रुलाने वाले विद्वान् पुरुषों से सुव्यवस्थित राष्ट्र का प्रबन्ध करती है। वसु अर्थात् राष्ट्रवासियों को धारण करने वाली इडा, गृहों और गृहस्थ नागरिकों का प्रबन्ध करती है। वसु राजा के राष्ट्र-धन की ये तीनों रक्षा करें।[2]

इस प्रकार शासन के सर्वोच्च अधिकारों को प्राप्त ये तीनों सभाएँ विभिन्न विभागों का दायित्व लिये हुए थीं। इडा नाम की सभा कार्यकारिणी का भार संभालती थी, नागरिकों की व्यवस्था करती थी। सरस्वती नाम की सभा दण्ड देनेवाली सर्वोच्च सभा थी, जो कि दुष्टों के दमन पर विचार करती थी। उसके अधिकार यजुर्वेद ४–३६ में निम्न प्रकार से वर्णन किये गये हैं —

हे विद्वान् पुरुष, तू वरुण को ऊपर उठानेवाला आश्रयभूत है। हे विद्वत्–सभाओ, तुम दोनों वरुण की सर्जनी अर्थात् बनानेवाली और स्तम्भ अर्थात् खम्भे के समान आश्रय देनेवाली दो सभा हो। और हे तीसरी सभा, तू विद्वत्-सभा अथवा ज्ञान की सभा है। हे सभाभवन, तू वरुण का मुख्य स्थान ऋतसदन अर्थात् विधि निर्माण करने वाला ज्ञान-मंदिर है। हे वरुण ! तू उस सभा के उच्चासन पर विराजमान हो।[3]

उपर्युक्त मंत्र में दो सभाओं, इडा और सरस्वती का काम वरुण को बनाना और स्थिर रखना कहा गया है, और तीसरी सभा भारती को विधि निर्माण करने वाला ज्ञान-मंदिर कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि विधि निर्मात्री सभा के सभापति का निर्वाचन अन्य दो सभा, इडा और सरस्वती करती थीं। वरुण का कार्य विधि-निर्माण करना था।[4]

---

१. तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्त्विडा सरस्वती भारती।
महो गृणाना॥ —यजुर्वेद २७–१९.

२. देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्धयन्।
अस्पृक्षद् भारती दिवं रुद्रैर्यज्ञं सरस्वती वसुमती
गृहान्वसुवने वसुधे यस्म व्यन्तु यज। —यजुर्वेद २८–१८.

३. वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्यऽऋतसदन्यसि
वरुणस्यऽऋतसदनमसि वरुणस्यऽऋतसदनमासीद। —यजुर्वेद ४–३६.

४. अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि। —ऋग्वेद १–२४–१०.

इस प्रकार देवजगत् का शासन तीन सभाओं द्वारा चलाया जाता माना गया है। विधिनिर्मात्री सभा का सभापति वरुण है, इडा नाम की शासन-व्यवस्था करने वाली सभा का अध्यक्ष इन्द्र अथवा राजा कहा जा सकता है, और सरस्वती नाम की दण्ड देनेवाली सभा, यमराज की सभा हो सकती है।

वरुण विधिनिर्मात्री सभा का सभापति होने के अतिरिक्त न्यायविभाग और गुप्तचर विभाग का भी सर्वोच्च पदाधिकारी है, जैसा कि निम्नांकित मंत्रों से विदित होता है—जिन आप्तजनों के बीच में राजा वरुण समस्त प्राणियों का सत्य और असत्य देखता हुआ क्रिया करता है।[1] जो कोई भी जीव महान् आकाश को भी पार करके उससे भी दूर चला जाय, वह भी वरुण राजा के शासन से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकाशमान उस वरुण के गुप्तचर इस संसार में घूम रहे हैं जो हजारों आँखों वाले होकर पृथिवी को भली भाँति देखते रहते हैं।[2]

यमराज के अधीन दण्डविभाग था, जैसा कि निम्न अंशों से विदित होता है—तब उन्होंने (नारदजी ने) यमराज के भवन में जाकर देखा कि यमराज अपने सम्मुख अग्नि को साक्षी कर, जिस प्राणी का जैसा कर्म है, विधान के अनुसार उसको वैसा ही दण्ड और अनुग्रह कर रहे हैं।[3] यम अपना कार्य सभासदों के साथ बैठकर ही करते थे।[4]

ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनुसार रक्षा और व्यवस्था का कार्य-भार इन्द्र पर था।[5]

---

१. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते ।
अवपश्यन्जनानान् या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ।
—अथर्ववेद १–३३–२.

२. उत यो द्यामति सर्पत् परस्तान्न स मुच्यते वरुणस्य राज्ञः ।
दिवस्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ –अथर्ववेद ४–१६–४.

३. अपश्यत्स यमं तत्र देवमग्नि पुरस्कृतम् ।
विधानमनुतिष्ठम् तं प्राणिनो यस्य यादृशा ॥–वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड २१–२.

४. यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य शोभनं यमस्यामी सभासदः ।
अविस्तस्मात् प्रमुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ —अथर्ववेद ३–२९–१.

५. स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः ॥ –ऋग्वेद १०–१५२–२, अथर्ववेद १–२१.
विनदिन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्मां अभिदासति ॥ –ऋग्वेद १०–१५२–४, अथर्ववेद १-२१.
वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्या भिदासतः ॥–ऋग्वेद १०–१५२–३, अथर्ववेद १-२१.

इस प्रकार सृष्टि का शासन चलाने के लिए तीन देवताओं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की कल्पना की गयी। उसी प्रकार देवजगत् का शासन चलाने के लिए वरुण, इन्द्र और यम की कल्पना की गयी। परन्तु देवजगत् के शासन में प्रत्येक शासक अपनी एक सभा के साथ ही शासन-कार्य करता है। सृष्टि के शासन के समान ही देवजगत् में भी विधि को ही प्रधानता दी गयी है। विधि के उल्लंघन का अधिकार न इन्द्र को है और न यम को। ऋग्वेद १–२५–२ में कहा गया है कि वरुण के नियमों का अनादर करने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है।[1]

इस आदर्श को लेकर भारतीय विद्वान् शासन की ओर अग्रसर हुए, जिसमें शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त और विधि की प्रधानता का सिद्धान्त मूल में ही निहित था।

यद्यपि आदर्श शासन में भारती, इडा और सरस्वती नामक तीन उच्च सभाएँ शासन की बागडोर थामे हुए हैं, तथापि वैदिक काल के शासन में हमको एक ही राज्य-सभा का वर्णन मिलता है। सम्भवतः विधिनिर्माण का कार्य राज्य के क्षेत्र से बाहर होने के कारण, विधिनिर्मात्री सभा की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई होगी। शेष सब कार्य एक ही राज्यसभा करती थी, जिसको महानग्नि कहते थे। सभा और समिति के संगठन के विषय में हम अपना मत प्रकट कर चुके हैं, परन्तु इस विषय पर आधुनिक विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इसलिए पहले हम महानग्नि को राज्यसभा मानने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, और साथ ही उसके अधिकारों और कार्यों पर भी दृष्टिपात करते हैं। (१) यजुर्वेद ५–३४ में कहा गया है—हे अग्नयः! मुझको मित्र की आँख से देखा करो। फिर इन्हीं 'अग्नयः' को 'सगराः' (ज्ञानी पुरुषः) कहकर सम्बोधित किया गया है,—हे सगरा, ज्ञानीपुरुषों, आप लोग सभी 'सगराः स्थ', समान रूप से ज्ञानवान् हों। आप लोग 'सगरेण' अपने ज्ञान-उपदेश से नमन करनेवाले बल और 'रौद्रेण अनीकेन' शत्रुओं को रुलानेवाली सैन्य शक्ति से मेरी रक्षा करो। हे अग्नयः, मेरा पालन करो। मैं आप लोगों को नमस्कार करता हूँ। 'मा मां हिंसीष्ट' आप लोग मेरा कभी घात न करें।[2]

यजुर्वेद के इस मंत्र से स्पष्ट हो जाता है कि ये अग्नि कहलाने वाले विद्वान् राज्य-सभा के सभासद थे, और ज्ञानशक्ति तथा सैन्यशक्ति—दोनों पर अधिकार रखते थे। हमारे विचार से यह प्रार्थना राजा अपनी सभा के सभासदों से कर रहा है। क्योंकि

इसी प्रकार की प्रार्थना अथर्ववेद ७–१२–१ में राजा, सभा और समिति के सदस्यों को 'पितर' नाम से सम्बोधित करते हुए करता है ।[१] इससे सिद्ध होता है कि राज्यसभा को राजा के वध तक का अधिकार था ।

(२) अथर्ववेद २०–१३६–६ में ओखली का दृष्टान्त देती हुई, महानग्नि कहती है कि जिस प्रकार काष्ठ की बनी ओखली के बीच में धान डालकर कूटते हैं, उसी प्रकार (सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए) हम तथ्य को खूब कूटते हैं ।[२] इससे विदित होता है कि महानग्नि का कार्य बहुत वाद-विवाद के बाद प्रस्तुत समस्या का निर्णय करना था ।

(३) अथर्ववेद २०–१३६–७ में महानग्नि कहती कि जिस प्रकार ऊखल में कूट कर धान के दाने निकाले जाते हैं (उपर्युक्त मंत्र ६ का दृष्टान्त) उसी प्रकार हम भ्रष्ट हुए, प्रजाओं के पालक राजा के उपादेय तत्व को भी कूटकर निकालते हैं, अर्थात् उसके कृत्यों पर पुनः पुनः विचार करके तत्व को निकालते हैं ।[३] इससे सिद्ध होता है कि महानग्नि राजा के कृत्यों पर भी विचार करती थी ।

(४) अथर्ववेद २०–१३६–१० में कहा गया है कि महानग्नि कण्ठ से उत्तम वचन बोलनेवाले का शान्ति से अनुगमन करती है । कोई नहीं जानता कि कौन प्राणी (शासनरूपी) भार को अपने सिर पर उठाता है ।[४] इससे विदित होता है कि राज्यसभा उत्तम वाणी बोलनेवाले का अनुगमन करती थी और शासन का भार सभा के सदस्यों पर सामूहिक रूप से होता था ।

(५) अथर्ववेद २०–१३६–११ में कहा गया है कि महानग्नि वेग से आगे बढ़ते हुए विद्वान् नेता के पीछे जाती है । इसलिए हे राजा, इसकी वाणी की रक्षा कर और पके हुए अन्न के समान मेरा भोग कर ।[५] इससे विदित होता है कि सभा के आदेश का

---

१. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ सं विदाने ।
येना संगच्छ उपमा स शिक्षाच्चारु वदाग्निः पितरः संगतेषु ।––अथर्ववेद ७–१२–१.

२. महानग्न्युलूखलमतिक्रामन्त्यब्रवीत् ।
यथा तव वनस्पते निरघ्नन्ति तथैवेति ॥ २०–१३६–६.

३. महानग्न्युद्रूते भ्रष्टोथाप्य भूभवः ।
यथैव ते वनस्पते पिप्यति तथैवेति ॥ २०–१३६–७.

४. महानग्नो कृकवाकं शम्यया परिधावति ।
अयं न विद्न यो मृगः शीर्ष्णा हरति धानिकाम् ॥ २०–१३६–१०.

५. महानग्नी महानग्नं धावन्तमनुधावति ।
इमास्तदस्य गा रक्ष यत्र मामद्धयौदनम् ॥ २०–१३६–११.

पालन करने पर ही राजा सुख से राजपद का भोग कर सकता था ।

(६) अथर्ववेद २०–१३६–५ में कहा गया है कि महानग्नि प्रजा को तृप्त करती है, किसी को विमुक्त करती है, किसी को रौंदती है । वह आराम न करती हुई काम करती है । वह मानो शक्ति की खान है ।[१]

इस कथन से विदित होता है कि महानग्नि न्याय-कार्य भी करती थी और उसकी शक्ति (अधिकार) बहुत अधिक थी ।

अतः अग्नि शब्द के अर्थ और महानग्नि के उपर्युक्त अधिकारों व कार्यों को देखते हुए, इसको राज्यसभा मानने में कोई सन्देह नहीं रहता ।

राज्यसभा के सभासदों का निर्वाचन एक वर्ष के लिए होता था, क्योंकि अथर्ववेद ७–७७–३ में उनको उत्तम ज्ञान वाले, महलों में रहनेवाले, एक एक वर्ष के लिए नियुक्त, मननशील और राष्ट्र के प्राणस्वरूप कहा गया है ।[२] यजुर्वेद ८–१८ के अनुसार उन सभासदों के रहने के लिए राजा उत्तम निवासस्थान बनवाता था और उनको उचित धन भी दिया जाता था ।[३] सभा का सत्र वर्ष भर रहता था, क्योंकि उसको आराम न करती हुई काम करने वाली और शक्ति की खान कहा गया है ।[४] यजुर्वेद १८–५९ में कहा गया है कि हे सभाभवन में विराजमान विद्वानो, वेदों के ज्ञाता जिस धन-कोष को लाकर जमा करते हैं, उसको तुम्हारे अधीन करता हूँ । यज्ञस्वरूप राष्ट्र-व्यवस्था का पालन करने वाला राजा, तुम लोगों के अनुकूल रहेगा ।[५] इससे स्पष्ट है कि राजकोष पर राज्यसभा का अधिकार रहता था, और राजा उसके अनुकूल चलकर ही व्यय कर सकता था । राजा की कटु आलोचना भी सभा में की जाती थी और राजा उसको सहन करता था ।[६] अयोग्य राजा को पदच्युत करने का अधिकार भी राज्यसभा

---

१. महानग्न्यतृप्नद् विमो क्रददस्थानासरन् ।
शक्तिकानना स्वचमशकं सक्तु पद्यम् ॥ २०–१३६–५.

२. संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः । —अथर्ववेद ७–७७–३.

३. सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्मु सवने मा जुषाणाः ।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं धर्मम् दिवम्···· ॥
—यजुर्वेद ८–१८, अथर्ववेद ७–९७–४.

४. महानग्न्यतृप्नद्विमोक्रददस्था नासरन् ।
शक्तिकानना स्वचमशकं सक्तु पद्यम् ॥ —अथर्ववेद २०–१३६–५.

५. एतं सधस्थं परि ते ददामि यमावहच्छेवधिं जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो सु अत्र तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ —यजुर्वेद १८–५९.

६. इमे ता इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभुवसोः ।
नहि त्वदन्यो गीर्वाणो गिरः सघत् क्षोणीदिव प्रति नो हर्यतद् वचः ॥
—अथर्ववेद २०–१५–४.

को था, क्योंकि अथर्ववेद २०–१३६–१ में कहा गया है कि जैसे कोई जली हुई अँगुली को काट डालता है, वैसे ही वश में रहने वाली सभा अति उग्र राजा को भी दूर फेंक देती है।[1]

इस प्रकार वैदिक काल की राज्यसभा राज्य के कोष और सेना पर अधिकार रखती थी। वह राजा के कृत्यों पर विचार करती थी, राजा की कटु आलोचना करती थी, राजा को पदच्युत भी कर सकती थी और राजा का वध भी कर सकती थी। न्याय-व्यवस्था का कार्य भी सभा के पास था। इस सभा के सभासद एक वर्ष के लिए निर्वाचित होते थे। राजा उनको उत्तम स्थानों में रखता था और धन भी देता था।

हमारे विचार से राज्यसभा के उपर्युक्त अधिकार किसी भी आधुनिक जनतन्त्र राज्य की सभा से कम नहीं थे।

अथर्ववेद ३–४–२ में कहा गया है कि राजा को चुननेवाले विश और पंचप्रदिशः थे।[2] हम देख चुके हैं कि विश आर्थिक संस्थाओं को कहते थे और पंचप्रदिशः ग्राम की समितियाँ थीं। गेल्डनर के अनुसार डाक्टर यू० एस० घोषाल ने इस मंत्र का अर्थ विशों द्वारा राजा का निर्वाचन न मानते हुए, जनता द्वारा उसकी स्वीकृति मानी है।[3] इस सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि उन्होंने पंचप्रदिशः शब्द पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया और विश और वृण शब्दों का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण ही यह भूल की है। हम सिद्ध कर चुके हैं कि विश का अर्थ जनता नहीं, आर्थिक संस्था है और वृण शब्द का अर्थ वरण करना अर्थात् निर्वाचन करना होता है।

अथर्ववेद ३–४–७ में कहा गया है कि धर्ममार्ग को न त्यागने वाली, धन-सम्पन्न, 'विरूपाः', नाना प्रकार की 'सर्वाः', सब प्रजाएँ तेरे 'वरीयः', वरण करने योग्य, निर्वाचित होने वाले पद को नियत करती हैं।[4] इस मंत्र के अनुसार राजा के निर्वाचन में विभिन्न प्रकार की सब प्रजाएँ भाग लेती थीं।

यजुर्वेद ४–२४[5] में प्रजा के विभिन्न वर्ग राजा से कहते हैं कि तू हमारा ही

---

१. वशा दग्धामिवांगुरिं प्र मृजतोग्रतं परे।
महान् वै भद्रो यत्र मामद्ध्यौदनम्॥ ––अथर्ववेद २०–१३६–१३.

२. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वमिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ––अथर्ववेद ३–४–२.

३. डा० यू० एन० घोषाल, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पेज ३४३.

४. पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह॥ ––अथर्ववेद ३–४–७.

५. आस्माको ऋषि शुक्रस्ते ग्रहयो विचितस्त्वा विनिन्वन्तु। ––यजुर्वेद ४–२४.

ग्रहण करने योग्य तेज है, 'विचितः' विशेष प्रकार से चुनने वाले ज्ञानी पुरुष भी तुझको ही विशेष रूप से चुनें। इस मंत्र से विदित होता है कि राजा का चुनाव पहले प्रजा करती थी और पुनः ज्ञानी पुरुष विशेष प्रकार से उसका निर्वाचन करते थे।

राजा के निर्वाचन की यह विशेष रीति क्या थी। इसका संकेत हमको शतपथ ब्राह्मण ९–३–४–५ में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि जिसको राजानः राजा बनाते हैं वही राजा होता है।[1] राजानः शब्द का अर्थ समझने के लिए अथर्ववेद ३–२९–१ से सहायता मिलती है, जिसमें यम की सभा के सभासदों को स्पष्ट राजानः कहा गया है।[2] अतः राज्यसभा के सभी सभासद राजानः कहलाते थे।

अब राजा चुनने की विशेष रीति का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है, कि पहले राजा को विश 'आर्थिक संस्थाएं' और पंच-प्रदिशः 'ग्राम समितियाँ' चुनती थीं, इसके बाद राज्यसभा के सदस्य 'राजानः' उसको स्वीकृत करते थे, तब वह राजपद पर आरूढ़ होता था।

यजुर्वेद १०–४ से विदित होता है कि निर्वाचन के समय कुछ चुनाव प्रचार भी अवश्य होता था। इस मंत्र में प्रजा के बहुत से विशेषणों के साथ ही कहा गया है कि आप लोग स्वराज्य में स्थित हैं, अतः आप लोग राष्ट्र को देने वाले अर्थात् निर्वाचन के मताधिकारी हैं। आप लोग अमुक पुरुष को राष्ट्र अथवा राज्य प्रदान करें, 'राजा को निर्वाचित करें'।[3]

इस प्रकार वैदिक साहित्य से सिद्ध होता है कि उस समय राजा निर्वाचित होता था और उसका निर्वाचन विश, पंचप्रदिशः तथा राज्य-सभा के सदस्य 'राजानः' करते थे। इस प्रकार राजा के निर्वाचन में जनता के सभी वर्ग भाग लेते थे।

राजा को प्रजा से कर लेने का अधिकार था।[4] राजा का यह भी अधिकार था कि वह कर न देनेवाली संस्था को बन्द कर दे,[5] परन्तु साथ ही राजा का कर्तव्य था

---

१. यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यन्ते स राजा भवति न स यस्मै न।
—शतपथ ब्राह्मण, ९–३–४–५.

२. यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य सोश्रूषं यमस्यामी सभासदः।
—अथर्ववेद, ३–२९–१.

३. —स्वरास्थ राष्ट्रा राष्ट्रममुष्यै दत। —यजुर्वेद १०–४.

४. अचिक्रदत स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसि उरूची
मुञ्चन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नयसा रातहव्यम्॥
—अथर्ववेद, ३–३–१ ऋग्वेद –११–४.

५. अमुं त्वमिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः। सोमपा उत्तरो भवन्।—ऋग्वेद ८–१४–१.

कि वह विशों को प्रसन्न रखे, क्योंकि विशों के अप्रसन्न हो जाने पर उसको राजपद से च्युत हो जाने का भय था ।[1]

राजा के कार्यकाल के विषय में वैदिक साहित्य में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। केवल इतना संकेत मिलता है कि उसका पद दीर्घकालीन था। यजुर्वेद ७–२२ में कहा गया है कि राजा राज्य के नियमों द्वारा बँधा हुआ है और उसका पद दीर्घकालीन है ।[2]

यजुर्वेद ९–४० में कहा गया है कि हे प्रजाओ, इस अमुक पुरुष के और अमुक स्त्री के पुत्र को राजा करो। तुम्हारा यह राजा हो और हम ब्राह्मणों का राजा सोम हो।[3] इससे विदित होता है कि तत्कालीन राजा का क्षेत्र सारी प्रजा पर नहीं था, अपितु ब्राह्मण वर्ग उसके क्षेत्र से बाहर था।

इस प्रकार तत्कालीन राजा बहुत सीमित अधिकार रखता था। अधिकांश अधिकार राज्यसभा के हाथ में थे। राजा निर्वाचित होता था और पदच्युत भी हो सकता था। इसलिए वैदिक काल का राजा सर्वथा जनतंत्र राज्य का शासक था। भारत में राज्य की उत्पत्ति जनतंत्र के ही रूप में हुई थी और वैदिक काल में जनतंत्र का रूप पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था।

डाक्टर यू० एन० घोषाल ने वैदिक काल के राजा के विस्तृत अधिकारों की कल्पना का मुख्य आधार यह बताया है कि राजा की उपमा देवताओं से दी जाती थी। परन्तु इस विषय में हम पहले लिख चुके हैं कि देवजगत् के इन्द्र, वरुण, यम आदि शासक आदर्श रूप में थे, अतः धर्म की कभी भी अवहेलना न करने वाले थे। यह ठीक है कि ऋग्वेद ४–४२–१, २ में वरुण कहते हैं कि राष्ट्र उनका है और देवगण उनकी आज्ञा मानते थे। परन्तु राजावरुण को विधिनिर्मात्री सभा का प्रधान माना गया है और जनतंत्र राज्य में विधि को प्रधानता दी ही जाती है।[4] अतः ऋग्वेद के इस मंत्र से विधि की प्रधानता प्रकट होती है।

---

१. विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु मा त्वद्राष्ट्रम् अधिभ्रशत् । —ऋग्वेद १०–१७३–१.

२. उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वरस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि ।
—यजुर्वेद ७–२२.

३. इमं देवा असपत्नमं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठचाय महते जानराज्याये-न्दस्येन्द्रियाय । इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमो अस्माकं ब्राह्मणानामं राजा । —यजुर्वेद ९–४०.

४. डा० यू० एन० घोषाल, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर, पेज ३४४.

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा की उपमा अनेक देवताओं से दी गयी है, परन्तु इन उपमाओं का भाव राजा के कर्तव्यों को निर्धारित करता है, अधिकारों की वृद्धि नहीं करता। इस विषय पर मनुस्मृति में स्पष्ट कहा गया है —

इन्द्र की तरह राजा को अपने राष्ट्र की कामनाओं को सुख की सामग्रियों द्वारा तृप्त करना चाहिए।[1] सूर्य के समान राजा अपनी प्रजा से कर ग्रहण करे,[2] अर्थात् जिस प्रकार सूर्य छोटे-बड़े जलाशयों से उनको क्षुब्ध किये बिना, अनुपात से वाष्प ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा अपनी प्रजा से छोटे-बड़े के अनुपात से उनको पीड़ा दिये बिना कर ग्रहण करे। वायु की तरह राजा अपनी प्रजा के प्रत्येक प्राणी को जीवित रखने में सहायक हो।[3] यम की तरह शत्रु-मित्र का भाव त्यागकर राजा अपराधियों को दण्ड दे।[4] वरुण की तरह राजा अपनी प्रजा को नियमों पर चलाये।[5] चन्द्रमा की तरह राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न करने वाला हो।[6] अग्नि की तरह राजा पापियों को दण्ड देने में तेजस्वी रहे।[7] पृथ्वी की तरह राजा सब प्रकार के प्राणियों को समान रूप से धारण करे।[8]

अतः राजा की उपमा देवताओं से देने में, न तो राजा की दैविक उत्पत्ति

---

१. वार्षिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रो अभिवर्षति ।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥३०४॥
२. अष्टौ मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥३०५॥
३. प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥३०६॥
४. यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥३०७॥
५. वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एवाभिदृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥३०८॥
६. परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतयो यस्मिन् स चान्द्रव्रतिको नृपः ॥३०९॥
७. प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयव्रतं स्मृतम् ॥३१०॥
८. यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११॥ —मनुस्मृति, अध्याय ९.

का बोध होता है और न राजा के देवोपम अधिकारों से स्वच्छन्दता का बोध होता है ।

वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में राजा के अभिषेक के सम्बन्ध में वर्णन मिलते हैं, परन्तु उनसे यह स्पष्ट नहीं होता कि राजा वंशानुक्रमिक होता था। क्योंकि अभिषेक तो निर्वाचित राजा का भी हो सकता है। हम देख चुके हैं कि वैदिक काल मे राजा का निर्वाचन पहले विशों और ग्रामसमितियों द्वारा होता था और बाद में राज्यसभा के सभासद 'राजानः' उसकी स्वीकृति देते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में हम देखते हैं कि राज्याभिषेक से पहले दिन भावी राजा स्वयं प्रत्येक रत्नी के घर जाता था। यह प्रथा संकेत करती है कि राजपद पाने के लिए सभासदों की स्वीकृति लेना अनिवार्य था, और प्रत्येक रत्नी के घर जाकर राजा यह स्वीकृति पाने का प्रयास करता था।

डा० ए० एस० अलटेकर का मत है कि आर्यों में राजा की उत्पत्ति कुटुम्ब से हुई और गृहस्वामी के समान ही राजा का पद वंशानुक्रमिक होता था। ऋग्वेद में राजपद को चार पीढ़ियों तक वंशानुक्रमिक रूप में पाने के प्रमाण मिलते हैं।[1] हम सिद्ध कर चुके हैं कि आर्यों में राजा की उत्पत्ति निर्वाचन द्वारा हुई और वेदों में इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि राजा का निर्वाचन आर्थिक संस्थाएँ तथा ग्राम-समितियाँ करती थीं। राजपद के कुछ पीढ़ियों तक वंशानुक्रमिक रूप में पाये जाने के विशेष कारण हैं। आर्य लोग पैतृक गुणों का प्रभाव बहुत अधिक मानते थे, इसलिए किसी भी पद पर व्यक्ति को निर्वाचित करते समय, उस व्यक्ति के पूर्वजों के चरित्र और कर्मों पर विचार किया जाता था। भीष्म के मतानुसार दुराचारी पिता के पुत्र का परामर्श भी नहीं सुनना चाहिए।[2] अतः राजपद पर योग्य व्यक्ति चुनने के लिए सर्व-प्रथम राजा के पुत्रों की योग्यता पर विचार किया जाता था और यदि योग्य राजा का पुत्र भी राजपद के लिए वांछित गुण रखता था, तो राजा के पुत्र को ही उस पद के लिए चुन लिया जाता था। इस प्रकार अच्छे राजा का वंश कई पीढ़ियों तक राज-पद प्राप्त करने में समर्थ हो जाता था। इसका प्रमाण इतिहास में मिलता है। 'चीरवस्तु' के अनुसार, सेनापति खण्ड की मृत्यु के उपरान्त, लिच्छिविगण वैशाली में अपनी सभा में नये सेनापति के निर्वाचन के लिए एकत्र हुए। कुछ सदस्यों ने सेनापति

---

१. डा० ए० एस० अलटेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियन्ट इण्डिया, पृष्ठ ३१०।

२. विषमंतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत्पुरा ।
सत्कृतः स्थापितः सोऽसि न मंत्रं श्रोतुमर्हसि ॥ –महाभारत, शान्तिपर्व, ८३–३९।

खण्ड के ज्येष्ठ पुत्र गोप का नाम प्रस्तावित किया, परन्तु अन्य सदस्यों ने गोप को बुरे स्वभाव का बताया और सेनापति खण्ड के छोटे पुत्र सिंह को अधिक योग्य बताया और तदनुसार सिंह को सेनापति निर्वाचित कर लिया गया। यहाँ पर सेनापति के पद पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति होने पर भी, सेनापति वंशानुक्रमिक बन गया।[1] यद्यपि यह प्रमाण बौद्ध काल का है, तथापि इससे वैदिक काल में राजपद कुछ पीढ़ियों तक वंशानुक्रमिक मिलने का कारण ज्ञात हो जाता है। पैतृक गुणों के प्रभाव को अधिक महत्व देने के कारण, भावी राजा के निर्वाचन के लिए सुयोग्य राजा के पुत्रों पर सर्वप्रथम विचार करना उचित ही था और इस प्रकार योग्य व्यक्ति मिलने पर राजपद पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति होते हुए भी, कुछ पीढ़ियों तक उस पद का वंशानुक्रमिक पाया जाना अस्वाभाविक नहीं।

वैदिक काल के राज्य की कुछ झलक हमको दक्षिण भारत के चेर, चोल और पांड्य राज्यों में मिलती है, जिनके विषय में श्री कनवसभाई पिल्लई ने लिखा है कि उनमें राजा तो वंशानुक्रमिक होता था परन्तु शासन के अधिकार राजा और पाँच निर्वाचित समितियों में सामूहिक रूप से स्थित थे। ये पाँच समितियाँ (१) जनता, (२) ब्राह्मणों, (३) चिकित्सकों, (४) ज्योतिषियों और (५) मंत्रियों की थीं। पहली समिति जनता के अधिकारों की रक्षा करती थी, दूसरी समिति राज्य के सभी धार्मिक कृत्यों का निर्णय करती थी, तीसरी समिति राजा और प्रजा के स्वास्थ्य सम्बन्धी विषयों पर सर्वोच्च अधिकार रखती थी, चौथी समिति जनता के उत्सवों का समय निश्चित करती थी तथा अन्य महत्वपूर्ण घटनाओं की भविष्यवाणी करती थी, और पाँचवीं समिति राज्य के कर तथा व्यय पर नियंत्रण रखती थी और न्याय करती थी। उपर्युक्त पाँचों समितियाँ निर्वाचित होती थीं और राजा को सर्वोच्च सत्ता प्राप्त न थी, अपितु सर्वोच्च सत्ता राजा तथा इन पाँचों समितियों में निहित थी।[2]

यद्यपि वैदिक राज्य और उपर्युक्त राज्य के शासनों में कुछ अन्तर है, क्योंकि वैदिक कालीन राजा निर्वाचित होता था, जब कि उपर्युक्त राज्यों में राजा पैतृक आधार पर बनाया जाता था, इसके अतिरिक्त वैदिक काल की पाँच समितियों और उपर्युक्त पाँच समितियों के संगठन में भी अन्तर है, तथापि वैदिक कालीन शासन की झलक अवश्य इनमें मिल जाती है।

---

१. डा० यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर, पृष्ठ ३७१.
२. वी० कनवसभाई पिल्लई, तामिल्स एट्टीन हण्ड्रेड इयर्स एगो, पृष्ठ ११९–१२०.

(ड) आदि कालीन संस्थाओं का लोप

वैदिक काल में जिन संस्थाओं ने जन्म लिया था उनको हम सामाजिक, आर्थिक और क्षेत्रीय भागों में विभाजित कर सकते हैं। सामाजिक संस्थाओं में सर्व प्रथम संस्था कुटुम्ब थी जिसका जन्म मानव-प्रकृति से ही हुआ था, कालान्तर में समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। हम देख चुके हैं कि वर्ण समाज में रक्षात्मक और आर्थिक कारणों से उत्पन्न हुए थे।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ।
वैराजात् पुरुषान्जाताय आत्माचारलक्षणाः ॥

श्रीमद्भागवत् ११–१७–१३

उपर्युक्त तथा ऐसी ही अन्य उक्तियों का यथार्थ भाव न समझने के कारण ही, वर्ण-व्यवस्था को ईश्वरकृत माना जाता है। परन्तु यहाँ पर 'वैराज पुरुष' का तात्पर्य समाज की वैराज्य अवस्था से है। समाज को पुरुष के शरीर से उपमा देकर वर्णों की विभिन्न अंगों से समानता कर्म-भेद बताने के लिए दी गयी है। इस प्रकार से उपमा देना प्राचीन ग्रन्थकारों की शैली थी। शुक्रनीति में राज्य की उपमा इसी प्रकार मानव-शरीर से दी गयी है।[1] भागवत में चारों आश्रमों को भी इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंग बताया गया है।[2]

आर्थिक संस्थाओं में वैदिक काल की प्रसिद्धतम संस्था विश थी। आधुनिक विद्वान् अब तक विश का सही अर्थ समझने में असमर्थ रहे हैं। डाक्टर अलटेकर ने अनेक ग्रामों के समुदाय को विश कहा है।[3] श्री के० पी० जायसवाल ने जनता अथवा कबीले को विश बताया है।[4] डाक्टर बेनीप्रसाद ने भी ग्रामों के समुदाय को विश कहा है।[5] परन्तु विश का सही अर्थ सिद्ध किया जा चुका है कि वैदिक काल में आर्थिक संस्था को विश कहते थे। इस प्रकार के विश रथकारों, कर्मकारों, कृषकों, पशुपालकों

---

१. दृगमात्या सुहृत्क्षेत्रं मुखं कोशो बलं मनः ।
हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यांगानि स्मृतानि हि ॥ —शुक्रनीति १–६२.

२. गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदोभवत् ।
वक्षःस्थानाद् वनेवासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः ॥ —भागवत, ११–१७.

३. डा० ए० एस० अलटेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शिएण्ट इण्डिया, पेज ३५.

४. श्री के० पी० जायसवाल, हिन्दू पोलिटी—पेज १२.

५. डा० बेनीप्रसाद, दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पेज २४.

आदि के थे। राज्य सभा में विशों के प्रतिनिधि प्रयाजा: और अनुयाजा: के रूप में पृथक्-पृथक् समितियों में बैठते थे। इससे सिद्ध होता है कि आर्थिक संस्थाओं में धनिक-वर्ग और श्रमिकवर्ग का भेद होने लगा था। परन्तु राज्य दोनों वर्गों को समान अधिकार देता था। इस वर्गभेद के कारण कालान्तर में विश नामक संस्था के दो भाग हो गये। विशों के संचालक अर्थात् प्रयाजा: वर्ग के लोग वैश्य कहलाने लगे, जिनकी संस्थाएँ श्रेणी, निगम आदि बन गयीं और श्रमिकों (अनुयाजा:) के छोटे-छोटे समुदाय पूगं, व्रात आदि नामों से पुकारे जाने लगे। रामायण में हमको यह भेद स्पष्टत: मिलता है।[1] इस प्रकार वैदिक काल की प्रसिद्धतम संस्था, विश का कालान्तर में लोप हो गया। परन्तु यह लोप केवल संस्था के नाम में ही परिवर्तन कर सका। वास्तव में आर्थिक संस्थाएं वैदिक काल से अब तक अपना महत्वपूर्ण अस्तित्व रखती आ रही हैं। परन्तु वैदिक काल में इनका जितना महत्व था, भारतीय इतिहास में उतना महत्व फिर देखने को नहीं मिलता। वैदिककालीन विश को अंग्रेजी में 'गिल्ड्स' कहा जा सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में वैदिक काल की प्रसिद्ध संस्थाएं सभा और समिति थीं। श्री के० पी० जायसवाल ने सभा, समिति और सेना की उत्पत्ति 'विधाथा' से बतायी है, जिसको डा० यू० एन० घोषाल ने ज़िमर, कीथ, लुडविग आदि विद्वानों के मतों से खण्डित किया है।[2] वास्तव में सभा और समिति की उत्पत्ति के विषय में अथर्ववेद में स्पष्ट वर्णन है, जिसकी व्याख्या हम कर चुके हैं। जायसवालजी ने समिति को समस्त जनता की राष्ट्रीय सभा माना है,[3] और सभा को 'नरिष्टा' नामक अन्य प्रसिद्ध संस्था बताया है।[4] डा० अलटेकर ने समिति को केन्द्रीय सरकार की राज्यसभा, और सभा को ग्रामसभा बताया है।[5] डा० यू० एन० घोषाल ने उपरोक्त मतों की समालोचना करते हुए कहा है कि इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता कि जनता की एक महत्वपूर्ण संस्था को समिति कहते थे जिसका राजनीतिक महत्व भी पर्याप्त था, और सभा का भी समान महत्व था, जो राजा की कार्यपरिषद् तथा न्यायालय के रूप में आ गयी थी। सभा और समिति दोनों में भाषण की स्वतंत्रता थी।[6] प्रत्येक

---

१. द्विजातिमुख्यैर्धर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः स नैगमैः। वाल्मीकि० युद्ध० १०७–१६.
२. डा० यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पेज ३५१–५२.
३. श्री के० पी० जायसवाल, हिन्दू पोलिटी, पेज १२
४. उपर्युक्त, पृष्ठ १७
५. डा० ए० एस० अलटेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एनशियण्ट इण्डिया, पेज १४०.
६. डा० यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर, पेज ३५१.

मत की पृथक्-पृथक् समालोचना करने से प्रस्तुत ग्रन्थ के अत्यन्त दीर्घकाय हो जाने का भय है, अतः हम केवल यही कहते हैं कि सभा और समिति के विषय में हमने जो विचार इस अध्याय में व्यक्त किये हैं वे सर्वथा नये हैं। प्रत्येक समिति एक ही वर्ग अथवा गण का प्रतिनिधित्व करती थी, इसलिए उसका समान नीति, समान लक्ष्य और और समान चित्त होना सम्भव भी था और आवश्यक भी, इसी लिए ऋग्वेद १०-१९१-३ में इस आशय की प्रार्थना है।[1] हम लिख चुके हैं कि राज्यसभा के सभासदों को 'राजानः' कहते थे, इसलिए इन सभासदों 'राजानः' का अपनी अपनी समितियों में एकत्र होना स्वाभाविक था।[2]

महाभारत काल में हमको गणराज्यों में समिति का कोई उल्लेख नहीं मिलता, इसका कारण यह है कि वैदिक काल में समाज प्रयाजाः, अनुयाजाः, हुतभागाः और अहुतादः वर्गों अथवा गणों में राजनीतिक दृष्टिकोण से बँटा हुआ था। और इसी के अनुसार प्रत्येक वर्ग अथवा गण के प्रतिनिधियों की पृथक् समिति बनायी जाती थी। परन्तु कालान्तर में समाज से इस प्रकार के वर्गीकरण का लोप हो गया और गणराज्य में प्रतिनिधित्व कुल तथा जाति के आधार पर होने लगा,[3] इसलिए समितियों की आवश्यकता नहीं रही और वे राजनीतिक क्षेत्र से लुप्त हो गयीं।

---

१. समानो मंत्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ॥
ऋग्वेद १०–१९१–३

२. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव । ऋग्वेद १०–९७–५६

३. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशातस्था । महाभारत शान्तिपर्व १०७–३०.

अध्याय ६

महाभारत में जनतंत्र

भारत में राज्य की उत्पत्ति जनतंत्र के रूप में हुई, यह बात पिछले अध्याय में सिद्ध की जा चुका है। वैदिक काल में ही राज्य का जनतंत्र रूप पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। अतः प्रश्न हो सकता है कि भारतीय विचारधारा का जनतंत्र से राजतंत्र की ओर क्यों झुकाव हो गया। इसका उत्तर हमने प्रस्तुत अध्याय में देने का प्रयास किया है। महाभारत-काल में हमको दोनों ही प्रकार के शासन-तंत्र मिलते हैं, परन्तु यह निश्चित है कि तत्कालीन विद्वान् जनतंत्र की अपेक्षा राजतंत्र को उत्तम सिद्ध करने का प्रयास करते हुए दिखाई देते हैं। कारण कि जनतंत्र में कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो गये थे जिनका निराकरण करना जनहित में अनिवार्य था और उन दोषों को दूर करने पर राज्य के स्वरूप में जो परिवर्तन हुआ, उसके कारण परिवर्तित स्वरूप राजतंत्र का रूप बन गया। यह कैसे हुआ, इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास इस अध्याय में किया गया है।

महाभारत काल के जनतंत्र और राजतंत्र का भेद राजा नामक पद के अभाव अथवा अस्तित्व से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि दोनों ही प्रकार के शासकों में राजा होते थे। इसलिए तत्कालीन राजतंत्र और जनतंत्र के स्वरूप में जो अन्तर था उसको स्पष्ट करना उचित प्रतीत होता है, जिसका उल्लेख प्रथम प्रकरण में किया गया है। यह अन्तर मुख्यतः राजपद पर अभिषेक, राजा के कार्यकाल, मंत्रिपरिषद् व मंत्रिमंडल और राज्यसभा के रूप में पाया जाता है।

जब राजा का पद राजतंत्र और जनतंत्र दोनों में विद्यमान था तब राजा के कतिपय कर्तव्य दोनों प्रकार के राजाओं से सम्बन्धित होने चाहिए। परन्तु राजतंत्र के राजा के अधिकार अधिक होने के कारण, राजा के सभी कर्त्तव्य जनतंत्र के राजा पर लागू नहीं होते। अतः द्वितीय प्रकरण में राजधर्म के उन सिद्धान्तों का उल्लेख है जो जनतंत्र और राजतंत्र, दोनों में समान रूप से पाये जाते थे। इनमें राज्य की स्थापना, राज्य का सावयव स्वरूप, राजा में वांछनीय गुण, राजा के कर्तव्य आदि का विवेचन किया गया है।

तृतीय प्रकरण में तत्कालीन जनतंत्र के विभिन्न रूपों का स्पष्टीकरण किया गया है तथा उनके पतन के कारण भी एकत्रित किये गये हैं। महाभारत में हमको वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, गणराज्य और संघराज्य का उल्लेख मिलता है। संघराज्य में भी फेडरेशन और कानफेडरेशन, दो रूप मिलते हैं जिनको स्पष्ट किया गया है।

चतुर्थ प्रकरण में जनतंत्र शासन की विशेषताओं का विवेचन किया गया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विद्वान् जनतंत्र के प्रति कैसी भावना रखते थे। जनतंत्र की विशेषताओं में विधायनी शक्ति का प्रथक्करण, निर्वाचन, न्यायव्यवस्था, सर्वोच्च सत्ता संगठन, भाषण की स्वतंत्रता आदि पर विवेचन किया गया है। निर्वाचन के अन्तर्गत यह भी सिद्ध किया गया है कि जनतंत्र में शासनाधिकार क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य वर्ण को भी प्राप्त था।

पंचम प्रकरण में जनतंत्र शासन की कमजोरियों को देखने का प्रयास किया गया है। इनमें मुख्यतः समानता के अधिकार का दुरुपयोग और दलबन्दी का कुप्रभाव ध्यान देने योग्य है।

षष्ठ प्रकरण में यह जानने का प्रयास किया गया है कि जनतंत्र को ह्रास से बचाने के लिए तत्कालीन विद्वानों ने क्या उपाय सोचा और किया। वास्तव में इन परिवर्तनों ने ही जनतंत्र को राजतंत्र का रूप दिया था।

सप्तम प्रकरण में हमने तत्कालीन राजतंत्र और जनतंत्र पर तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया है। साथ ही महाभारत के आधार पर राज्य की उत्पत्ति पर आलोचनात्मक दृष्टिपात किया गया है, जिसमें राज्य के क्रमिक विकास को दिखाते हुए, राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त और समाज-अनुबन्धवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है।

(अ) शान्तिपर्व

सम्पूर्ण महाभारत में जो राजनीतिक विचार यत्र-तत्र उल्लिखित हैं, ग्रन्थकार ने उन सबको शान्तिपर्व में लाकर एकत्रित कर दिया है। शान्तिपर्व के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत काल में दो प्रकार की शासन-प्रणालियाँ चल रही थीं—राजतंत्र और प्रजातंत्र। जिन गणों के विषय में युधिष्ठिर ने भीष्म से शान्तिपर्व अ० १०७ श्लोक ६ में प्रश्न किया है।[1] और इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने शान्तिपर्व अध्याय १०७ में जिन गणों के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं, वे अवश्य ही गणराज्य थे।[2] परन्तु जिस प्रकार नृपतंत्र में राज्य का प्रमुख राजा कहलाता

---

१. गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतांवर। शा० प०, अ० १०७ श्लोक ६
२. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २३१

था उसी प्रकार प्रजातंत्र के अध्यक्ष को भी राजा कहा गया है। महाभारत आदिपर्व २२-८ में उग्रसेन को वृष्णियों का राजा कहा गया है,[1] यद्यपि वृष्णि गणराज्य था, जिसने अन्धक गणराज्य से मिलकर महाभारत का सुप्रसिद्ध संघराज्य अन्धक-वृष्णि बनाया था।[2] इसी प्रकार वनपर्व १५-२३में आहुक को राजा कहा गया है,[3] यद्यपि वह भी अन्धक-वृष्णि संघराज्य का एक नेता था।[4] आश्वमेधिक पर्व ७४-९ में सूर्य वर्मा को त्रिगर्त का राजा कहा गया है,[5] यद्यपि त्रिगर्त गणराज्य था।[6]

यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जब राजा दोनों ही शासनतंत्रों में होते थे, तो राजतंत्र और प्रजातंत्र को विभाजित करने की कौन-सी रेखा थी? वास्तव में राजतंत्र और प्रजातंत्र शासन में निम्न बातों में भेद था—(१) राजपद पर अभिषेक की विभिन्न प्रणालियाँ, (२) राजा का कार्यकाल, (३) मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमण्डल का संगठन, (४) राज्यसभा आदि। अतः राजतंत्र और प्रजातंत्र के रूप को स्पष्टतः समझने के लिए उपर्युक्त भेदों पर क्रमशः विचार करना आवश्यक है।

राजपद पर अभिषेक

प्रजातंत्र में राजपद पर अभिषेक राज्यसभा द्वारा निर्वाचित व्यक्ति का होता था।[7] पाणिनिसूत्र ५-२-५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से भी प्रतीत होता है कि गण और संघ राज्यों में बहुमत से कार्य होता था, अतः अध्यक्ष का भी बहुमत से निर्वाचित होना सम्भव है। परन्तु बहुमत सदैव सर्वश्रेष्ठ की ओर नहीं होता—यह बात राजनीति के आधुनिक विद्वान् भी मानते हैं। इसलिए राजपद के लिए श्रेष्ठतम व्यक्ति चुनने के लिए अन्य प्रणाली की खोज करनी पड़ी। भारतीय विचारधारा में शिक्षा और संस्कारों से भी अधिक प्रभाव मनुष्य के पितृज गुणों का माना जाता है। इसलिए शान्तिपर्व ८३-३९ में दुराचारी पिता के पुत्र को भी मंत्रिपद के अयोग्य समझा गया है।[8] अतः इस सिद्धान्त के अनुसार राजपद के लिए सर्वप्रथम पूर्व राजा की सन्तानों

---

१. तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान्। आदिपर्व, अ० २२१ श्लोक ८
२. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद—पृष्ठ २४०,२४१
३. आहुकेन सुगुप्तः स राजा राजीवलोचनः॥ वनपर्व, अ० १५७ श्लोक २३
४. स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः। शा० प०, अ० ८१ श्लोक १०
५. ततस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे। आश्वमेधिकपर्व, अ० ७४ श्लोक ९
६. डा० श्यमलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद—पृष्ठ २३४
७. वही पृष्ठ २४४
८. ।वधर्मतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत्पुरा।
सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मंत्रं श्रोतुमर्हति॥ शान्तिपर्व ८३-३९

में योग्यतम व्यक्ति खोजना उचित जान पड़ा। इसलिए प्रथा बन गयी कि राजोचित योग्यता पर ध्यान रखते हुए, राजपद के लिए व्यक्ति क्रमशः राजा के ज्येष्ठ, मध्यम अथवा कनिष्ठ पुत्रों में से ही खोजना उचित है। इस प्रथा का प्रमाण हमको लिच्छवि राज्य में भी मिलता है जब कि सेनापति खण्ड की मृत्यु के उपरान्त सेनापति चुनने के लिए खण्ड के पुत्रों की योग्यता पर विचार किया गया और उसके छोटे पुत्र सिंह को सेनापति बनाया गया था।[1] यही प्रथा राजपद को वंशानुक्रमिक बनाने की आधार-शिला थी और यही राजतंत्र का आरम्भ था। राजा के ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य होने पर लघुतर पुत्रों को राजपद मिलने के प्रमाण महाभारत में भी मिलते हैं। राजा प्रतीप की इच्छा के विरुद्ध, उसके तीसरे पुत्र शान्तनु को राजा बनाया गया था।[2]

राजा का कार्यकाल

राजपद के लिए योग्यतम व्यक्ति को चुनने के नियम में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप राजा के कार्यकाल के नियम में भी परिवर्तन करने पड़े। जनतंत्र में राजा का निर्वाचन किसी निश्चित अवधि के लिए होता था। अन्धक-वृष्णि संघ में कभी उग्रसेन को,[3] कभी आहुक को[4] राजा कहा गया है। शान्तिपर्व ८१–२५ में श्री कृष्ण को संघमुख्य कहा गया है।[5] इसके अतिरिक्त शान्तिपर्व अध्याय ८१ में उल्लिखित कृष्णनारद-संवाद से प्रतीत होता है कि अध्यक्ष पद के लिए संघराज्य के नेताओं में स्पर्धा थी। इस आन्तरिक कलह से बचने के लिए राजतंत्र में यह नियम बनाया गया कि राजा जब तक विधिवत् शासन करता रहे, जब तक वह प्रजा को सन्तुष्ट रख सके, तब तक उसको राजपद से न हटाया जाय। भारतीय प्राचीन इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं कि राजा के अत्याचारी सिद्ध होने पर उसको राज्यच्युत कर दिया जाता था। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ५९ में कहा गया है कि अत्याचारी होने के कारण ऋषियों ने कुशाओं से राजा वेन का वध कर दिया था।[6] आश्वमेधिकपर्व अध्याय ४ में कहा गया है कि खनिनेत्र के अत्याचारी होने के कारण जनता ने उसको

---

१. प्रस्तुत निबन्ध

२. तं ब्राह्मणाश्च वृद्धाश्च पौरजानपदैः सह ।
सर्वे निवारयामासुर्देवापेरभिषेचनम् ॥ उद्योगपर्व १४९–२२, २३

३. तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् । आदिपर्व २२१–८

४. आहुकेन सुगुप्तः स राजा राजीवलोचनः । वनपर्व १५–२३

५. भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योसि केशव । शान्तिपर्व ८१–२५

६. तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ शान्तिपर्व ५९–९४

राज्यच्युत करके उसी के पुत्र सुवर्चा को राजा बना दिया।[1] महाभारत अनुशासन पर्व में कहा गया है कि जो राजा प्रजा की रक्षा करने का अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं करता वह पागल कुत्ते की भांति वध करने योग्य होता है।[2] जिस प्रकार पागल कुत्ते को मार डालने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को होता है उसी प्रकार कर्तव्यच्युत राजा का वध करने का अधिकार जनता के प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है। शान्तिपर्व में कहा गया है कि ब्राह्मण अपने तप से, ब्रह्मचर्य से, शस्त्र से, बल से, निष्कपट व्यवहार से, अथवा भेद-नीति से, अर्थात् हर सम्भव उपाय से अत्याचारी राजा का दमन करे।[3] परन्तु बहुधा राजा अत्याचारी बनने का साहस नहीं करता था, अतः आजीवन राजपद पर रहता था।

संत्रिपरिषद् और मंत्रिमण्डल का संगठन

प्रजातंत्र राज्य के साथ मंत्रणा करने का अधिकार गण के प्रधान व्यक्तियों को प्राप्त होता था। शान्तिपर्व २०७-२४ में स्पष्ट कहा गया है कि गण के सभी लोग गुप्त मंत्रणा सुनने के अधिकारी नहीं हैं, मंत्रणा को गुप्त रखने तथा गुप्तचरों की नियुक्ति करने का कार्य प्रधान व्यक्तियों के ही अधीन होता था।[4] परन्तु राजतंत्र में राजा का कार्यकाल आजीवन हो जाने के कारण मंत्रियों का भी कार्यकाल आजीवन हो गया। अतः मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार भी राजा के हाथ में आ गया। परन्तु राज्य की विधायिनी शक्ति (लेजिस्लेटिव पावर) ने इस विषय में विशेष नियम बना दिये थे, जिनके अनुसार ही मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमण्डल का संगठन किया जाता था। शान्तिपर्व में उल्लिखित इस विषय में नियम निम्नांकित थे-- 'राजा को चाहिए कि जो वेद-विद्या के विद्वान्, निर्भीक, बाहर-भीतर से शुद्ध एवं स्नातक हों, ऐसे ४ ब्राह्मण; शरीर से बलवान् तथा शस्त्रधारी ८ क्षत्रिय; धनधान्य से सम्पन्न २१ वैश्य; पवित्र आचार-विचार वाले ३ विजयशील शूद्र तथा आठों गुणों से

---

१. तमपास्य च तद्राज्ये तस्य पुत्रं सुवर्चसम्।
अभ्यषिन्चन्त राजेन्द्र मुदता ह्यभवंस्तदा॥ आश्वमेधिकपर्व ४–९

२. अनुशासनपर्व

३. तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च।
अमायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत्॥
क्षत्रिस्यस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम्॥ शान्तिपर्व ७८–२०, २१

४. मंत्रगुप्तिः प्रधानेषु चारैश्चामित्रकर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक २४

युक्त एवं पुराण विद्या को जानने वाला[1] सूत जाति का मनुष्य, जिसकी अवस्था पचास वर्ष की हो और जो निर्भीक, दोषदृष्टि से रहित, श्रुतियों और स्मृतियों के ज्ञान से सम्पन्न, विनयशील, समदर्शी, वादी-प्रतिवादी के मामलों में निपटारा करने में समर्थ, लोभरहित और अत्यन्त भयंकर सात दुर्व्यसनों से बहुत दूर रहने वाला हो—ऐसे ३७ अमात्यों की मंत्रिपरिषद् बनाये। यहाँ पर यह बात ध्यान देने की है कि उपर्युक्त संगठन में चारों वर्णों का प्रतिनिधित्व है और सबसे अधिक संख्या वैश्यों की है, क्योंकि वैश्यों में श्रेणी, निगम, वर्ग (गण) आदि आर्थिक संस्थाएँ महत्वपूर्ण थीं और श्रेणीमुख्य, नैगम, गणवल्लभ आदि इनका प्रतिनिधित्व करते थे।[2]

उपर्युक्त मंत्रिपरिषद में से ८ मंत्रियों का मंत्रिमण्डल बनाने का नियम था।[3] इनमें से ३ परम विश्वसनीय मंत्रियों की अन्तरंग समिति रहती थी जिसमें गहन समस्याओं पर विविध भाँति से विवेचन किया जाता था।[4]

---

१. वक्ष्यामि तु यथामात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि।
चतुरो ब्राह्मणान्वैद्यान्प्रगल्भान्स्नातकान् शुचीन्।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः॥७॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशति संख्यया।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके॥८॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम्॥९॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम्।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम्॥१०॥
वर्जितं चैव व्यसनैर् द्यूताद्यैः सप्तभिर्भृशम्।
शान्तिपर्व अ० ८५ श्लोक ६-७-८-९-१० ११

२. ब्राह्मणाः श्रेणिमुख्याश्च तथोदासीनवृत्तयः। वनपर्व अ० २४८ श्लोक १६
सर्वे च ते ऽन्ये धृतराष्ट्रपुत्रा बलप्रधाना विनयप्रधानाः।
उद्योगपर्व अ० २ श्लोक ६
द्विजातिमुख्यैर्धर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः सनैगमैः। वा० रा०, युद्ध० १२७-१
ब्राह्मणान् क्षत्रियान्योधानमात्यान्गणवल्लभान्। अयो० का०, ८१-१२

३. अष्टानां मंत्रिणां मध्ये मंत्रं राजोपधारयेत्। शा० पर्व, ८५-११

४. तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं विबुध्य चित्तं विनिवेश्य तत्र।
शा० प० अ० ८३ श्लोक ५३

राजा स्वयं सन्तोषप्रद शासन चलाने के लिए इन विषयों में यथासम्भव सावधानी बरतता था, क्योंकि वह लोकापवाद से डरता था।[1]

प्रजातंत्र राज्यों में मंत्रियों की संख्या का कोई निश्चित नियम नहीं प्रतीत होता। सम्भवतः गणराज्य की सभा को इसका निश्चय करने का अधिकार था।

राज्य-सभा

जनतंत्र राज्यो में मंत्रिपरिषद् और मंत्रिमंडल का उल्लेख नहीं मिलता। उनमें इनका कार्य एक राज्यसभा करती थी। इसके संगठन के विषय में शा० प०, अ० १०७ श्लोक ३० से विदित होता है कि इसमें राज्य की सभी जातियों के कुलवृद्धों को प्रतिनिधित्व के समान अधिकार प्राप्त थे।[2] इस सभा के अधिकारों के विषय में आदि-पर्व में उल्लिखित अन्धक-वृष्णि संघ की सुधर्मा नामक सभा के कार्यों से कुछ अनुमान किया जा सकता है। अर्जुन द्वारा सुभद्रा-हरण का समाचार सुनकर सभापति ने बिगुल बजाकर सभा को आमंत्रित किया, जिस पर राजा उग्रसेन की अनुपस्थिति में ही सभा ने अपना कर्त्तव्य निश्चित करके, तदनुसार कार्य किया। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि सभा को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे, और सभी मुख्य विषयों पर सभा में निर्णय किया जाता था।

राजतंत्र शासन में उपर्युक्त प्रकार की सभा नहीं होती थी। शान्तिपर्व अ० ६९ में राज्य के सात अनिवार्य अंग बताये गये हैं[3]—राजा, अमात्यगण, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर—इसमें सभा का कोई उल्लेख नहीं है। प्रजातंत्र में जो कार्य उपर्युक्त सभा करती थी, राजतंत्र में वह कार्य राजा अपनी मंत्रिपरिषद् के साथ करता था, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

अतः राजतंत्र और जनतंत्र दोनों ही शासन-प्रणालियों के प्रमुख को राजा कहते थे। इन दोनों में जो मुख्य भेद थे, वे स्पष्ट किये जा चुके हैं, जिनसे इन दोनों तंत्रों की स्पष्ट रेखा विदित हो सके और तत्कालीन जनतंत्र का स्वरूप स्पष्ट हो सके।

शान्तिपर्व में राजधर्म का जो वर्णन हुआ है वह भीष्म और युधिष्ठिर के संवाद के रूप में है। युधिष्ठिर राजधर्म का उपदेश पाने के लिए मरणासन्न भीष्म जी के पास जाकर प्रश्नोत्तर के रूप में राजधर्म का उपदेश ग्रहण करते हैं। भीष्म द्वारा

---

१. डा० श्यमलाल पाण्डेयकृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ १७६

२. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा। शा० प०, अ० १०७ श्लोक ३०

३. आत्मामात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि।
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः॥
शा० प० अ० ६९ श्लोक ६४,६५

उपदेशित राजधर्म को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) केवल नृपतंत्र के सम्बन्ध में, (२) केवल जनतंत्र के सम्बन्ध में, और (३) वे सिद्धान्त जो नृपतंत्र तथा जनतंत्र दोनों पर समान रूप से बाध्य हैं। हमारा विषय मुख्यतः जनतंत्र से सम्बन्धित है अतः तत्कालीन जनतंत्र और राजतंत्र का अन्तर पिछले प्रकरण में स्पष्ट करने के पश्चात् हम उन बातों का निश्चय कर सकते हैं जो जनतंत्र और राजतंत्र दोनों के सम्बन्ध में समान रूप से कही गयी हैं। यथा--

(१) राष्ट्र का सर्वप्रथम कर्तव्य

राष्ट्र का सर्वप्रथम कर्तव्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने बताया कि राष्ट्र का सर्वप्रथम कर्तव्य राजा का अभिषेक करना है।[1] यहां पर राजा से तात्पर्य केवल नृपतंत्र का राजा नहीं है, अपितु जनतंत्र का राजा भी है। अराजकता की अवस्था भयानक होती है, इसलिए राष्ट्र की व्यवस्था और सुरक्षा के लिए राज्य की स्थापना करना अनिवार्य है, चाहे वह नृपतंत्र के रूप में हो, चाहे जनतंत्र के रूप में।

(२) राज्य का सावयव स्वरूप

तत्कालीन राज्य में जिन अवयवों का होना अनिवार्य था, उनका उल्लेख राज्य के सात अंगों के रूप में किया गया है—(१) आत्मा (राजा), (२) अमात्य, (३) कोश, (४) दण्ड (सेना), (५) मित्र, (६) जनपद और (७) पुर।[2] यहां पर राजा को आत्मा कहा गया है, जो कि जनतंत्रऔर नृपतंत्र दोनों से समानतया सम्बन्धित है। अमात्य नामक पदाधिकारी भी दोनों ही शासनतंत्रों में पाये जाते थे। राजतंत्र में मंत्रिपरिषद् होती थी जिसमें ३७ अमात्य होते थे।[3] जनतंत्र में भी अमात्य होते थे जो कि विभिन्न शासनविभागों के अध्यक्ष होते थे।[4] यह तो सभी को मान्य है कि कोश, सेना और मित्र, इनकी आवश्यकता प्रत्येक राज्य को रहती है, चाहे वह किसी भी शासनप्रणाली को अपनाये हुए हो। साहित्य में राज्य की राजधानी को पुर और राज्य की शेष भूमि को जनपद कहा जाता था।[5] बिना भूमि के राज्य नहीं हो

---

१. राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवो अभिभवन्त्युत॥ शा० प०, अ० ६७ श्लोक २

२. आत्मामात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैवहि।
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः॥ शा० प०, ६९। ६४, ६५

३. प्रस्तुत निबन्ध

४. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २५०

५. वही, भीष्म का राजधर्म, पृष्ठ ११४

सकता, इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राज्य में जनपद और उसकी राजधानी होना आवश्यक है। अतः राज्य का यह सावयव स्वरूप जनतंत्र और राजतंत्र दोनों में समान रूप से उल्लिखित है। दोनों में राजा ही प्रधान है।

(३) राजा के वांछनीय गुण

जनतंत्र शासन में राजा के निर्वाचन का अधिकार जनता या उसके प्रतिनिधियों को होता है। महाभारत काल में राजतंत्र में भी राज्याभिषेक करने से पहले, भावी राजा के गुणावगुणों का अध्ययन करके राजपद के लिए उसकी योग्यता का निश्चय करने का भार जनता के प्रतिनिधियों पर होता था।[1] इसलिए राजा के वांछनीय गुणों को स्पष्ट करके भीष्म ने जनता का पथप्रदर्शन किया था। उनके मतानुसार राज्य पर विधिवत् शासन करना अत्यन्त कठिन कार्य है।[2] इसलिए योग्य राजा के चुनाव में जनता को अधिकतम सावधानी से काम लेना चाहिए। सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि जिसको हम राजा बनाने जा रहे हैं, वह जितेन्द्रिय हो,[3] उसका चरित्र आदर्श हो, क्यों कि उसका प्रभाव जनता पर पड़ता है।[4] वह सत्य का पूर्णतः पालन करने वाला हो, क्योंकि सत्य के अतिरिक्त और कोई कारण राजा की सिद्धि का नहीं होता।[5] राजा शूरवीर, सदाचारी, उदार, कोमल-प्रकृति, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, प्रसन्न और अत्यन्त दानी होना चाहिए।[6] साथ ही यह भी देखना अनिवार्य है कि राजा कामात्मा, शठ बुद्धिवाला क्रूर और लोभी न हो।[7] वह क्रूर तो न हो परन्तु अत्यन्त क्षमाशील भी न हो।[8] इस

---

१. वही, जनतंत्रवाद, पृष्ठ ५३

२. राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः ।
न शक्यं मृदुना वोढुमायासं स्थानमुत्तमम् ॥ शा० प०, ५८–२१

३. आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ शा० प०, ६९–४

४. राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते।
यद्यदाचरते राजा तत्प्रजानां हि रोचते॥ शा० प०, ७५–४

५. नहि सत्यादृते किञ्चद्राज्ञां वै सिद्धिकारकम् ।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति॥ शा० प०, ५६–१७

६. गुणवान् शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः॥ शा० प०, ५६–१९

७. न हि कामात्मना राज्ञा सततं शठबुद्धिना।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्याः पालयितुं प्रजाः॥ शा० प०, ७५–१४

८. न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समग्रतः।
अधार्यो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुन्जरः॥ शा० प०, ५६–३७

प्रकार राजा के गुणावगुणों को स्पष्ट करके भीष्म ने जनता का, विशेषतः जनतंत्र राज्य की जनता का मार्गप्रदर्शन किया है।

(४) राजा के कर्तव्य

यहां जो राजा के कर्तव्य कहे गये हैं, उनको यदि राज्य के कर्तव्य कहा जाय तो अन्तर नहीं पड़ता। वास्तव में भीष्म ने राजा के कर्तव्य बताकर राज्य के अधिकार की सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। जनतंत्र शासन में भी इन सीमाओं का पालन आवश्यक था।

(क) राजा का सर्वप्रथम कर्तव्य है जनता को सुखी और प्रसन्न रखना।[1] जनता को प्रसन्न रखने के लिए आवश्यक है कि जनता के हृदय से भय को दूर किया जाय।[2] कामन्दकीय नीतिसार में प्रजा को पांच प्रकार से भय होना बतलाया गया है[3]—(१) लोभी राजा से (२) राजा के प्रिय लोगों से, (३) राजकर्मचारियों से, (४) चोरों से (५) और शत्रु से। इन पांचों प्रकार के भय से प्रजा को बचाने के लिए राजा को यह देखना होता था कि उसका लोभ इतना तो नहीं बढ़ गया है जो प्रजा के दुःख का कारण बन गया हो? उसके प्रियजन अपने सम्बन्ध का दुरुपयोग करके प्रजा को सताने तो नहीं लगे? राजकर्मचारी अपने पदों का दुरुपयोग तो नहीं कर रहे हैं? राजकर्मचारियों की असावधानी के कारण चोरों का भय तो अधिक नहीं बढ़ गया है? और राज्य की शक्ति क्षीण होने के कारण शत्रु तो राज्य पर आक्रमण करने की घात नहीं लगा रहे हैं? उपर्युक्त पाँच प्रकार के भयों में प्रथम तीन प्रकार के भय राजा और उससे सुम्बन्धित व्यक्तियों से कहे गये हैं। वास्तव में अपने पदों का दुरुपयोग करने से ही ये भय उत्पन्न होते हैं। राजा को इन बातों में सावधान रहना आवश्यक है, चाहे राज्य राजतंत्र हो अथवा जनतंत्र।

(ख) **धर्म की रक्षा:**—राजा अथवा राज्य का दूसरा मुख्य कर्त्तव्य है कि वह जनता को अपने अपने धर्म के पालन करने की पर्याप्त् सुविधा दे।[4] वास्तव में

---

१. लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः॥ शा० प०, २७–११

२. पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥ शा० प०, ५७–३३

३. आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपतिलोभाच्चा प्रजानां पञ्चधा भयम्॥ कामन्दकीय नीतिसार ५–८२

४. चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः॥ शा० प०, ५७–१५

भारतीय दृष्टिकोण से राजा की उत्पत्ति इसी कारण से हुई है।[1]

भारतीय मनीषियों ने समाज की श्रमिक, आर्थिक, भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियों के संतुलित विकास के लिए ही वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की थी। अतः राजा का कर्तव्य था कि वह इस व्यवस्था को, चारों शक्तियों के संतुलित विकास को स्थित रखकर ही राज्य की उन्नति करे।

(ग) रक्षा—राज्य में व्यवस्था स्थिर करने के लिए रक्षा का प्रश्न सर्वप्रथम आता है। इसलिए जनता की आन्तरिक और बाह्य आपत्तियों से रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य कहा गया है।[2] राज्य की शक्ति को बनाये रखने के लिए यह अनिवार्य है। इसको पारिभाषिक भाषा में दण्ड कहा गया है।[3] परन्तु इस शक्ति को धर्म के अनुसार सावधानी से व्यवहार में लाना चाहिए, क्योंकि शक्ति के दुरुपयोग से संकट उपस्थित हो जाता हैं।[4]

(घ) **न्याय-व्यवस्था**—भारतीय राज्यदर्शन में विधि का स्थान सर्वोच्च माना गया है।[5] धार्मिक व सामाजिक विधियों को ही धर्म कहा गया है, जिसकी स्थापना के लिए राज्य की उत्पत्ति की गयी।[6] राज्यकार्य चलाने के लिए भी विस्तृत विधियों का निर्माण किया गया जिनको दण्डनीति के नाम से प्रसिद्ध किया गया।[7] इन सब विधियों का निर्माण राज्य द्वारा नहीं हुआ था और न राज्य को विधिनिर्माण करनेका अधिकार

---

१. स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ मनु० अ० ७ श्लोक ३५

२. रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परम् मतम्। शा० प० अ० १२० श्लोक ३

३. दण्डेन नीयतेचेदं दण्डं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्तते॥ शा० प०, ५९–७८

४. विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया।
शा० प० अ० १२२ श्लोक ४०

५. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २९४, २९५

६. स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ मनु० अ० ७ श्लोक ३५

७. दन्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रींल्लोकानभिवर्तते॥ शा० प०, ५९–७८
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ मनु० अ० ७ श्लोक १८

प्राप्त था।[१] यहाँ तक कि प्रशासनिक विधियों, जिनको दण्डनीति कहते थे, की उत्पत्ति भी ब्रह्मा[२] अथवा ऋषि-मुनियों[३] द्वारा कही गयी है। ऐसी स्थिति में राज्य का कर्त्तव्य केवल यह रह जाता है कि वह पक्षपात से रहित न्याय-व्यवस्था स्थापित कर दे, जिससे कि विधियों का उल्लंघन करने वाले को उचित दण्ड मिल सके। न्याय-व्यवस्था को इतना पक्षपातरहित बनाना चाहिए कि राजा के निकट सम्बन्धी भी, अपराध करने पर दण्ड से न बच सकें।[४] न्याय के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के साथ कोई पक्षपात न था।[५] अपराधी सिद्ध होने पर राजा का पुरोहित भी दण्डनीय था।[६]

आवश्यकता पड़ने पर विधि की व्याख्या करने का अधिकार भी राज्य को नहीं दिया गया। ऐसी स्थिति में दस वेदशास्त्र के जानने वाले पण्डित लोग, अथवा तीन धर्मज्ञ जो व्यवस्था बतायें वह माननीय कही गयी है।[७]

अतः भीष्म के मतानुसार यह पक्षपातरहित न्याय-व्यवस्था प्रत्येक राज्य में, चाहे वह राजतंत्र हो अथवा जनतंत्र, वांछनीय थी।

(ङ) **राजकर्मचारियों की नियुक्ति :**—राजकर्मचारियों की नियुक्ति के विषय में भी राजा को सावधानी से काम लेना चाहिए, ऐसा भीष्म का मत है। भीष्म के मतानुसार अकेला राजा कितना भी योग्य हो, विना योग्य कर्मचारियों के भली भाँति शासन करने में समर्थ नहीं होता,[८] इसलिए जो राजा कर्मचारियों को उनकी

---

१. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ १७३, १७४

२. उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता॥ शा० प०, ५९–७६

३. एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च॥ शा० प०, ५९–८६

४. यथा पुत्रास्तथापौत्राः दृष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिस्तेषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते॥ शा० प०, ६९–२७

५. त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां ये चैवोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम्।
एतत् कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्यं,मन्यत् कुर्वञ्छूद्रवच्छस्त्रवध्यः॥
शा० प०, ६५–८

६. माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मेण तिष्ठति॥ शा० प०, १२१–६०

७. दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद् ब्रूयः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये॥ शा० प०, ३६–२०

८. न च प्रशास्तुं राज्यं हि शक्यमेकेन भारत।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत॥ शा० प०, ११५–१३

योग्यतानुसार कार्य देता है वह ही सुचारुरूपेण शासन कर सकता है।[1] इसलिए कर्मचारियों के गुण-अवगुणों का परीक्षण करके ही उनकी नियुक्ति करनी चाहिए। मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रिय-लोलुप और अकुलीन मनुष्य राज्यकार्य में नियुक्त नहीं होना चाहिए।[2] साधु, कुलीन, वीर, ज्ञानी, अनिन्दक, उदार, पवित्र और निपुण व्यक्तियों की नियुक्ति की जानी चाहिए।[3] यहां पर अन्य योग्यताओं के साथ ऊंचे कुल में उत्पत्ति की ओर भी ध्यान दिया गया है, क्योंकि भीष्म के मतानुसार पैतृक गुण प्रधान होते हैं।[4]

राजकर्मचारियों के नियुक्ति-सम्बन्धी उपरोक्त नियम भीष्म के मतानुसार प्रत्येक राज्य को मानने चाहिए, चाहे वह राजतंत्र हो अथवा जनतंत्र।

(च) राज्य के सामाजिक तथा आर्थिक कर्त्तव्य :—भीष्म ने सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी राज्य के कुछ कर्त्तव्य बताये हैं जो कि जनहित की भावना से राज्य को करने चाहिए। मद्यशाला, वेश्यालय, कुट्टनी, कुशीलव तथा कितव आदि के स्थानों पर राज्य का नियंत्रण रहना चाहिए, क्योंकि ये राष्ट्रघाती होते हैं।[5] भीष्म के मतानुसार मनुष्य मद्य, मांस, परस्त्रीगमन और परधन-हरण आदि में अनायास ही आसक्त हो जाते हैं और फिर अपने कार्यों को उचित सिद्ध करने के लिए शास्त्रों का प्रमाण देते हैं।[6] राज्य में भिक्षुओं और दस्युओं, चोर डाकू आदि का होना बुरा माना गया है।[7] भीष्म ने भिक्षावृत्ति के विषय में मनु की उक्ति का उल्लेख करते हुए कहा

---

१. अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति।
स भृत्यगुणसम्पन्नो राजा फलमुदाश्नुते॥ शा० प०, ११९–४

२. न बालिशा न च क्षुद्रा नाप्राज्ञा नाजितेन्द्रियाः।
नाकुलीना नराः सर्वे स्थाप्या गुणगणैषिणा॥ शा० प०, ११९–८

३. साधवः कुलजाः शूरा ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः स्युर्नराः पारिपार्श्वकाः॥ शा० अ०, ११९ श्लोक ९

४. इसी अध्याय का प्रकरण (अ)

५. पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥ शा० प०, ८८ १४, १५।

६. मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च।
आहरेद्रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत्॥ शा० प०, ८८–२२

७. मा ते राष्ट्रे याचनकाऽभूवन् वा चापि दस्यवः।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः॥ शा० प०, ८८–२४

है कि आपत्काल के अतिरिक्त अन्य अवस्था में दूसरे से याचना करना अनुचित है।[१]

आर्थिक क्षेत्र में राज्य को सार्वजनिक उत्सव, सामाजिक उद्योग आदि में सहयोग देना चाहिए,[२] कूप, जलाशय, सार्वजनिक शय्यागृह, विश्रामगृह आदि का निर्माण करना चाहिए,[३] और जीर्णस्थानों की रक्षा करनी चाहिए।[४] भीष्म के मतानुसार राज्य को वृत्तिहीन, व्यवसायरहित व्यक्तियों के भरण-पोषण का प्रबन्ध करना चाहिए और अपने व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों की भी देख-रेख रखनी चाहिए[५] कि उनके व्यवसाय में कोई कठिनाई तो उपस्थित नहीं होती।

हमने यहां भीष्म द्वारा उपदेशित राजधर्म सम्बन्धी मुख्य बातों का उल्लेख किया है, जिसके द्वारा तत्कालीन राज्य के कार्यक्षेत्र का अनुमान किया जा सकता है। उपरोक्त सभी नियम राजतंत्र और जनतंत्र दोनों प्रकार के राज्यों द्वारा पालन करने के लिए थे, क्योंकि ये राज्य के सामान्य धर्म थे।

(आ) संघराज्य और उससे संभाविक हानियां

महाभारत में हमको चार प्रकार के जनतंत्र राज्यों का वर्णन मिलता है—(१) वैराज्य, (२) पारमेष्ठ्य राज्य, (३) गणराज्य और (४) संघराज्य। हम इनके सम्बन्ध में क्रमानुसार विचार करते हैं।

वैराज्य

महाभारत भीष्मपर्व में अध्याय ११ श्लोक ३५ से ३९ तक हमको चार ऐसे जनपदों का वर्णन मिलता है—मंग, मशक, मानस और मन्दग—जिनमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रहते थे। वहां न कोई राजा था, न दण्ड देने वाला ही था। वहाँ के लोग धर्म के ज्ञाता थे और स्वधर्म पालन के ही प्रभाव से एक दूसरे की रक्षा करते थे।[६] चाहे इनका ऐतिहासिक अस्तित्व हो या न हो, इनसे एक ऐसी शासन-

---

१. न केनचिद्याचितव्यः कश्चित्किन्चिदनापदि।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता॥ शा० प०, ८८–१६

२. उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा। शा० प०, ५९–६७

३. कूपाः प्रपाश्च शयनानि च...... शा० प०, ६५–१९

४. केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम्। शा० प०, ५८–७

५. अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः। शा० प०, ५७–१९

६. तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः।
मंगाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा।
मंगा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वधर्मनिरता नृप॥

पद्धति का आभास मिलता है कि जहां लोग बिना किसी को राजा अथवा प्रधान बनाये, अपने राज्य में शान्ति और व्यवस्था रखते थे। सम्भव है कि राज्य की उत्पत्ति के आरम्भ की यह अवस्था हो, जब कि लोग सब एकत्र होकर अपनी समस्याओं को हल कर लेते हों, क्योंकि ग्रन्थकार ने एक अन्य स्थान पर सत्ययुग में इस प्रकार की अवस्था का वर्णन किया है,[1] कि सत्ययुग में न राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला; समस्त प्रजा धर्म के अनुसार ही परस्पर रक्षा कर लेती थी। परन्तु दोनों स्थानों पर जो अन्तर है वह ध्यान देने योग्य है। सत्ययुग के वर्णन में स्पष्ट कहा गया है कि उस समय राज्य भी नहीं था; परन्तु मंग, मशक, मानस और मन्दग जनपदों के वर्णन में ग्रन्थकार यह नहीं कहता है कि वहां राज्य भी नहीं था, वह केवल इतना कहता है कि राजा, दण्ड और दण्ड देनेवाला नहीं था। अतः स्पष्ट हो जाता है कि इन जनपदों में राज्य तो था, प्रशासनिक व्यवस्था थी, परन्तु राजा कोई नहीं था। वैराज्य शब्द से ऐसे ही राज्य का भाव निकलता है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने भी वैराज्य का यही अर्थ लिया है।[2]

महाभारत के उपर्युक्त वर्णन से इस शासनप्रणाली पर भी जो प्रकाश पड़ता है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन हमने अध्याय ९ में किया है।

(२) पारमेष्ठ्य राज्य

ऐतरेय ब्राह्मण ८–१५ में जो विभिन्न प्रकार के राज्यों के नाम मिलते हैं, उनमें पारमेष्ठ्य राज्य का भी नाम उल्लिखित है।[3] डा० के० पी० जायसवाल लिखते

मशकेषु तु राजन्या धार्मिकाः सर्वकामदाः।
मानसाश्च महाराज वैश्यधर्मोपजीविनः॥
सर्वकामसमायुक्ताः शूरा धर्मार्थनिश्चिताः।
शूद्रास्तु मन्दगा नित्यं पुरुषा धर्मशीलिनः॥
न तत्र राजा राजेन्द्र न दण्डो न च दाण्डिकः।
स्वधर्मेणैव धर्मज्ञास्ते रक्षन्ति परस्परम्॥ भीष्मपर्व, ११ श्लोक ३५-३९

१. न वै राज्यं न राजासीन्न न दण्डो नच दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ शा० प०, ५९–१४

२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ७८

३. साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यं
आधिपत्यमयं समंतपर्यायी स्यात्सार्वभौमः सार्वायुष...॥
ऐतरेय ब्राह्मण ८–१५

हैं कि सम्भवतः पारमेष्ठ्य राज्य किसी प्रकार का ऐसा राजतंत्रीय शासन था जिसका संगठन कुछ भिन्न प्रकार का था।[१] परन्तु महाभारत सभापर्व अध्याय १५ में पारमेष्ठ्य राज्य का कुछ वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार यह पूर्णतः जनतंत्र शासन-प्रणाली सिद्ध होती है। पारमेष्ठ्य राज्य में प्रत्येक गृहपति राजानः होता था जो अपने हित की रक्षा करता था। उनमें से कोई भी सम्राट् की पदवी धारण नहीं करता था और उनका राज्य भी साम्राज्य कहलाने योग्य नहीं होता था।[२] हम देख चुके हैं कि राजानः शब्द का अर्थ राज्यसभा का सदस्य होता है। यहां पर भी राजानः शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और सिद्ध करता है कि पारमेष्ठ्य राज्य में प्रत्येक गृहपति को सभा में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता था, इस प्रकार के राज्य में सब लोग एक दूसरे के भाव को समझते थे और दूसरे के साथ मिलकर व्यवहार करते थे। वे स्वयम् अपनी प्रशंसा नहीं करते थे। परन्तु दूसरों के साथ स्पर्धा करके जो आगे बढ़ता था, उसकी प्रशंसा होती थी।[३] उनकी भूमि विशाल और रत्नों से भरी हुई होती थी। क्योंकि वे समझते थे कि भविष्य में उनका कल्याण किस प्रकार होगा।[४] अर्थात् वे अपनी नीति भली प्रकार सोचकर बनाते थे। उनमें कभी कोई, कभी कोई श्रेष्ठ बन जाता था और वे उत्तम कुल में उत्पन्न मनस्वी इस नियम को जानते थे।[५] वे लोग शम (संयम) को ही सर्वोत्तम मानते थे और समझते थे कि उसी से उनका भला होगा।[६] युधिष्ठिर ने अपना मत प्रकट किया है कि पारमेष्ठ्य नामक यह उच्चकोटि की शासन-प्रणाली आरम्भ मे प्राप्त नहीं हो सकी थी।[७]

पारमेष्ठ्य राज्य के सम्बन्ध में महाभारत का उपर्युक्त वर्णन अमूल्य प्रकाश डालता है, जो अन्य किसी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। इस शासन-प्रणाली में राज्य

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ३४५ नोट १

२. गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्छब्दो हि कृच्छ्रभाक्॥ सभापर्व १५–२

३. कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते॥ सभापर्व १५–३

४. विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता।
दूरं गत्वा विजानन्ति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह॥ सभापर्व १५–४

५. एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दनः॥ सभापर्व १५–६

६. शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम। सभापर्व १५–५

७. आरम्भे पारमेष्ठ्यं तु न प्राप्यमिति मे मतिः॥ सभापर्व १५–५

के अध्यक्ष को राजा नहीं कहते थे, उसको श्रेष्ठ कहा जाता था और उसकी नियुक्ति स्पर्धा द्वारा किसी निश्चित अवधि के लिए होती थी, इस प्रकार कभी कोई श्रेष्ठ बन जाता था और कभी कोई। परन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि यह स्पर्धा किस प्रकार की होती थी। इतना स्पष्ट है कि इस शासन-प्रणाली में प्रत्येक गृहपति राज्यसभा का सभासद् होता था। इस शासन-प्रणाली में सहयोग और संयम पर विशेष बल दिया जाता था, यह राज्य साम्राज्य कहलाने योग्य नहीं होता था । इस कथन से विदित होता है कि इस प्रकार के राज्य बहुत छोटे होते थे । महाभारत में इस प्रकार के राज्य का कोई ऐतिहासिक अस्तित्व नहीं मिलता, परन्तु इस वर्णन का महत्व राजनीति की दृष्टि से कम नहीं है ।

(३) गणराज्य

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं, वैराज्य में सारी जनता मिलकर राज्य कार्य चलाती थी और पारमेष्ठ्य राज्य में प्रतिनिधित्व का अधिकार गृहपतियों को था, परन्तु गणराज्य में प्रतिनिधित्व जाति और कुलों के आधार पर होता था। महाभारत शान्तिपर्व में कहा गया है कि गणराज्य में जाति और कुल की दृष्टि से सभी व्यक्ति समान माने जाते हैं, परन्तु उद्योग, बुद्धि, रूप और द्रव्य की असमानता को राज्य नहीं मिटा सकता।[1] इस कथन का तात्पर्य यदि यह माना जाय कि गणराज्य में केवल एक ही जाति के व्यक्ति होते थे, तो यह भी मानना पड़ेगा कि इस श्लोक के अनुसार उसमें केवल एक ही कुल के मनुष्य होते थे। परन्तु हमको इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि गणराज्य में विभिन्न जातियों और विभिन्न कुलों के व्यक्ति सम्मिलित होते थे। अतः हमको इन प्रमाणों पर दृष्टि डालना उचित है।

भागवत पुराण में श्री कृष्ण अन्य यदुवंशियों को समझाते हुए कहते हैं कि धर्मशास्त्रों के अनुसार वैश्यों की जीविका-वृत्ति वार्ता द्वारा निश्चित की गयी है। वार्ता में चार प्रकार के व्यवसाय सम्मिलित होते हैं; कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज लेना। इन चारों में से हम लोग सदा से केवल एक ही पशुपालन का व्यवसाय करते चले आये हैं।[2] इस कथन से स्पष्ट होता है कि यदुवंशी लोग अपने को वैश्य वर्ण का मानते थे।

---

१. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः॥ शान्ति० १०७, ३०–३१

२. वर्तेत विद्यया विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥
कृषिवाणिज्यगोरक्षाः कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥ भागवत १०–२४–२० ।

परन्तु महाभारत में अन्धक-वृष्णि संघ में यदुवंशियों को हम शासनाधिकार-प्राप्त देखते हैं। स्वयं श्री कृष्ण उनके संघ-मुख्य थे। इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि गणराज्य में जातिभेद नहीं माना जाता था। अतः शान्तिपर्व १०७–३० का सही तात्पर्य यही है कि गणराज्य में सभी जातियों को समान अधिकार प्राप्त होते थे।

जातक ४–१४८ में कहा गया है कि वैशाली नगर में गणराज्य के कुलों का अभिषेक पोक्खरणी के जल से होता था।[१] यहाँ पर कुल शब्द बहुवचन (कुलानां) में प्रयुक्त हुआ है। साथ ही जातक १४९ के अनुसार लिच्छवि गणराज्य में ७७०७ राजा और इतने ही उपराजा थे।[२] इससे सिद्ध होता है कि लिच्छवि गणराज्य में ७७०७ कुलों को शासन में प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त था। कात्यायन के अनुसार भी कुलों के समूह को गण कहते थे।[३] अतः गणराज्य में अनेक कुलों का सम्मिलित होना सिद्ध होता है। इसलिए शान्तिपर्व १०७–३० का तात्पर्य यही है कि गणराज्य में सभी जातियों और सभी कुलों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते थे।

डा० श्यामलाल पाण्डेय के मतानुसार महाभारत काल में भारत के उत्तर और पश्चिम, भागों में बहुत से गणराज्य थे, जिनके नाम महाभारत के सभापर्व और वनपर्व में सात दस्यु-गणराज्य, सुह्य, चोल, बाह्लीक, दरद, कम्बोज, त्रिगर्त, दार्व, कोकनद, परम कम्बोज, लोह, ऋषिक, दशार्ण, शिबि, अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट, ग्रामणीय, शूद्र, आभीर, मत्स्य, म्लेच्छ, अटवि, मद्र, रोहितक, आग्नेय, शशक, यवन आदि हैं।[४] इन राज्यों को गणराज्य मानने का आधार, डा० श्यामलाल पाण्डेय के मतानुसार, यह है कि इनके वर्णन में ग्रन्थकार ने किसी राजा का नाम नहीं दिया, जैसा कि उन्होंने त्रिगर्त, दार्व और कोकनद के वर्णन में लिखा है।[५] परन्तु आश्वमेधिक पर्व अ० ७४ श्लोक ९ में त्रिगर्तराज सूर्यवर्मा का उल्लेख किया गया है।[६] साथ ही यह बात उल्लेखनीय है कि सभापर्व २९–३ में पांचालों[७] का और सभापर्व ३०–८ में

१. वेसालि नगरे गणराज कुलानां अभिसेक मंगल पोक्खरणी। जातक ४–१४८
२. तत्थ निच्चकालं रज्जम कारेत्वा वसन्तानां येव राजनाम सप्तसहस्सानि सतसतानि सत्त च राजानो होंति ततका येव उपराजानो। जातक १४९
३. कुलानां हि समूहस्तु गणः संप्रकीर्तितः। वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२६
४. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, अध्याय ८ पृष्ठ २३३–२४०
५. उपर्युक्त, पृष्ठ २३४
६. ततस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे।
विचित्य शरजालेन प्रजहास धनंजयः॥ आश्वमेधिक पर्व, अ० ७४ श्लोक ९
स गत्वा नरशार्दूलः पंचालानां पुरं महत्।
पंचालान् विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः॥ सभापर्व अ० २९ श्लोक ३

मत्स्यों[१] का भी इसी प्रकार बिना राजा का नाम लिये हुए वर्णन किया गया है, जब कि पंचालनरेश राजा द्रुपद और मत्स्यनरेश राजा विराट महाभारत के सुप्रसिद्ध वीर हैं। वास्तव में उस समय जनतंत्र का प्रभाव अधिक होने के कारण जनपदवासियों के नाम पर ही राज्य को सम्बोधित करने की प्रथा थी। अतः हमारे विचार से केवल उन्हीं राज्यों को गणतंत्रात्मक मानना चाहिए जिनके नाम के साथ गण होने का संकेत दिया गया है, जैसे पंचगणदेश,[२] सात दस्युगणराज्य,[३] म्लेच्छगण,[४] उत्सवसंकेत नामक गण[५] शूद्र-आभीर गण[६] आदि। किसी राज्य के राजा का नाम उल्लिखित होने या न होने से यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि वह गणतंत्र राज्य है अथवा राजतंत्र, क्योंकि दोनों ही प्रकार के राज्यों में प्रमुख को राजा कहते थे।[७]

अभिसारी, उरगा और सिंहपुर[८] नामक नगरों के वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वे नगर-राज्य थे और उनमें वैराज्य अथवा पारमेष्ठ्य-प्रणाली का शासन होगा। इन राज्यों के वर्णन में उरगावासी रोचमान और सिंहपुर के रक्षक चित्रायुध का राजोचित वर्णन नहीं है। वैराज्य में राजा नहीं होता और पारमेष्ठ्य-प्रणाली में राजसभा के सभी सदस्य राजानः कहलाते हैं। परन्तु उनके अध्यक्ष के राजा नाम के पद का संकेत नहीं मिलता, अतः वे राज्य वैराज्य अथवा पारमेष्ठ्य प्रणाली द्वारा शासित होते होंगे। इनके छोटे होने के कारण यह सम्भव भी था।

(४) संघराज्य

महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म ने गणराज्यों को संघबद्ध होकर रहने का उपदेश

---

१. ततो मत्स्यान् महातेजा मलदांश्च महाबलान्। सभा प०, अ० ३० श्लोक ८
१. किरीटी जितवान् राजन् देशान् पंचगणांस्ततः। सभा प० अ० २७ श्लोक १२
२. गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पान्डवः। स० प०, अ० २७ श्लोक १६
३. सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः।
सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः॥ स० प०, अ० ३० श्लोक २५
४. गणानुत्सवसंकेतान्व्यजयत्पुरुषर्षभः॥ स० प० अ० ३२ श्लोक ९
५. शूद्राभीरगणांश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम्। स० प०, अ० ३२ श्लोक १०
६. इसी अध्याय का प्रकरण (अ)
७. अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत्॥
ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायु सुरक्षितम्।
प्राधमद् बलमास्थाय पाकशासनिराहवे॥ स० प०, अ० २७ श्लोक १९, २०

किया है।[१] महाभारत में कई स्थानों पर संघराज्यों का उल्लेख भी मिलता है। सभापर्व २७-१२ में उल्लिखित पञ्चगण[२] सभापर्व २७-१६ में सप्तगण[3] और सभापर्व २७-१७ में उल्लिखित दशमण्डल[४] राज्य संघराज्यों की ओर संकेत करते हैं। महाभारत का एक प्रसिद्ध संघराज्य अन्धक-वृष्णि था। भीष्मपर्व अ० ५९ श्लोक ९८ में कृष्ण को अन्धक-वृष्णिनाथ कहा गया है,[५] जिससे प्रतीत होता है कि कृष्ण उस संघ के प्रधान थे। आदि पर्व २३-८ में उग्रसेन को वृष्णियों का राजा कहा गया है। इसी प्रकार वनपर्व १५-२३ में आहुक को राजा कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि अन्धक और वृष्णि भिन्न-भिन्न गणराज्य थे और उन दोनों ने मिलकर अन्धक-वृष्णि संघ बना लिया था, जिसके प्रधान श्री कृष्ण थे। परन्तु शा० प०, अ० ८१ श्लोक २९ में कहा गया है कि हे महाबाहो कृष्ण, समस्त यादव, कुकुर, भोज और अन्धक-वृष्णि लोग तथा उनके ईश्वर (राजा) अपनी उन्नति तथा सम्पन्नता के लिए तुम्हीं पर निर्भर रहते हैं।[६] इससे स्पष्ट है कि यादव, कुकुर, भोज और अन्धक-वृष्णियों का एक संघ था जिसके प्रधान श्री कृष्ण थे।[७]

यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि अन्धक-वृष्णियों का एक संघ था, जिसकी इकाइयाँ अन्धक और वृष्णि थीं। शा० प० अ० ८१ में श्री कृष्ण इसी संघ की एकता के सम्बन्ध में अधिक चिन्तित दिखाई देते हैं। परन्तु यादव, कुकुर, भोज और अन्धक-वृष्णि संघ की इकाइयाँ (१) यादव, (२) कुकुर, (३) भोज और (४) अन्धक-वृष्णि थीं, अर्थात् इस बड़े संघ में अन्धक-वृष्णि एक इकाई के रूप में सम्मिलित थे। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि अन्धक-वृष्णि एक ऐसा संघ था जिसमें अन्धक और वृष्णियों ने अपना अलग अस्तित्व खो सा दिया था, वे सब बातों के लिए एक हो गये थे। अतः यह वह संघ था जिसको अंग्रेजी में फेडरेशन ((Federation) कहते हैं। यादव, कुकुर, भोज और अन्धक-वृष्णि, इन चार इकाइयों ने

---

१. तस्मात्संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा।। शा० प०, अ० १०७ श्लोक १४
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृतिषु।। शा० प०, अ० १०७ श्लोक १५

२. किरीटी जितवान् राजन् देशान् पंचगणांस्ततः। स० प०, अ० २७ श्लोक १२

३. गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पाण्डवः। स० प०, अ० २७ श्लोक १६

४. व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह। स० प०, अ० २७ श्लोक १७

५. अन्धकवृष्णिनाथ। भीष्म प०, अ० ५९ श्लोक ९८

६. यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः।
त्वय्यायत्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये।। शा० प०, अ० ८१ श्लोक २९

७. संघमुख्योसि केशव। शा० प०, अ० ८१ श्लोक २५

मिलकर जो संघ बनाया था, वह अधिकांश में सुरक्षा की दृष्टि से कानफेडरेशन (Confederation) के रूप में था, जिसको राष्ट्रमण्डल कह सकते हैं।

इस प्रकार महाभारत में हमको संघ के दो रूप मिलते हैं—संघ और राष्ट्रमण्डल।

भारतीय इतिहास में रामायण और महाभारत का युग ऐसा था कि जब तत्कालीन जनतंत्र-शासन में बहुत सी बुराइयाँ उत्पन्न हो गयीं थीं इन दोषों को दूर करने के प्रयास से ही राजतंत्र प्रणाली का अभ्युदय हुआ था, अतः तत्कालीन राजतंत्र शासन में वे दोष अधिकांश में दूर कर दिये गये थे। इसलिए जनतंत्रात्मक शासन अवनति पर था और राजतंत्रात्मक राज्य बृहत्तर तथा अधिक शक्तिशाली होते जा रहे थे। इस कारण लोकप्रियता जनतंत्र शासन से हटकर राजतंत्र की ओर जा रही थी, यही कारण था कि जनतंत्र शासन का पतन हो रहा था।

वैराज्य प्रणाली केवल बहुत छोटे राज्यों में ही सम्भव थी। अतः विस्तृत राज्यों के प्रभाव से उनका लोप हो जाना स्वाभाविक था। यही बात पारमेष्ठ्य प्रणाली के लिए भी कही जा सकती है। गण-राज्य और संघ-राज्यों के दोषों और पतन के कारणों पर विस्तृत विवेचन अगले प्रकरणों में किया गया है।

जनतंत्र के गुण

इस प्रकरण में हम जनतंत्र का वह स्वरूप प्रस्तुत करेंगे जो महाभारत के ग्रन्थकार ने आदर्श रूप में माना था। इस स्वरूप को चित्रित करने में हमको महाभारत में यत्र-तत्र बिखरी हुई सामग्री को एकत्र करना होगा, क्योंकि इस ग्रन्थ में कहीं भी यह सब एकत्रित रूप में नहीं दिखायी गयी है। शान्ति पर्व अध्याय १०७ में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर भीष्म ने गणतंत्र की वृद्धि और पतन के कारण ही समझाये हैं, गणतंत्र का पूरा स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया है। अतः हम इस ओर प्रयास करना उचित समझते हैं।

(१) विधायिनी शक्ति का प्रथक्करण

जैसा कि हम इसी अध्याय के प्रकरण (आ) में सिद्ध कर चुके हैं, भारतीय राज्यदर्शन में विधायिनी शक्ति को राज्य के अधिकारों से पूर्णतः बाहर रखा गया है। सामाजिक, धार्मिक और प्रशासनिक (दण्डनीति) सभी प्रकार की विधियों का अधिकांश ब्रह्मा द्वारा रचित माना गया है।[१] प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मा कौन था और उसने किस प्रकार विधियों का संग्रह भारतीय समाज को दिया? इसके उत्तर

---

१. इसी अध्याय का प्रकरण (आ) और डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद पृष्ठ १४५

में महाभारत शान्तिपर्व अ० ७६ श्लोक २ में कहा गया है कि जो विद्वान् उत्तम लक्षणों से सम्पन्न तथा सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाले हैं, ऐसे ब्राह्मण ब्रह्मा जी के समान कहे गये हैं।[१] वास्तव में प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों की यह शैली है कि वे आत्मदर्शी मनीषियों को देवस्वरूप लिखते हैं। इसलिए भागवत पुराण ११-३-४४ में स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार बच्चों को सरलता के लिए नाना प्रकार के उदाहरण, कथाएँ आदि कहकर समझाया जाता है, उसी प्रकार यथार्थ भाव को समझाने के लिए बहुत-सी कथाएँ परोक्ष रूप में कही गयी हैं, इसलिए वेद परोक्षवादी हैं।[२] इन विधियों में जब और जितनी आवश्यकता हुई, ऋषि-मुनियों तथा आप्तपुरुषों द्वारा उसकी पूर्ति होती रही।[३] आवश्यकता पड़ने पर विधि की व्याख्या करने का अधिकार भी वेदशास्त्रियों और धर्मज्ञों को दिया गया है,[४] राज्य को नहीं।

(२) निर्वाचन

वैदिककालीन निर्वाचन प्रणाली पर हम पिछले अध्याय में विचार कर चुके हैं। वैदिककालीन समितियों के लोप हो जाने का मुख्य कारण यही था कि कालान्तर में उस निर्वाचन प्रणाली में बहुत परिवर्तन हो चुका था। महाभारत में समितियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। क्योंकि महाभारत काल में जनतंत्रीय राज्यों में निर्वाचन का आधार गृह, कुल और जातियां बन गयीं। हम देख चुके हैं कि पारमेष्ठ्य राज्य में प्रत्येक गृहपति राज्यसभा का सदस्य होता था।[५] गणराज्य में यह अधिकार कुलपतियों को प्राप्त होता था।[६] इसलिए तो कहा गया है कि कुलों में कलह उत्पन्न होने पर यदि कुलवृद्ध उपेक्षा करे तो गोत्र का नाश होता है जो गण में भेद पड़ने का कारण हो जाता है।[७] इससे विदित होता है कि गणराज्य की राज्यसभा कुलपतियों

---

१. विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः॥ शा० प०, अ० ७६ श्लोक २

२. परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥ भागवत पु० ११–३–४४

३. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ १४९ से १५६ तक

४. दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्नं स धर्मो धर्मसंशये॥ शा० प० अ० ३६ श्लोक २०

५. कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः।
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारणम्॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक २७, २८

६. प्रस्तुत निबन्ध

७. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २४४

के द्वारा बनायी जाती थी । इसकी पुष्टि बौद्ध साहित्य से स्पष्टतः हो जाती है । गणराज्य का राजा भी निर्वाचित होता था और सम्भवतः वह राज्यसभा द्वारा चुना जाता था ।

गृहपति और कुलपति का निर्वाचन कुलधर्म के अनुसार होता था। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि कुलधर्मों को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त होती थी। अतः कुलों को अवश्य ही अपनी-अपनी प्रथा के अनुसार उस समय कुलपति और गृहपति बनाने की स्वतंत्रता होगी। सामान्यतः गृह में वयोवृद्ध ही गृहपति का पद ग्रहण करता था। पिता की मृत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र उत्तराधिकारी होता था। परन्तु ज्येष्ठ पुत्र के अयोग्य होने पर, उत्तराधिकार छोटे पुत्र को मिलता था। महाभारत में धृतराष्ट्र के अन्धे होने के कारण ही उनके छोटे भाई पाण्डु को यह पद मिला था।

इस बात के स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलते कि गणराज्य में अध्यक्ष (राजा) का निर्वाचन किस प्रकार होता था, परन्तु गणराज्य का संगठन और कार्य बहुमत पर आधारित होने के कारण यह कहा जा सकता है कि राजा का निर्वाचन भी राज्यसभा के सदस्यों द्वारा होता होगा।

इस प्रकार विधायिनी शक्ति का पृथक्करण और राज्य का निर्वाचन द्वारा संगठन कभी भी राजा को स्वच्छन्द होने का अवसर नहीं देते थे।

(३) न्याय–व्यवस्था

जिन गणों में धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय-व्यवस्था होती है, और उस व्यवस्था को मान्यता दी जाती है, वे गण उन्नति को प्राप्त होते हैं।[१] धर्मशास्त्रों के अनुसार न्याय-व्यवस्था इतनी पक्षपातरहित होनी चाहिए कि इसमें पुत्र-पौत्रों तक के साथ कोई पक्षपात न किया जाय।[२] अतः न्याय का कार्य प्रधान पंडितों द्वारा और शीघ्र होना आवश्यक था ।[3] इस प्रकार पक्षपातरहित न्याय-सत्ता की स्थापना करके भारतीय विद्वानों ने जनतंत्र को उत्कृष्ट बना दिया था।

(४) सर्वोच्च सत्ता

वैधानिक रूप से राज्य की सर्वोच्च सत्ता विधि में निहित थी,[४] क्योंकि राज्य

१. धर्मनिष्ठान् व्यवहारान् स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक १७
२. यथा पुत्रास्तथा पौत्राः दृष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते॥ शा० प०, अ० १६ श्लोक २७
३. निग्रहः पंडितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः। शा० प०, अ० १०७ श्लोक २७
४. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २९४, २९५

की उत्पत्ति ही विधिवत् व्यवस्था बनाये रखने के लिए हुई थी।[1]

व्यावहारिक रूप से जनतंत्र शासन में राज्यसभा ही सर्वोच्च राजनीतिक संस्था थी और यह सभा हर तरह से जनतंत्रात्मक थी।[2] यह सभा जनता द्वारा निर्मित थी, इसलिए जनता के प्रति उत्तरदायी थी। इसलिए व्यावहारिक रूप से सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित थी। सभा की सत्ता राजा से भी ऊंची थी, इसका प्रमाण महाभारत आदि पर्व में वर्णित अन्धक-वृष्णि संघ की सुधर्मा सभा के कार्यों से मिलता है। राजा उग्रसेन की अनुपस्थिति में ही सभा ने राज्य के एक गहन विषय पर निर्णय किया और उसको कार्यान्वित भी किया। इससे सिद्ध होता है कि प्रशासन सम्बन्धी सभी अधिकार सभा को प्राप्त थे।

(५) संगठन

जनतंत्र शासन में संगठन का बड़ा महत्व बतलाया गया है। आपस में फूट होने से ही गणराज्य नष्ट हुए हैं, फूट होने पर शत्रु उन्हें अनायास ही जीत लेते हैं, इसलिए गणों को चाहिए कि वे सदा संगठित होकर, एकमत होकर ही विजय के लिए प्रयत्न करें।[3] इसी लिए कहा गया है कि गण के मुख्य व्यक्तियों को परस्पर मिलकर समस्त गणराज्य के हित का साधन करना चाहिए, अन्यथा फूट पड़ने पर पृथक् पृथक् कई दलों का विस्तार होकर उसके सब काम बिगड़ जाते हैं।[4] संगठित बल-पौरुष से अर्थ की भी वृद्धि होती है और उनके संगठित रहने से बाहरी राज्य भी उनसे मित्रता करते हैं।[5] इस प्रकार जनतंत्र की शक्ति संगठन में ही बतायी गयी है।

(६) जनतंत्र की अन्य विशेषताएं

जनतंत्र शासन में जनता का परस्पर व्यवहार सेवामय और प्रेममय होता है, जिससे सर्वत्र सुख का अनुभव होता है और ज्ञानी लोग उसकी प्रशंसा करते हैं।[6]

---

१. स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामा माश्रणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।। मनु० अ० ७ श्लोक ३५

२. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २४७

३. भेदे गणा विनश्येयुः भिन्नास्तु सुजय : परैः।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा।। शा० प०, अ० १०७ श्लोक १४

४. गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा।। शा० प०, अ० १०७ श्लोक २५

५. अर्थाश्चैवाधिगम्न्ते संघातबलपौरुषैः।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु।। शा० प०, अ० १०७ श्लोक १५

६. ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम्।
विनिवृत्ताभिसन्धानाः सुखमेधन्ति सर्वशः।। शा० प०, अ० १०७ श्लोक १६

जनता अपने उत्तरदायित्व को समझती है, इसलिए लोग अपनी सन्तान को मर्यादा में रखकर विनयशील बनाते हैं।[1] जनतंत्र में व्यक्ति के गुणों का यथोचित सम्मान होता है।[2] सहयोग की भावना बढ़ने के कारण सामर्थ्यवान् मनुष्य कष्टों में पड़े हुए असहायों की सहायता करते हैं।[3]

(७) भाषण की स्वतंत्रता

जनतंत्र की सभा में सभासदों को भाषण की पूर्ण स्वतंत्रता होती थी। वे अपने अध्यक्ष की भी कटु आलोचना कर सकते थे। इसका प्रभाव यह पड़ता था कि जनतंत्र का राजा (अध्यक्ष) अपने ऐश्वर्य में भी जनता की सेवा के भाव से कभी उदासीन नहीं रहता था।[४]

इस प्रकार भारतीय विद्वानों ने जनतंत्र में अनेक गुण पाये थे और वे जनतंत्र की सराहना भी करते थे। जनतंत्र का कट्टर आलोचक कौटिल्य भी जनतंत्र शासन में संघशक्ति को दुर्दमनीय समझता था।[५]

जनतंत्र के दोष

जनतंत्र के आधुनिक आलोचकों ने जनतंत्र शासन में अनेक दोष बताये हैं। सेजविक, लेकी आदि विद्वान् जनतंत्र के कटु आलोचकों में गिने जाते हैं। परन्तु लार्ड ब्राइस ने अपने ग्रन्थ 'माडर्न डिमाक्रेसीज़' में गम्भीर अध्ययन के बाद जनतंत्र में निम्नांकित ६ दोष पाये हैं :—

(१) जनतंत्र शासन में विधिनिर्माण तथा शासन-प्रबन्ध को भ्रष्ट करने में धन का बहुत प्रभाव पड़ता है।

(२) जनतंत्र शासन में राजनीति को एक प्रकार का व्यवसाय या व्यापार बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

(३) जनतंत्र में समानता के सिद्धान्त की विकृति और प्रशासनीय बुद्धि एवं चातुर्य की अवहेलना की जाती है।

---

१. पुत्रान् भ्रातॄन् विगृह्लन्तो विनयन्तश्च तान् सदा।
विनीतांश्च प्रगृह्लन्तो विवर्द्धन्ते गणोत्तमाः॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक १८

२. प्राज्ञान् शूरान्महोत्साहान् कर्म्मसु स्थिरपौरुषान्।
मानयन्तः सदा युक्तान् विवर्द्धन्ते गणा नृप॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक २०

३. द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणाः सन्तारयन्तिते॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक २१

४. दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्।
अर्धं भोक्ताऽस्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे॥ शा० प०, ८१ ५

५. संघा हि संहतत्वादधृष्याः परेषाम्। अर्थशास्त्र ११-१-२

(४) जनतंत्र शासन में अपव्यय अधिक होता है।
(५) जनतंत्र शासन में राजनीतिक दल शासन में अनुचित हस्तक्षेप करते हैं।
(६) शासन के कर्मचारियों तथा व्यवस्थापिका परिषदों के सदस्यों में भविष्य में मत प्राप्त करने की दृष्टि से विधि बनाने तथा व्यवस्था भंग को सहन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

लार्ड ब्राइस के विचार से सभी प्रजातंत्रों के लिए दो महान् संकट हैं। एक संकट तो उन व्यक्तियों के स्वार्थ से है जो शासन का नियंत्रण अपने हाथों में ले लेते हैं और उसका दुरुपयोग करते हैं। दूसरा बड़ा संकट उन लोगों की अनुत्तरदायी सत्ता से है जो जनता को मनुष्यों एवं कार्यों को पहचानने के साधन प्रदान करते हैं। स्वार्थपरायण नेता समाचारपत्रों द्वारा अर्धसत्य अथवा मिथ्या प्रचार करते हैं और हिंसात्मक कार्यों के लिए प्रेरणा देते हैं।

(१) राजनीति को व्यवसाय बनाने की प्रवृत्ति

लार्ड ब्राइस द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त दोषों को महाभारत कालीन गणराज्यों में खोजने पर कुछ दोष अवश्य मिलते हैं। विधि-निर्माण का कार्य राज्य के क्षेत्र से बाहर होने के कारण शासनप्रबन्ध में अधिक भ्रष्टता नहीं प्रतीत होती है और धन का प्रभाव भी नहीं दिखाई देता। इस प्रकार उपर्युक्त दोषों में से प्रथम दोष से तो महाभारत कालीन गणराज्य मुक्त थे। परन्तु दूसरा दोष उनमें अवश्य दिखाई देता है। श्री कृष्ण उक्त दोष की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि 'अन्धक-वृष्णि संघ में अन्य कुछ नेता बलवान्, पराक्रमी और राजनीतिक बल से सम्पन्न हैं, वे जिसके पक्ष में हो जाते हैं उसकी सब बातें सध जाती हैं और वे जिसके पक्ष में नहीं होते हैं उसका अस्तित्व ही नहीं रहता।'[1] इस प्रकार उनमें पक्षपात का प्रभाव व्याप्त दिखाई देता है और राजनीति को एक प्रकार का व्यवसाय बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। यह दोष वास्तव में दलबन्दी के कारण उत्पन्न हुआ था।

(२) समानता के अधिकार का दुरुपयोग

जनतंत्र-शासन में जनता को समानता का अधिकार प्राप्त होता है, परन्तु उद्योग, बुद्धि, रूप और सम्पत्ति में सबका एक-सा होना सम्भव नहीं।[2] मानव-

---

१. अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरासदाः।
नित्योत्थानेन सम्पन्ना नारदान्धकवृष्णयः॥
यस्य न स्युर्न वै स स्यादृच स्युः कृत्स्नमेव तत्।
द्वयोरेवं प्रचरतोर्वृणोम्येकतरं न च॥ शान्तिपर्व ८१–८, ९

२. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः॥ शा० प०, १०७, ३०–३१

स्वभाव ऐसा है कि समानता का अधिकार मिलने पर, अयोग्य होते हुए भी वह लोभ के कारण उच्च पद पाने की अभिलाषा तथा प्रयास करने लगता है, और जब उसमें असफल रहता है तो उच्च पद-प्राप्त योग्य व्यक्तियों से द्वेष करने लगता है। इसलिए कहा गया है कि लोभ और अमर्ष ये दो मुख्य कारण हैं, जिनसे गणों में परस्पर वैर उत्पन्न होता है।[१] पहले लोभ उत्पन्न होता है और उसके अनन्तर अमर्ष आता है, तब इन दोनों के कारण क्षय और व्यय बढ़ता है, जिससे एक दूसरे का विनाश होता है।[२]

(३) दलबन्दी और उसके दोष

उपर्युक्त लोभ और दोष के कारण जब नेताओं में भेद पड़ जाते हैं, तब वे अपनी अलग-अलग शक्ति बढ़ाने लगते हैं, और तब अर्थ का अनर्थ होने लगता है।[३] गणों के संगठन में इस प्रकार भेद पड़ जाने से, नेता जनहित के कार्यों से उदासीन हो जाते हैं[४] क्योंकि उनको अपनी शक्ति के संगठन और अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति का ही ध्यान रहने लगता है। तब वे लोग परस्पर शुद्ध हृदय से बातचीत करना भी छोड़ देते हैं। यही पराभव का लक्षण समझना चाहिए।[५] क्योंकि ऐसी अवस्था में शत्रु भेदनीति और लालच देकर गणराज्य का पतन सुगम कर देते हैं।[६] इसलिए गणराज्य में बाह्य भय इतने घातक नहीं होते जितने आन्तरिक होते हैं।[७] उपर्युक्त दलबन्दी के दोष केवल सिद्धान्त में ही नहीं थे, अपितु अन्धक-वृष्णि संघ में ये इतने प्रबल हो गये थे कि श्री कृष्ण चिन्तित होकर नारद से इनको दूर करने का उपाय पूछते हैं (इस संवाद का विवरण शान्ति पर्व अध्याय ८१ में दिया गया है।) अन्धक-वृष्णि संघ के अन्य नेता बलवान्, पराक्रमी थे तथा राजनीतिक बल से सम्पन्न थे। वे जिसके पक्ष में हो जाते थे, उसकी सब बातें सध जाती थीं और जिसके पक्ष में नहीं होते थे, उसका

---

१. गणानाञ्च कुलानाञ्च राज्ञां भरतसत्तम।
वैरसन्दीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक १०

२. लोभमेको ही वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यस्य विनाशिनौ॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक ११

३. अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथाऽनर्था भवंति च।
तेषामन्योन्यभिन्नानं स्वशक्तिमनुतिष्ठताम्॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक २६

४. तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात्॥ शा० प०, अ० १०७ श्लोक १३

५. अन्योन्यं नाविभाषन्ते तत् पराभवलक्षणम्। शा० प०, अ० १०७ श्लोक ३०

६. भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक ३१

७. आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम्। शा० प० अ० १०७ श्लोक २८

अस्तित्व ही नहीं रह सकता था।[1] इसलिए दलबन्दी में न्याय का भी गला घुट जाता है। इस दलबन्दी के कुप्रभाव के कारण ही अन्धकों तथा वृष्णियों का पारस्परिक कलह द्वारा विनाश हुआ था।

(४) जनतंत्र में मंत्रणा को गुप्त रखना कठिन है

जनतंत्र में शासन अनेक व्यक्तियों द्वारा चलाया जाता है। समान अधिकार प्राप्त होने के कारण सभी सभासद भेद की बातों को जानने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए मंत्रणा को गुप्त रखना कठिन हो जाता है ।[2] गुप्त मंत्रणा को जानकर विरोधी दल हानि पहुंचाते हैं, इसलिए भीष्म के मतानुसार गणराज्य में गुप्त मंत्रणा सुनने का अधिकार सबको नहीं है। मंत्रणा को गुप्त रखने तथा गुप्तचरों की नियुक्ति का कार्य प्रधान व्यक्तियों के ही अधीन रहना चाहिए।[3]

(५) शासन में संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का लोप

हम देख चुके हैं कि वैदिक-काल के शासन में आर्थिक, धार्मिक और क्षेत्रीय संस्थाओं का प्रतिनिधित्व होता था। परन्तु महाभारत काल में ऐसा नहीं प्रतीत होता। वास्तव में इन संस्थाओं का प्रतिनिधित्व न रहने के कारण ही जनतंत्र शासन में वंशानुक्रमिक प्रतिनिधित्व हो जाना सम्भव हो गया। यही कारण था कि बौद्धकाल में हमको गणराज्यों का स्वरूप सर्वथा परिवर्तित मिलता है। बौद्धकाल के गणराज्य शुद्ध जनतंत्रीय न रहकर, सामन्ततंत्रीय दिखाई देते हैं । इसलिए शासन में संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का लोप जनतंत्रीय शासन के लिए घातक सिद्ध हुआ।

जनतंत्रात्मक शासन को सुरक्षित रखने के उपाय

जनतंत्र शासन में जब लोभ और अमर्ष के वशीभूत होकर जनता के प्रतिनिधि दलबन्दी में फँसने लगे, तब राजा का निर्वाचन योग्यता और गुणों के आधार पर न होकर, दलबन्दी के आधार पर होने लगा। फलस्वरूप बहुधा अयोग्य शासक पदारूढ होने लगे। अपना पक्ष दृढ कर लेने के कारण उनको पदच्युत करना भी कठिन प्रतीत होने

---

१. अन्ये हि सुमहाभागा बलवंतो दुरासदाः।
नित्योत्थानेन संपन्ना नारदांधकवृष्णयः॥
यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्।
द्वयोरेवं प्रचरतोर्वृष्णोम्येकतरं न च॥ शा० प०, अ० ८१ श्लोक ९, ९

२. भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मंत्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक ८

३. मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चाराश्चामित्रकर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मंत्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत॥ शा० प० १०७–२४

लगा।[1] ऐसी स्थिति देखकर विधायिनी शक्ति अर्थात् वेदज्ञ ब्राह्मणों ने राजा के वांछित गुणों की व्याख्या की।[2] परन्तु जो राज्योचित गुण राजा के लिए बताये गये उन सब गुणों से युक्त व्यक्ति मिलना अत्यन्त दुर्लभ सिद्ध हुआ। ऐसे व्यक्ति को पाने की अधिक सम्भावना राजा की सन्तान में ही हो सकती थी। पैतृक गुण मनुष्य में स्वभावतः होते ही हैं। साथ ही राजपुत्रों को उत्तम शिक्षा भी मिलती थी, और राज्य-कार्य के वातावरण में पलने के कारण, राज्य के कार्यों का बहुत कुछ ज्ञान भी उनको हो जाता था। इसलिए राजा को आदेश दिया गया कि वह राजकुमारों को जन्म से ही विनयशील बनाये, और उनमें से जो भी अपने अनुरूप गुणों से युक्त हो, उसको युवराज के पद पर नियुक्त करे।[3]

उपर्युक्त नियम के साथ ही जनता को अधिकार दिया गया कि राजा बनने के बाद भी, यदि वह अयोग्य सिद्ध हो तो उसको पदच्युत कर दिया जाय। महाभारत आश्वमेधिक पर्व अध्याय ४ श्लोक ७ से १० में इसका प्रमाण मिलता है। राजा विविंश के १५ पुत्र हुए। इन सब में जो ज्येष्ठ था उसका नाम खनिनेत्र था। वह अपने सभी छोटे भाइयों को कष्ट देता था। खनिनेत्र पराक्रमी होने के कारण निष्कण्टक राज्य को जीतकर भी उसकी रक्षा न कर सका, क्योंकि प्रजा उसको नहीं चाहती थी। उसको राजपद से हटाकर प्रजा ने उसी के पुत्र सुवर्चा को राजा के पद पर अभिषिक्त कर दिया। सुवर्चा अपने पिता की वह दुर्दशा देखकर, सावधान होकर नियमपूर्वक प्रजा के हित की इच्छा से राज्य करने लगा।[3] जनता के पास अयोग्य राजा को पदच्युत करने का

---

१. कृतमूलमिदानीं तत् ज्ञातिवृन्दसहायवत्।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव स्वयम्॥
बभ्रुप्रसेनतो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
ज्ञातिभेदभयात्कृष्ण त्वया चापि विशेषतः॥ शा० प० अ० ८१ श्लोक १६, १७

२. कुमारान् विनयेदेवं जन्मप्रभृति योजयेत्।
तेषामात्मगुणोपेतं यौवराज्येन योजयेत्।
महाभारत अनुशासन पर्व अ० १४५ (गीताप्रेस गोरखपुर।)

३. तेषां ज्येष्ठः खनीनेत्रः स तान् सर्वानपीडयत्॥
खनीनेत्रस्तु विक्रान्तो जित्वा राज्यमकण्टकम्।
नाशकद् रक्षितुं राज्यं नान्वरज्यन्त तं प्रजाः॥
तमपास्य च तद्राज्ये तस्य पुत्रं सुवर्चसम्।
अभ्यषिचन्त राजेन्द्र मुदिता ह्यभवंस्तदा॥
स पितुर्विक्रियां द्रष्ट्वा राज्यान्निरसनं च तत्।
नियतो वर्तयामास प्रजाहितचिकीर्षया॥ आदि प० अ० ४ श्लोक ७ से १०

अधिकार सुरक्षित होने के कारण, राजा का पद आजीवन हो गया। इस प्रकार जनतंत्र शासन में क्षोभ, अमर्ष और भेद पड़ जाने के कारण राजा के निर्वाचन के सिद्धान्त में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ी।

जैसा कि पिछले प्रकरण में लिखा जा चुका है, जनतंत्र में मंत्रणा को गुप्त रखना कठिन कार्य हो जाता है। राज्य की गुप्त मंत्रणा को जानकर, शत्रु उससे लाभ उठाता है। इसलिए राजा को योग्य और विश्वासपात्र मंत्रियों को चुनने का अधिकार दिया गया। परन्तु इस प्रकार के नियम बनाये गये कि मंत्रिपरिषद् में सभी वर्णों के योग्य व्यक्ति एक निश्चित अनुपात से आ सकें।[१] मंत्रियों की योग्यता के विषय में भी विस्तृत नियम बनाये गये, जिससे कि अयोग्य मंत्री न आ सकें।[२] इस मंत्रिपरिषद् की कार्य-प्रणाली भी जनतंत्रवाद के मौलिक सिद्धान्तों पर आश्रित की गयी। शासन सम्बन्धी विषयों पर स्वतंत्र विवेचन करने का प्रत्येक सदस्य को अधिकार था। बहुमत के निर्णय के अनुसार ही कार्य किया जाता था।[3] वैधानिक रूप से ये अधिकार परिषद् को प्राप्त थे। अतः जनतंत्र की राज्यसभा अब अनावश्यक प्रतीत होने लगी।

विधायिनी शक्ति अब भी राज्य के अधिकार से बाहर ही रखी गयी। सर्वोच्च सत्ता वैधानिक रूप से विधि में, और प्रजा को अयोग्य राजा को पदच्युत करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण, व्यावहारिक रूप से प्रजा में ही रही। न्याय-व्यवस्था के नियमों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

इस प्रकार जनतंत्र में उत्पन्न दोषों को दूर करने के प्रयास में जो परिवर्तन हुए, उनसे शासन की एक नवीन प्रणाली उत्पन्न हो गयी जिसको आधुनिक शब्दों में मर्यादित राजतंत्र कह सकते हैं।

समालोचना

(१) भारतीय मनीषियों ने सदैव जनतंत्र की ही सराहना की है, उन्होंने विधि की प्रधानता को सनातन कहा है।[४] राज्याभिषेक के लिए जनता की स्वीकृति को अनिवार्य माना गया है[५] और अयोग्य शासक को पदच्युत करने का अधिकार सदैव प्रजा पर रखा गया है। राजा वेन और खनिनेत्र की कथाओं से स्पष्ट है कि जनता अपने इस

---

१. इसी अध्याय का प्रकरण (अ)
२. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ ७८ से ८८
३. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ १००
४. धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्। शा० प० अ० ६० श्लोक ६
डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २९४,२९५
५. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ ५३

अधिकार का आवश्यकता पड़ने पर उपयोग करती रही है।[1] जनतंत्र शासन में उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए जो मर्यादित राजतंत्र की स्थापना की गयी, उसमें जनतंत्रवाद के वैध तत्वों को पूर्ववत् रखने का प्रयास किया गया था। वास्तव में एक बुराई को दूर करने के लिए ही, दूसरी बुराई को अपनाना पड़ा था। यह बात भारतीय विद्वानों से छिपी नहीं थी कि राजा प्रभुत्व के मद में स्वच्छन्द बन सकता है, इसी लिए उन्होंने राजा को सर्वोच्च सत्ता प्रदान नहीं की थी।

इस सम्बन्ध में महाभारत में भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। शासन को विधिवत् चलाने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों की शक्तियाँ अनिवार्य होती हैं। ब्राह्मण के पास अनुपम विचारशक्ति होती है, और क्षत्रिय के पास अनुपम बल होता है। ये दो जब साथ-साथ कार्य करते हैं तब प्रजा सुखी होती है।[2] ब्राह्मण-बल और क्षत्रिय-बल में सर्वोच्च कौन है?[3] यह प्रश्न उपस्थित होने पर ब्राह्मण को प्रथम और क्षत्रिय को द्वितीय कहा गया है।[4] परन्तु यहां पर ब्राह्मण शब्द का वास्तविक अर्थ यही समझना चाहिए कि जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया ये सद्गुण दिखाई देते हों, वही ब्राह्मण है।[5] इस विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि सद्गुण ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्त कराने वाले हैं, जाति और कुल नहीं।[6] क्षत्रिय (राजा) के स्वच्छन्द हो जाने पर क्या करना उचित है? इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा है कि उस समय ब्राह्मण अपने तप से, ब्रह्मचर्य से, शस्त्र से, बल से, निष्कपट व्यवहार से अथवा भेदनीति से, जिस प्रकार भी सम्भव हो उसी तरह क्षत्रिय को दबाने का प्रयत्न करे।[7] युधिष्ठिर ने एक और प्रश्न किया था कि यदि

---

१. तं प्रजासु विकर्माणं राग-द्वेषवशानुगम्।
मंत्रपूतैः कुशैर्जघ्नुः ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ९४

२. ब्राह्मणानुपमा दृष्टिः क्षात्रमप्रतिमं बलम्।
तौ यदा चरतः सार्धं तदा लोकः प्रसीदति॥ वनपर्व अ० २७ श्लोक १६

३. द्विजस्य क्षत्रबन्धोर्वा वश्येयं पृथिवी भवेत्। शा० प० अ० ७२ श्लोक ९

४. पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्।
आनन्तर्यात् तथा क्षत्रं पृथिवी कुरुते पतिम्।
एष ते प्रथमः कल्प आपद्यन्यो भवेत् ततः॥ शा० प० अ० श्लोक १२

५. सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ वनपर्व अ० १८० श्लोक २१

६. साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप। वनपर्व १८१ श्लोक ४३

७. तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च।
अमायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत्॥ शा० प० अ० ७८ श्लोक २०

डाकुओं का दल उत्तरोत्तर बढ़ रहा हो, समाज में वर्णसंकरता फैल रही हो और राज्य-व्यवस्था के लिए कोई उपाय न दिखाई देता हो, उस अवस्था में यदि कोई बलवान् ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र, धर्म की रक्षा के निमित्त दण्ड धारण करके लुटेरों के हाथ से प्रजा को बचा ले, तो वह राजशासन कार्य कर सकता है या नहीं?[1] इसके उत्तर में भीष्म कहते हैं कि जो सदा सत्पुरुषों की रक्षा करे तथा दुष्टों को दण्ड देकर दुष्कर्म से रोके उसको ही राजा बनाना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा प्रजा सुरक्षित होती है।[2]

इस प्रकार भारतीय राज्यदर्शन में जनता को क्रान्ति का अधिकार भी दिया गया है और अन्य वर्णों को योग्य होने पर राजा बनने का अधिकार भी। वास्तव में राजशक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए भारतीय विद्वानों ने ब्रह्मशक्ति पर भरोसा किया था। जब तक ब्राह्मणों में आध्यात्मिक शक्ति रही, तब तक राजा को स्वच्छन्द बनने का अवसर न मिल सका, परन्तु ब्राह्मणों के ह्रास के कारण राजा निडर और स्वच्छन्द हो गया। इस कार्य में एक और महत्वपूर्ण कारण का सहयोग भी था। राजा के हाथ में मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार आ जाने से, पदलोलुप मंत्री राजा की अनधिकृत चेष्टाओं को रोकने के अपने कर्त्तव्य से च्युत हो गये, और पद के लालच में राजा की हाँ में हाँ मिलाने लगे। इससे राजा को स्वच्छन्द बनने का पूरा अवसर मिल गया। इस प्रकार राजतंत्र की स्थापना भारतीय जनता की स्वीकृति से नहीं हुई, अपितु पतन और चरित्रहीनता के कारण हुई।

(२) महाभारत के आधार पर राज्य की उत्पत्ति

महाभारत में राज्य की उत्पत्ति के विषय में दो विभिन्न स्थानों पर विचार प्रकट किये गये हैं। डा० श्यामलाल पाण्डेय ने उनका विशद विवेचन किया है।[3] परन्तु हमारे विचार से वे उनके भाव को स्पष्ट नहीं कर पाये। इसलिए हम इस विषय

---

१. अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसंकरे।
सम्प्रमूढेषु वर्णेषु यद्यन्योऽभिभवेद् बली॥
ब्राह्मणो वा यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद् दण्डं धर्मेण धारयन्॥
कार्यं कुर्यान्न वा कुर्यात् संवार्यो वा भवेन्न वा।
तस्माच्छस्त्रं ग्रहीतव्यमन्यत्र क्षत्रबन्धुतः॥ शा० प० अ० ७८ श्लोक ३५–३७

२. नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम्। शा० प० अ० ७८ श्लोक ४४

३. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत भीष्म का राजधर्म। प्रथम अध्याय, पृष्ठ ३–१९

का विवेचन करना उचित समझते हैं, क्योंकि हमारे विचार से महाभारत के उन दोनों उल्लेखों का तात्पर्य भिन्न-भिन्न नहीं है, और उनसे स्पष्ट है कि राज्य की स्थापना सर्वप्रथम जनतंत्र के रूप में हुई थी।

शान्तिपर्व अध्याय ५९ में भीष्म ने इस विषय का आरम्भ इन शब्दों से किया है—तुम सावधान हो जाओ, इस बात को पूर्ण रूप से सुनो कि सत्ययुग में सर्वप्रथम राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई?[1] अतः राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कथन, भीष्म के मतानुसार, ठीक मानना चाहिए। संक्षेप में, भीष्म ने इस प्रकार समझाया है कि सत्ययुग में न राजा था न राज्य, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला, समस्त प्रजा धर्म के अनुसार चलती थी और उसी से परस्पर रक्षा कर लेती थी।[2] इस प्रकार धर्म से परस्पर एक दूसरे का पोषण करते हुए, उन लोगों में मोह व्याप्त हो गया।[3] मोह के कारण उनका धर्म नष्ट होने लगा।[4] धर्म नष्ट होने से उनमें लोभ आ गया।[5] लोभ के कारण वे अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा करने लगे। इस प्रकार उनमें काम उत्पन्न हुआ।[6] काम के कारण राग उत्पन्न हुआ, जिससे कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान जाता रहा।[7] इस प्रकार वेद और धर्म का नाश हो जाने पर देवगण भयभीत हो गये और ब्रह्मा के पास गये।[8] ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना पर निग्रह-अनुग्रह से पूर्ण

---

१. नियतस्त्वं नृप व्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत्॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १३

२. न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १४

३. पाल्यमानास्तथाऽन्योऽन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत्॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १५

४. ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १६

५. नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १७

६. अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १८

७. तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नामाभिसंस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १९

८. नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्राह्माणं शरणं ययुः॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक २२

दण्डनीति का निर्माण किया।[1] मनुष्यों के ह्रास और उनकी अल्पायु को जानकर लोगों के अनुरोध से महर्षियों ने इसको और भी संक्षेप में कर दिया।[2] इसके उपरान्त देवगण प्रजापति विष्णु के पास गये और प्रार्थना की कि मनुष्यों में जो सर्वश्रेष्ठ हो, उसको आप बतायें।[3] तब भगवान् विष्णु ने विचार कर रजोगुण से रहित एक तेजस्वी मानस-पुत्र रचा।[4] उस रजोगुण-रहित पुरुष ने पृथिवी का स्वामी बनने की अनिच्छा प्रकट की क्योंकि उसकी बुद्धि संन्यास की ओर प्रवृत्त थी।[5] उसका पुत्र कीर्तिमान् हुआ, वह भी मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके पुत्र का नाम कर्दम था, उसने भी महान् तप किया था।[6] कर्दम का अनंग हुआ, वह भी बड़ा नीतिमान् था।[7] अनंग का पुत्र वेन था।[8] यह वेन प्रजा में अधर्म बुद्धि रखता था और राग-द्वेष में फंसा रहता था इसलिए ऋषियों ने उसको कुशाओं से मार डाला। तब महर्षियों ने वेन के मृत शरीर की दाहिनी भुजा का मन्थन करके पृथु को उत्पन्न किया।[9] उसने कवच पहन रखा था, वह खड्ग बाँधे हुए था, धनुषबाण लिये था। वह वेद-वेदांग में भी

१. दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननु चरिष्यति॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ७७
२. एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ८६
३. अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ८७
४. ततः संचिन्त्य भगवान्देवो नारायणः प्रभुः।
तेजसा वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम्॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ८८
५. विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणता तस्य पाण्डव॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ८९
६. कीर्तिमांस्तस्य पुत्रोऽभूत्सोऽपि पंचातिगोऽभवत्।
कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत्तपः॥ शा० प० आ० ५९ श्लोक ९०
७. अनंगपुत्रोऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै।
प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशोऽभवत्॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ९२
८. .... वेनमजीजनत्। शा० प० अ० ५९ श्लोक ९३
९. तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम्।
मंत्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ९४
भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ९८

[illegible] था तथा उसको दण्डनीति भी भली प्रकार ज्ञात थी।[1] आवश्यक शपथ दिलाने के बाद पृथु का राज्याभिषेक विष्णु, देवताओं के सहित इन्द्र, ऋषि तथा प्रजापालक ब्राह्मणों ने किया।[2] उसने सारी प्रजा का रंजन किया था इसलिए उसको राजा कहा गया।[3] ब्राह्मणों को क्षति से बचाने के कारण वह क्षत्रिय कहा जाने लगा।[4]

उपर्युक्त कथन पर विचार करने से पहले हमको दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—(१) प्राचीन भारतीय साहित्य में बहुत कुछ बातें परोक्ष रूप में कही गयी हैं। जिस प्रकार बच्चों को सरलता के लिए नाना प्रकार के उदाहरण और कथाएं कहकर समझाया जाता है, उसी प्रकार यथार्थ भाव को समझाने के लिए बहुत सी कथाएं परोक्षरूप में कही गयी हैं।[5] (२) ब्राह्मण शब्द का तात्पर्य ब्राह्मण जाति में उत्पन्न व्यक्तियों से नहीं है। जिसमें सत्य, दान, क्षमा, सुशीलता, क्रूरता का अभाव, तपस्या और दया—ये सद्‌गुण दिखाई दें, वही ब्राह्मण कहा गया है।[6] यदि शूद्र में ये लक्षण दिखाई दें तो वह शूद्र नहीं माना जायेगा और यदि ब्राह्मण में ये लक्षण दिखाई न दें तो वह ब्राह्मण नहीं माना जाता।[7] अब हम भीष्म के उपर्युक्त कथन का विवेचन करते हैं।

सत्ययुग में राज्य न था, परन्तु धर्म था, सामाजिक विधियों को ही धर्म कहा गया है। जिन विधियों के आधार पर समाज की स्थापना की गयी थी, वे विधियाँ धर्म कही गयी हैं।[8] इससे स्पष्ट है कि सत्ययुग की जिस अवस्था की ओर भीष्म का संकेत

---

१. कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः।
वेदवेदांगविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः॥
तं दण्डनीतिः सकलाश्रिता राजन्नरोत्तमम्॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १००

२. स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह।
ऋषिभिश्च प्रजापालयै ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ११६

३. रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक १२५

४. ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते। शा० प० अ० ५९ श्लोक १२६

५. परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा॥ भागवत ११–३–४४

६. सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥ वनपर्व अ० १८० श्लोक.....

७. शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥ वनपर्व अ० १८० श्लोक २५

८. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः। शा० प० अ० १०९ श्लोक ११

है, उसमें समाज संगठित हो चुका था और मानवधर्म सम्बन्धी कुछ विधियाँ बन चुकी थीं। मनुष्य पारिवारिक अवस्था में रहने लगा था। पारिवारिक अवस्था में रहने के कारण, मनुष्य के हृदय में अपने-पराये का भेद उत्पन्न हो गया, क्योंकि परिवार के साथ ममत्व का भाव स्वाभाविक है । इस प्रकार मानवहृदय में मोह उत्पन्न हो जाने के कारण आर्थिक भावना आ गयी। अब वह उपयोगी वस्तुओं का संग्रह करने लगा। इस संग्रह की भावना को ही लोभ कहते हैं। लोभ के कारण वह अप्राप्य वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा करने लगा । इस प्रकार मानवहृदय में काम की उत्पत्ति हुई। इच्छाओं के उत्पन्न होने के कारण मानवहृदय में प्रिय-अप्रिय की भावना उत्पन्न हुई, वह कुछ वस्तुओं में विशेष आसक्ति रखने लगा। आसक्ति की भावना को ही राग कहते हैं। राग की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य अपने कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय प्रिय और अप्रिय के आधार पर करने लगा। जो काम उसको प्रिय लगते थे उन्हीं को वह कर्तव्य मानने लगा। इस प्रकार अब तक जो कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय धर्म के आधार पर होता था, अब वह प्रिय और अप्रिय के आधार पर होने लगा। इसलिए धर्म नष्ट होता प्रतीत होने लगा। इसका फल यह हुआ कि धर्म के द्वारा जो समाज-व्यवस्था स्थापित की गयी थी उसमें अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी । इस दशा में पुनः व्यवस्था स्थापित करने के लिए निग्रह अर्थात् नियंत्रण की आवश्यकता प्रतीत हुई । इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए मनुष्यों के प्रतिनिधि ब्रह्मा जी के पास गये। जो विद्वान् हैं, उत्तम लक्षणों से सम्पन्न हैं तथा सर्वत्र समान दष्टि रखने वाले हैं, ऐसे ब्राह्मणों को ब्रह्मा कहा गया है।[1] अतः जनता की प्रार्थना पर आत्मदर्शी ब्राह्मणों ने निग्रह अनुग्रह से पूर्ण दण्डनीति का निर्माण किया। अब तक धर्म में प्रशासनिक विधियाँ नहीं थीं। परन्तु निग्रह की आवश्यकता पड़ने पर प्रशासनिक विधियों का निर्माण किया गया।

प्रशासनिक विधियों के बनने मात्र से ही उद्दण्ड व्यक्ति नियंत्रित न हो सके, इसलिए एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता प्रतीत हुई जो विधियों का उल्लंघन करनेवाले व्यक्तियों पर दृष्टि रखे और उनको विधि के अनुसार उचित दण्ड देकर नियंत्रण में रख सके। जनता स्वयं ऐसे व्यक्ति का चुनाव कर सकती थी, परन्तु उसने इस कार्य में भी आत्मदर्शी ब्राह्मणों से प्रदर्शन पाना उचित समझा । इसलिए जनता के प्रतिनिधि प्रजापति विष्णु के पास प्रदर्शन पाने के लिए गये। यहाँ पर यह देखना आवश्यक है कि विष्णु किसको कहा गया है। महाभारत शा० पर्व अ० ५९ श्लोक ११६ में कहा गया है कि पृथु का राज्याभिषेक विष्णु, देवताओं, ऋषिमुनियों तथा प्रजापालक ब्राह्मणों

१. विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ शा० प० अ० ७६ श्लोक २

के द्वारा हुआ था।[1] जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पृथु इसी पृथिवी का राजा बनाया गया था। उससे पहले वेन राजा रह चुका था। अतः मानना पड़ता है कि आत्मदर्शी ब्राह्मणों को ही कुछ भेद के साथ देवता, ब्रह्मा, विष्णु आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। अनुशासन पर्व अ० १५१ श्लोक ५, ६ में कहा गया है कि ब्राह्मण लोग समस्त प्राणियों के लिए रमणीय, उत्तम निधि, दृढ़तापूर्वक व्रत का पालन करने वाले, लोकनायक, शास्त्रों का निर्माण करने वाले और परम यशस्वी हैं। सदा तपस्या उनका धन है और वाणी उनका महान् बल है। वे धर्म की उत्पत्ति के कारण, धर्म के ज्ञाता और सूक्ष्मदर्शी हैं।[2] ब्रह्माजी के रूप से प्रजापति सृष्टि करते हैं, परमपुरुष विष्णु के रूप से इसकी रक्षा करते हैं तथा रुद्र स्वरूप से सबका संहार करते हैं। इस प्रकार प्रजापति की ये तीन अवस्थाएँ कहीं गयी हैं।[3] अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वास्तव में प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों की यह शैली है कि वे आत्मदर्शी मनीषियों को देवस्वरूप लिखते हैं।

आत्मदर्शी मनीषियों ने एक रजोगुण से रहित तेजस्वी मानस पुत्र रचा। मानस पुत्र का अर्थ है, मन से उत्पन्न किया हुआ पुत्र। इसलिए यथार्थ भाव यह है कि आत्मदर्शी मनीषियों ने मन में भली प्रकार चिन्तन करके एक तेजस्वी पुरुष को बनाया। मन से उत्पन्न होने के कारण इस पुरुष को अन्यत्र, शा० प० अ० ६७ में मनु कहा गया है, जहां पर उल्लेख है कि ब्रह्मा ने इस पुरुष को प्रस्तुत किया था।[4] अतः भाव दोनों स्थानों पर एक ही है कि आत्मदर्शी ब्राह्मणों ने मन में भली प्रकार चिन्तन करके एक तेजस्वी पुरुष को वांछित पद के लिए निश्चित किया। यद्यपि इस पुरुष ने पद की गुरुता को देखकर उसे ग्रहण करने में अनिच्छा प्रकट की, तथापि जनता के आग्रह पर उसने पद स्वीकार कर लिया। भीष्म के मतानुसार यहीं पर राज्य की उत्पत्ति हुई। स्पष्ट है कि इस प्रकार राज्य के अध्यक्ष पद पर अभिषिक्त प्रथम व्यक्ति जनता के श्रेष्ठ

---

१. स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह।
ऋषिभिश्च प्रजापाल्ये ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः॥ शा० प० अ० ५९ श्लोक ११६
२. रमणीयाश्च भूतानां निधानं च धृतव्रताः।
प्रणेतारश्च लोकानां शास्त्राणां च यशस्विनः॥
तपो येषां धनं नित्यं वाक् चैव विपुलं बलम्।
प्रभवश्चैव धर्माणां धर्मज्ञाः सूक्ष्मदर्शिनः॥ अ० प० अ० १५१ श्लोक ५–६
३. सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः॥ वनपर्व अ० २७२ श्लोक ४७
४. ततो मनुं व्यादिदेश मनुनाभिननन्द ताः॥ शा० प० अ० ६७ श्लोक २१

प्रतिनिधियों द्वारा चुना गया था। परन्तु इस पद पर आरूढ़ व्यक्ति को अभी राजा नाम नहीं दिया गया था, उसको पृथिवी का प्रभु कहा गया है।

तत्पश्चात् कीर्तिमान्, कर्दम, अनंग और वेन इस पद पर आरूढ हुए। यहां पर यह देखना उचित है कि ये व्यक्ति पैतृक आधार पर पदारूढ हुए या निर्वाचन द्वारा। महाभारत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परन्तु भागवत पुराण में यह कथा कुछ विस्तार से दी गयी है। अनंग की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र वेन को अयोग्य होने की शंका से इस पद पर आरूढ नहीं किया गया, परन्तु पद को रिक्त रखने पर जनता में पुनः पशुवृत्ति दिखाई देने लगी।[1] तब भृगु आदि मुनियों ने जनकल्याण की भावना से, मंत्रियों के सहमत न होने पर भी, वेन को इस पद पर अभिषिक्त कर दिया।[2] परन्तु वेन ने पद पाकर दुष्टता आरम्भ कर दी। यह देखकर सारे ऋषि-मुनि एकत्र हुए और प्रजा पर संकट आया समझकर कहने लगे कि हमने अराजकता के भय से ही अयोग्य होने पर भी वेन को राजा बनाया था, किन्तु अब उससे भी प्रजा को भय हो गया है।[3] इसलिए ऋषियों ने उसका वध कर दिया। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राज्य के अध्यक्ष पद पर अभिषिक्त करने से पहले ऋषि-मुनि अथवा जनता के प्रतिनिधि व्यक्ति के गुणावगुणों का पूर्णतः अवलोकन करके ही उसको इस योग्य घोषित करते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस कार्य में मंत्रियों की सहमति भी ली जाती थी, परन्तु मंत्रियों का मत अकाट्य नहीं था। ऋषियों ने वेन को मंत्रियों के असहमत होने पर भी अभिषिक्त कर दिया था। परन्तु ऋषि-मुनि अपने उत्तरदायित्व से उदासीन नहीं थे। वेन के अयोग्य सिद्ध होने पर उन्होंने उसका वध कर दिया। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि मनु के बाद कीर्तिमान्, कर्दम और अनंग को भी ऋषि-मुनियों ने योग्य घोषित करके ही पदारूढ किया था। ऋषि-मुनि जनता के विश्वासप्राप्त प्रतिनिधि तथा नेता थे और उनमें स्वयं कोई पदलोलुपता नहीं थी। अतः ऐसे प्रतिनिधियों के निर्वाचन को जनता का निर्वाचन समझना भूल न होगी।

---

१. भृग्वादयस्ते मुनयो लोकानां क्षेमदर्शिनः।
गोप्तर्यसति वै नृणां पश्यन्तः पशुसाम्यताम्॥ भागवत ४–१४–१

२. वीरमातरमाहूय मुनीथां ब्रह्मवादिनः।
प्रकृत्यसम्मतं वेनमभ्यषिञ्चन् पतिं भुवः॥ उपर्युक्त, श्लोक २

३. वेनस्यावेक्ष्य मुनयो दुर्वृत्तस्य विचेष्टितम्।
विमृश्य लोकव्यसनं कृपयोचुः स्म सत्रिणः॥ उपर्युक्त, श्लोक ७
अराजकभयादेष कृतो राजातदर्हणः।
ततोऽप्यासीद् भयं त्वद्य कथं स्यात् स्वस्ति देहिनाम्॥ उपर्युक्त, श्लोक ९

वेन के वध के बाद राज्य पुनः बिना राजा का हो गया और पुनः राज्यपद पर योग्य व्यक्ति को पदारूढ करने की आवश्यकता पड़ी। इसलिए ऋषियों ने वेन के मृत शरीर का मन्थन किया। भारतीय राज्यदर्शन में राज्य को एक शरीर कहा गया है जिसमें आत्मा, अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर—ये सात अंग बताये गये हैं।[1] आत्मा के निकल जाने पर शरीर मृत हो जाता है। अतः वेन का मृत शरीर बिना राजा का राज्य ही था। उस राज्य का मंथन करके अर्थात् जनता को भली भांति छाँटकर, जनता में से ही एक योग्य व्यक्ति को राजा बनाने के लिए निकाला गया। तभी तो कहा गया है कि वह खड्ग बाँधे हुए था, धनुषबाण लिये हुए था, कवच पहने हुए था, वह वेद वेदांग और धनुर्वेद में भी पारंगत था तथा दण्डनीति का भी ज्ञाता था। आवश्यक शपथ दिलाने के बाद ही उसका राज्याभिषेक कर दिया गया। उसने सारी प्रजा का रंजन किया, इसलिए वह राजा कहलाया। ब्राह्मणों को क्षति से बचाने के कारण वह क्षत्रिय कहा जाने लगा। इस कथन से स्पष्ट है कि वह पहले न तो राजा था और न क्षत्रिय ही। यहां पर एक विशेष बात यह है कि राज्य की उत्पत्ति तो मनु के भूपति बनने से हो गयी थी परन्तु राजा शब्द की उत्पत्ति पृथु के राजा बनने से आरम्भ हुई।

इस प्रकार भीष्म ने राजा की उत्पत्ति के विषय में जो प्राचीन कथा का उल्लेख किया है, उसके अनुसार राज्य और राजा की उत्पत्ति सर्वथा जनतंत्रीय प्रणाली पर हुई। राज्य की उत्पत्ति का कारण शान्तिपर्व में संक्षेप में इस प्रकार दिया है—कुछ लोग यमदण्ड के भय से और कुछ परलोक के भय से पाप नहीं करते हैं। कितने ही पापी आपस में एक दूसरे के भय से पाप नहीं करते। परन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो उपर्युक्त किसी भय को नहीं मानते। ऐसे व्यक्ति राजदण्ड के भय से पाप नहीं करते। जगत् की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, इसलिए सब कुछ दण्ड में ही प्रतिष्ठित है।[2]

डा० श्यामलाल पाण्डेय ने राज्य की उत्पत्ति के विषय में महाभारत की जो दूसरी कथा उल्लिखित की है,[3] वह उपर्युक्त कथा का ही संक्षिप्त विवरण है, कोई भिन्न कथा नहीं है। इस विवरण के अनुसार—जैसे जल में बलवान् मत्स्य दुर्बल मत्स्यों को अपना आहार बना लेते हैं, उसी प्रकार पूर्व काल में राजा के न रहने पर प्रजा परस्पर

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ

२. राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥ शा० प० अ० १५ श्लोक ५, ६

३. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत भीष्म का राजधर्म, पृष्ठ ४ से ९ तक

एक-दूसरे को लूटते हुए नष्ट होने लगी। तब उन सब ने मिलकर आपस में नियम बनाया कि हम लोगों में जो भी निष्ठुर बोलने वाला, भयानक दण्ड देनेवाला, परस्त्रीगामी तथा पराये धन का अपहरण करनेवाला होगा उसको हम समाज से बहिष्कृत कर देंगे। सभी वर्णों के लोगों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए सामान्यतः ऐसा नियम बनाकर, उसका पालन करते हुए, वे सब लोग रहने लगे। कुछ समय तक इस प्रकार काम चलता रहा, किन्तु आगे चलकर पुनः दुर्व्यवस्था फैल गयी। तब दुःख से पीड़ित हुई सब प्रजा ब्रह्मा के पास गयी। तब ब्रह्मा ने मनु को राजा होने की आज्ञा दी और मनु ने राजपद को स्वीकार करने में आपत्ति की।[1]

अब इस वर्णन को पहली कथा से मिलाना उचित है। पहली कथा में मानव-हृदय में मोह, लोभ, काम और आसक्ति बढ़ने पर धर्म नष्ट होकर जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, वही अव्यवस्था यहां अराजकता की अवस्था कही गयी है। पहली कथा के अनुसार इस अवस्था को सुधारने के लिए ब्राह्मणों ने दण्ड-नीति का निर्माण किया था, उन्हीं प्रशासनिक विधियों के निर्माण का संकेत यहां पर समाज द्वारा दण्ड के कतिपय नियमों के निर्माण से किया गया है। परन्तु इतने से भी काम न चला, तब पहली कथा के अनुसार विष्णु ने मानसपुत्र की उत्पत्ति की और दूसरी कथा के अनुसार ब्रह्मा ने मनु को आदेश किया। दोनों बातों का एक ही भाव है, यह हम पहले लिख चुके हैं। मानसपुत्र होने से वह मनु कहा गया है। दोनों ही कथाओं में मनु ने राजपद ग्रहण करने में अनिच्छा प्रकट की है, परन्तु जनता के आग्रह पर पद ग्रहण करना स्वीकार किया है।

इन कथाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य की उत्पत्ति जनतंत्रीय शासन के रूप में हुई थी।

---

१. अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः॥
यः परस्वं यथादद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थं तु सर्वेषां वर्णानामविशेषतः।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे॥
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम्।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश॥
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्।
ततो मनुं व्यादिदेश मनुनाभिनन्द ताः॥ शा० प०, ६७। १७-२१

उपर्युक्त कथाओं में मनुष्य के प्राकृत जीवन के युग का कोई उल्लेख नहीं है। इनका वर्णन सर्वप्रथम सत्ययुग से आरम्भ होता है जो कि सामाजिक जीवन का युग कहा जा सकता है। इस युग में विधियाँ बन चुकी थीं और जनता उन विधियों पर चलकर सुखमय जीवन व्यतीत कर रही थी। तत्पश्चात् मानव-हृदय में मोह, लोभ, काम और आसक्ति की वृद्धि होने से अराजकता की अवस्था आ जाती है जिसका मूल कारण आर्थिक प्रवृत्ति है। इस अराजकता की अवस्था को दूर करने के लिए राज्य की उत्पत्ति होती है जिसका मूल उद्देश्य राजदण्ड के भय से उद्दण्ड व्यक्तियों पर नियंत्रण रखना है। इस प्रकार सामाजिक जीवन के युग का परिवर्तन राजनीतिक जीवन के युग में हो जाता है। सामाजिक जीवन के युग से पहले की अवस्था का विवेचन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं।

डा० श्यामलाल पाण्डेय ने पाश्चात्य राजनीति में उल्लिखित राजा की दैवी उत्पत्ति और समाज अनुबन्धवाद की पुष्टि महाभारत के आधार पर करने की चेष्टा की है। अतः इस ओर भी आलोचनात्मक दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

डा० श्यामलाल पाण्डेय ने राजा के दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की सृष्टि के हेतु रामायण, महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों से वे उद्धरण दिये हैं जिनमें राजा को अनेक देवताओं के समान कहा गया है।[1] परन्तु हम यह भी सिद्ध कर चुके हैं कि ब्राह्मणों को भी अनेक स्थलों पर देवता तथा उनसे भी बड़ा माना गया है। अनुशासन पर्व अध्याय १५३ से १५७ तक ब्राह्मणों की शक्ति का विस्तृत वर्णन है, जिसमें उनको देवताओं से भी बढ़कर कहा गया है। यह तो भारतीय प्राचीन ग्रन्थकारों की शैली है कि वे आदर्श मनुष्य को देवस्वरूप में देखते हैं। मनुस्मृति अ० ७ श्लोक ४ में कहा गया है कि इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठ देवताओं के अंश से राजा होते हैं। इसका सही तात्पर्य मनुस्मृति में निम्न प्रकार समझाया गया है—

इन्द्र की तरह राजा को अपने राष्ट्र की कामनाओं को पूरा करना चाहिए। सूर्य के समान राजा अपनी प्रजा से कर ग्रहण करे। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य छोटे बड़े सब जलाशयों से उनके अनुपात से ही वाष्प बनाकर उनका जल इस तरह ग्रहण करता है कि जलाशय में अशान्त लहरें इस अपहरण के कारण उठ नहीं पातीं, उसी प्रकार राजा को समस्त जनता से उसकी स्थिति के अनुसार छोटे बड़े के उचित अनुपात से उसको अशान्त किये बिना, कर लेना चाहिए।

वायु की तरह राजा अपनी प्रजा के प्रत्येक प्राणी को जीवित रखने में सहायक हो। यमराज की तरह शत्रु-मित्र भाव त्यागकर राजा अपराधियों को दण्ड दे।

---

१. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ १ से १४ तक

वरुण की तरह राजा अपनी प्रजा को नियमों पर चलाये। चन्द्रमा की तरह राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न करने वाला हो। अग्नि की तरह राजा पापियों को दण्ड देने में तेजस्वी रहे। पृथिवी की तरह राजा सब प्रकार के प्राणियों को समान रूप से धारण करे। (मनु० ९, ३०५–३११)

अतः राजा में इन देवताओं के अंशों का कथन, राजा के विस्तृत कर्त्तव्यों की स्मृति कराता है। राजा इतने विस्तृत कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए जनता को सुखी बनाता है, इसलिए राजा का सर्वदा सम्मान करना चाहिए। अतः उपरोक्त देवोपम गुण राजा में वर्तमान होने से उसकी उत्पत्ति दैवी सिद्ध नहीं होती। जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, राजा की उत्पत्ति जनता के निर्वाचन द्वारा हुई।

डा० श्यामलाल पाण्डेय ने समाज-अनुबन्धवाद की पुष्टि भी, महाभारत के आधार पर, करने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने उपर्युक्त मनु और पृथु की कथाओं को आधार बनाया है।[1] परन्तु यह सिद्ध किया जा चुका है कि राजा की उत्पत्ति से पहले ही, भारतीय राज्यदर्शन में विधि की उत्पत्ति हो चुकी थी। राजपद का निर्माण तो प्रशासकीय विधियों का पालन करवाने के लिए ही हुआ था। राजा स्वयं उन विधियों से बद्ध था। अतः राजपद पर अभिषेक करने के लिए भावी राजा से कोई अनुबन्ध नहीं किया जाता था, अपितु विधि का सर्वथा पालन करने और करवाने की शपथ दिलायी जाती थी। इस शपथ के शब्द समय समय पर परिवर्तित होते रहे हैं। अतः शपथ को अनुबन्ध नहीं कहा जा सकता। मनु के राजपद ग्रहण करने की अनिच्छा प्रकट करने पर, उसको प्रशासकीय विधियों (दण्डनीति) की व्याख्या करके समझाया गया था, उससे कोई अनुबन्ध नहीं किया गया था।

अतः महाभारत काल में जनतंत्रवाद की भावना सर्वत्र मिलती है—जनतंत्र राज्यों में भी और राजतंत्र राज्यों में भी।

---

१. डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ १७ से ३२ तक

अध्याय ७

पाणिनिकालीन जनतंत्र

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवस्था का उल्लेख किया है। परन्तु पाणिनि के ग्रन्थ का विषय व्याकरण था, इसलिए ये उल्लेख सांकेतिक भाषा में ही व्यक्त हुए हैं। इसी कारण उनकी व्याख्या और विस्तार करने में विभिन्न विद्वानों का मतभेद हो जाता है। यद्यपि कात्यायन, पतंजलि आदि विद्वानों ने पहले भी पाणिनि के सूत्रों का पर्याप्त विवेचन किया है, परन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से नहीं। अतः हमारा उद्देश्य यहाँ पर पाणिनिकालीन राजनीतिक अवस्था, विशेषतः जनतंत्र से सम्बन्धित अवस्था को स्पष्ट करना है। आधुनिक काल के कुछ विद्वानों ने भी इस ओर प्रयत्न किया है, परन्तु हमारे विचार अधिकांशतः उनसे भिन्न हैं।

यहां प्रथम प्रकरण में हमने उन कारणों की विवेचना की है, जिनके आधार पर आधुनिक विद्वानों ने संघ और गण को पर्याय माना है। हमारे मत में ये दोनों शब्द भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं।

महत्व की दृष्टि से दूसरा प्रकरण, इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या और गण तथा संघ के संगठन का होना चाहिए। परन्तु अपनी आवश्यकता के अनुसार ये प्रकरण चतुर्थ तथा पंचम स्थानों पर रखे गये हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि पाणिनि कथित राजनीतिक संघ अथवा गण राज्यों में केवल क्षत्रिय वर्ण के लोगों को ही शासनाधिकार प्राप्त था। हमने दूसरे प्रकरण में उक्त मत के सम्भावित कारणों पर विचार करते हुए संघ अथवा गण राज्यों में सभी वर्णों के व्यक्तियों को शासनाधिकार-प्राप्त सिद्ध करने का प्रयास किया है।

आयुधजीवी संघ को हम आर्थिक संघ ही मानते हैं। हमारे विचार में पाणिनि ने इन आर्थिक संघों के संगठन और स्थान के बारे में उल्लेख किया है। इसका विवेचन हमने तृतीय प्रकरण में किया है।

चतुर्थ प्रकरण में गण और संघ शब्दों के विभिन्न अर्थों में प्रयोग का विचार

किया गया है। इन दोनों शब्दों के सामान्य, विशेष और पारिभाषिक, तीन तीन प्रयोग विदित होते हैं।

पंचम प्रकरण में राजनीतिक दृष्टि से गण और संघ राज्यों पर विचार किया गया है। भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से इन राज्यों का वर्णन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पर्याप्त रूप से किया है और हमारा उनसे इन दृष्टि में कोई मतभेद नहीं। परन्तु उनके संगठन और नामांकन में हम उनसे सहमत नहीं। छठे प्रकरण में हमने राजन्य और राजानः शब्दों पर विचार किया है और इनके विभिन्न कालों में विभिन्न अर्थों के प्रयोग पर दृष्टिपात किया है।

संघों के अंक और लक्षण पर सातवें प्रकरण में विचार करते हुए, हमने आठवें प्रकरण में उन उल्लेखों पर विचार किया है जिनके आधार पर डा० के० पी० जायसवाल ने कुछ प्राचीन जनतंत्रीय राज्यों में द्विसदनीय शासनविधान की कल्पना की है।

(अ) क्या संघ और गण शब्द पर्यायवाची हैं ?

डा० के० पी० जायसवाल के अनुसार पाणिनि ने गण और संघ का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।[1] यही मत डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का है।[2] डा० डी० आर० भण्डारकर के अनुसार गण और संघ शब्द का अर्थ किसी निश्चित उद्देश्य से संगठित व्यक्तियों का समूह अथवा संस्था है।[3] डा० आर० सी० मजूमदार ने भी संघ और गण को एक ही मानते हुए इनका अर्थ ऐसी संस्था किया है जिसका कार्य नियम और विधियों से होता है।[4] अतः गण और संघ को एक ही मानने के सम्भावित कारणों पर विचार करना आवश्यक है।

(१) गण और संघ को पर्यायवाची शब्द मानने का मुख्य कारण पाणिनिसूत्र ३–३–८६ 'संघोद्घौ गणप्रशंसयोः' है। इस सूत्र का भाव यह है कि संघ शब्द का गण के अर्थ में प्रयोग हो और उद्घ शब्द का प्रशंसा के अर्थ में प्रयोग हो तब अप् प्रत्यय लगता है। इससे इतना स्पष्ट होता है कि संघ शब्द का प्रयोग गण के अर्थ में भी किया जाता है, परन्तु साथ ही इस बात का भी संकेत इससे मिलता है कि संघ और गण का भिन्न-भिन्न अर्थों में भी प्रयोग होता है। अतः इस सूत्र के आधार पर

---

१. डा० जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृष्ठ २८
२. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४३४
३. ए० एच० आई०, पृष्ठ १४२, १४६
४. कार्पोरेट लाइफ इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २२१

राजनीतिक अर्थ में गण और संघ को पर्यायवाची मानना उचित नहीं, विशेषतः जब कि अन्य प्रमाणों से इनका भिन्न अर्थ सिद्ध होता है।

(२) मज्झिम निकाय १–४–५–३५ में लिखा है कि 'इमे सम पि हि भो गोतम संघानम् गणानम् सेयथिदम् वज्जिनम् मल्लानम्।' इसका अर्थ डा० के० पी० जायसवाल ने यह किया है कि हे गौतम, यह बात संघों और गणों के सम्बन्ध में है, जैसे वज्जि और मल्ल।[1] परन्तु यहाँ पर वज्जि-संघराज्य तथा मल्ल-गणराज्य की ओर इंगित होता है। यदि वज्जि और मल्ल दोनों को गणराज्य मान लिया जाय तो संघ शब्द निरर्थक हो जाता है, और यदि दोनों को संघराज्य मान लिया जाय तो गण शब्द निरर्थक हो जाता है। इसलिए डा० जायसवाल ने इस वाक्य से संघ और गण को पर्याय सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। इसके विपरीत इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि संघ और गण भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं; वज्जियों का राज्य संघराज्य था और मल्लों का राज्य गणराज्य था।

(३) डा० जायसवाल ने सामन्नफल सुत्त २–७ के वाक्यांश 'संघी चेव गणी च' से भी संघ और गण को समान अर्थवाले सिद्ध करने का प्रयास किया है।[2] उनके मतानुसार इस वाक्य में नयी शाखाओं के आचार्य संघ के संस्थापक और गण के संस्थापक कहे गये हैं। यहाँ पर च शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है—संघ के बाद भी और गण के बाद भी। इससे स्पष्ट है कि संघी ही गणी नहीं थे, अपितु संघी और गणी भिन्न-भिन्न थे।

अतः हमारे विचार में उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता कि गण-राज्य और संघराज्य एक ही थे। इन शब्दों के भिन्न भिन्न पारिभाषिक अर्थ मानने में कई प्रमाण मिलते हैं, जिनको निम्नांकित रूप में श्रृंखलाबद्ध किया जाता है।

(१) डा० जायसवाल ने स्वयं माना है कि गण शब्द से शासनप्रणाली का बोध होता था, परन्तु संघ शब्द से स्वयं राज्य का अर्थ लिया जाता है।[3] यद्यपि हम इन दोनों शब्दों के उपर्युक्त अर्थ से सहमत नहीं हैं, तथापि इस कथन से इतना सिद्ध हो जाता है कि स्वयं डा० जायसवाल भी इन शब्दों के अर्थों में भिन्नता मानते हैं।

(२) पाणिनिसूत्र ५–२–५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से पूग, गण और संघ नामक विभिन्न संस्थाओं का अस्तित्व सिद्ध होता है। इन तीनों संस्थाओं के कार्य बहुमत अथवा एक निश्चित संख्या के मत से होते थे। इसलिए काशिका ५–२–४८ में उक्त सूत्र की व्याख्या में कहा गया है कि 'पूगस्य पूरणः पूगतिथः, गणस्य पूरणः गणतिथः,

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ २३
२. उपर्युक्त, पृष्ठ २४ का नोट १४
३. उपर्युक्त, पृष्ठ २४

संघस्य पूरणः संघतिथः।' इससे स्पष्ट है कि पूग, गण और संघ भिन्न-भिन्न संस्थाएं थीं। यदि गण और संघ को एक ही संस्था मान लिया जाय तो पूग को भी इनका पर्याय मानना पड़ेगा। परन्तु काशिका में कहा गया है कि विभिन्न जातियों के अर्थ-काम-प्रधान संघ, जिनके जीविका-निर्वाह के साधन विभिन्न प्रकार के होते थे, पूग कहलाते थे।[1] इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूग आर्थिक संस्थाएं थीं। अतः पाणिनिसूत्र ५-२-५२ से गण और संघ का दो विभिन्न संस्थाओं के रूप में अस्तित्व प्रकट होता है।

(३) संघ और गण के वास्तविक सम्बन्ध को समझने के लिए हमको महावग्ग ९-४-१, चाम्पेय स्कन्धक के उल्लेख पर विचार करना उचित है, जिसमें विभिन्न प्रकार के भिक्षुसंघों का वर्णन है, यथा 'चतुर्वर्ग भिक्षुसंघ, पंचवर्ग भिक्षुसंघ, दशवर्ग भिक्षुसंघ, विंशतिवर्ग भिक्षुसंघ।' अब हमको पहले वर्ग शब्द का भाव समझना आवश्यक है।

लिंगियों, श्रेणी, पूग तथा अन्य व्यापारिक समूहों को भृगु ने वर्ग कहा है।[2] नीलकंठ ने मयूख १ में वर्ग को एक संस्था कहा है, गौतमधर्मसूत्र में कहा गया है कि कृषकों, व्यापारियों, पशुपालकों और महाजनों में अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधियों द्वारा न्याय किया जाना चाहिए।[3] उपर्युक्त कथनों से सिद्ध होता है कि वर्ग अराजनीतिक संस्था को कहते थे और इस प्रकार की संस्थाएं व्यावसायिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में होती थीं।

अब हम पाणिनि-सूत्र ५-१-६० 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' (पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गः, पञ्चको वर्गः, दशद्वर्गः, दशको वर्गः) का अर्थ भली प्रकार समझ सकते हैं कि पंचकवर्ग वह वर्ग था जिसमें पाँच आर्थिक समूह सम्मिलित थे, दशकवर्ग में इस प्रकार के दस समूह थे।

महावग्ग ९-४-१ के अनुसार बौद्ध धार्मिक संघ में चतुर्वर्ग भिक्षुसंघ, पन्चवर्ग भिक्षुसंघ, दशवर्ग भिक्षुसंघ, विंशतिवर्ग भिक्षुसंघ थे। इससे सिद्ध होता है कि चार, पाँच, दस अथवा बीस वर्ग मिलकर संघ बनाते थे। जिस संघ में वर्गों की जितनी संख्या होती थी, उसी के अनुसार उसका नाम—पंचवर्ग संघ, दशवर्ग संघ—आदि पड़ जाता था। इस प्रकार पाणिनिसूत्र ५-१-५८ 'संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु' (पञ्च

---

१. नानाजातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः। काशिका

२. लिंगिनः श्रेणिपूगाश्च वणिग्जातास्तथा परे।
समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गास्तानब्रवीद् भृगुः॥ नीलकंठ द्वारा उद्धृत कात्यायन

३. कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे प्रमाणम्। गौतमधर्म०-२०-२३

परिमाणमस्य 'पञ्चकः संघः', 'अष्टकः संघः') आदि का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वीरमित्रोदय, पृष्ठ १२ में मित्रमिश्र ने वर्गिन् की व्याख्या करते हुए उसको गण कहा है। इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार एकाधिक वर्ग मिलकर आर्थिक, धार्मिक आदि अराजनीतिक संघ बनाते थे, उसी प्रकार एकाधिक गण मिलकर राजनीतिक संघ बनाते थे। यदि हम गण और संघ को समानार्थी मानते हैं, तो वर्ग और संघ को भी समानार्थी मानना होगा, और तब चतुर्वर्ग संघ, पंचवर्ग संघ आदि शब्दों का कोई अर्थ न निकल सकेगा। अतः राजनीतिक क्षेत्र में गण और संघ पर्यायवाची नहीं हैं, अपितु संघ की इकाई को गण कहते हैं, अर्थात् कई गण मिलकर एक संघ बनाते हैं।

(आ) संघ में जातियाँ

जैसा कि हमने इस अध्याय के प्रकरण (इ) में सिद्ध किया है, पाणिनि के समय में दो प्रकार के संघ अपना अस्तित्व रखते थे—(१) अराजनीतिक संघ और (२) राजनीतिक संघ। अतः हमको इस प्रकरण में दोनों प्रकार के संघों के विषय में पृथक्-पृथक् विचार करना उचित है। पहले हम आर्थिक संघ के विषय में विचार करते हैं जिसको पाणिनि ने आयुधजीवी संघ के नाम से उल्लिखित किया है।

पाणिनिसूत्र ५–३–११४ 'आयुधजीविसंघाञ्ञ्यड् बाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्' की व्याख्या करते हुए काशिका में कहा गया है कि आयुधजीवी संघ के नाम पर उस संघ के मनुष्यों के नाम दो भिन्न-भिन्न रूपों में पड़ते हैं, जैसे मालव से मालवः और मालव्यः। इनमें प्रथम रूप ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों के लिए तथा दूसरा रूप अन्य जातियों के लिए प्रयुक्त होता है।[1] इससे स्पष्ट है कि आयुधजीवी संघों में सभी जातियों के मनुष्य सम्मिलित रहते थे। हम वर्तमान काल में भी आर्थिक संगठनों में सभी जातियों के व्यक्ति पाते हैं। प्राचीन काल में युद्धोपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता बहुत अधिक थी, अतः इन वस्तुओं के निर्माण के उद्योग तत्कालीन प्रसिद्ध उद्योग थे और जनता का एक बड़ा भाग इन उद्योगों में लगा हुआ था।

इसी प्रकार पाणिनिसूत्र ४–१–१६८ 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' से संघराज्य में भी सभी जातियों का सम्मिलित होना विदित होता है। पाणिनि के उक्त सूत्र का भाव यह है कि यदि जनपद का नाम और वहाँ के क्षत्रियों का नाम एक ही हो तो

---

१. बाहीकेषु य आयुधजीविसंघः तद्वाचिनः प्रातिपदिकाद् ब्राह्मणराजन्यवर्जितात् स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो भवति। ब्राह्मणे तद्विशेषग्रहणम्। राजन्ये तु रूपग्रहणमेव। क्षौद्रक्यः क्षौद्रक्यौ क्षुद्रकाः, मालव्यः मालव्यौ मालवाः। —काशिका

उस क्षत्रिय-वाचक शब्द से अपत्य अर्थ में अन् प्रत्यय होता है, जैसे पंचाल जनपद के क्षत्रिय का पुत्र पांचाल कहलायेगा। इस सूत्र पर कात्यायन ने लिखा है कि यह नियम केवल एकराज (राजतंत्र) जनपदों में लागू था, संघों में नहीं।[१] इसका तात्पर्य यह है कि संघों में इसके विपरीत नियम था। इसलिए जहाँ एकराज जनपद में केवल क्षत्रिय लोग ही शासक प्रतीत होते हैं, वहाँ संघराज्य में अन्य वर्णों का शासन में सम्मिलित होना विदित होता है।

डा० के० पी० जायसवाल के मतानुसार भी संघ में सभी जातियाँ और वर्ण सम्मिलित थे।[२] परन्तु डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत यह है कि गणराज्य में शासकवृन्द केवल क्षत्रिय वर्ग के ही होते थे, अन्य जातियों के लोगों को शासन-सत्ता का अधिकार न था।[3] हम यहाँ पर उन कारणों की विवेचना करना उचित समझते हैं, जिनके आधार पर उपर्युक्त मत सम्भावित माना जाता है।

(१) महाभारत शान्तिपर्व में कहा गया है कि गणराज्य में जाति और कुल की दृष्टि से सभी समान होते हैं परन्तु उद्योग, बुद्धि और रूप में सभी एकसमान नहीं हो सकते।[४] यदि इसका तात्पर्य यह लिया जाय कि गणराज्य में केवल एक ही जाति के व्यक्ति होते थे, तो यह भी मानना पड़ेगा कि इस श्लोक के अनुसार उसमें केवल एक ही दल के मनुष्य होते थे। परन्तु जातक ४–१४८ में कहा गया है कि वैसाली नगर में गणराज्य के कुलों का अभिषेक पोक्खरणी के जल से होता था।[५] यहाँ पर कुल शब्द बहुवचन 'कुलानां' में प्रयुक्त हुआ है। साथ ही जातक १४९ के अनुसार लिच्छवि गणराज्य में ७७०७ राजा और इतने ही उपराजा थे।[६] इससे सिद्ध होता है कि लिच्छवि गणराज्य में ७७०७ कुलों को शासन में प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त था। अतः एक गणराज्य में अनेक कुलों का प्रतिनिधित्व सिद्ध होता है। कात्यायन के मतानुसार भी कुलों के समूह को गण कहते हैं।[७]

---

१. क्षत्रियादेकराजात् संघप्रतिषेधार्थम्।
२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ३०
३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४३६
४. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः॥ शा.प.अ. १०७ श्लोक ३०–३१
५. वेसालि नगरे गणराज कुलानां अभिसेक मंगल पोक्खरणी। जातक ४–१४८
६. तत्थ निच्चकालं रज्जम कारेत्व सन्तानं येव राजनाम् सत्तसहस्सानि सत्त च राजानो होंति ततका येव उपराजानो—जातक १४९
७. कुलानां हि समूहस्तु गणः संप्रकीर्तितः। वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२६ पर कात्यायन

यह सिद्ध हो जाने पर कि एक गणराज्य में अनेक कुल होते थे, महाभारत शान्तिपर्व के उपर्युक्त श्लोक १०७–३०, ३१ से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें जातियाँ भी अनेक होती थीं,[1] क्योंकि अब उसका सही भाव स्पष्ट होता है कि गणराज्य में सभी नागरिक जाति और कुल की दृष्टि से समान ही समझे जाते हैं, अर्थात् जातियों और कुलों की विभिन्नता का नागरिक के अधिकारों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, सभी जातियों और सभी कुलों के नागरिक एक समान ही समझे जाते हैं । इसी लिए कहा गया है कि यद्यपि गणराज्य जाति और कुल की अवहेलना करके सबको एक समान अधिकार दे सकता है, तथापि उद्योग, बुद्धि, रूप और सम्पत्ति की असमानता को राज्य नहीं मिटा सकता। अतः इन श्लोकों से सिद्ध होता है कि गणराज्य में सभी जातियों और सभी कुलों को समान अधिकार तथा समान प्रतिनिधित्व प्राप्त होता था।

(इ) आयुधजीवी संघ

पाणिनि ने कुछ संघों को आयुधजीवी कहा है।[2] डा० भण्डारकर ने इनको व्यापारिक कबीले माना है।[3] डा० आर० सी० मजूमदार ने राजनीतिक संघ अथवा जनतंत्रीय संघराज्य माना है।[4] जायसवाल के मतानुसार ये ऐसे जनतंत्रीय राज्य थे जिनकी सारी जनता शस्त्रास्त्रों में कुशल थी और सब लड़ाकू योद्धा थे।[5] डा० यू० एन० घोषाल के मतानुसार आयुधजीवी संघ मनुष्यों की ऐसी व्यवस्थित संस्था थी, जिसकी वृत्ति युद्ध सम्बन्धी व्यवसाय से थी।[6] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि आयुध से जीविका निर्वाह करनेवाला आयुधीय या आयुधिक कहलाता था—'आयुधाच्छ च' ४–४–१४, आयुधेन जीवति सः।[7]

उपर्युक्त मतभेद को स्पष्ट करने का प्रयास प्रायः कौटिल्य द्वारा उल्लिखित दो विभिन्न प्रकार के संघों के आधार पर किया जाता है; वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ और

---

१. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥ शान्तिपर्व, १०७–३०,३१
२. आयुधजीविसंघाञ्ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् । पाणिनि ५–३–११४
३. ए० एच० आई, पृष्ठ १४४
४. कार्पोरेट लाइफ इन इंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २२३
५. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ३०, ३१
६. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर, पृष्ठ ३६३
७. पाणिनिकाली[illegible]रतवर्ष, पृष्ठ ४४८

राजशब्दोपजीवी संघ[1]। डा० जायसवाल ने वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ का अर्थ ऐसा जनतंत्रीय राज्य किया है, जिसकी जनता युद्धकाल में शस्त्र ग्रहण करती थी और शान्तिकाल में व्यवसाय तथा कृषि में लगी रहती थी, तथा राजशब्दोपजीवी संघ वे जनतंत्रीय राज्य थे जिनमें स्थायी वैतनिक सेना रहती थी और जिनके शासक राजा की उपाधि धारण करते थे।[2] परन्तु कौटिल्य के वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ आर्थिक संघ थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र ४–१–२ और ४–१–३ से सिद्ध होता है कि व्यापारिक और औद्योगिक क्षेत्र में लोग श्रेणी बनाकर कार्य करते थे। अर्थशास्त्र अधिकरण ९ अध्याय २ से सिद्ध होता है कि कुछ श्रेणियाँ अपनी निजी सेना रखती थीं। अर्थशास्त्र १–४–१ में वार्ता शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है कि कृषि, पशुपालन और व्यापार वार्ता कहलाते थे। अर्थशास्त्र में विभिन्न स्थानों पर जीवी शब्द का प्रयोग जीविकोपार्जन के अर्थ में ही मिलता है और अर्थशास्त्र ३–१४–२२ से सिद्ध होता है कि आर्थिक क्षेत्र में संघ होते थे। हमने इस कथन पर अध्याय १० में कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही प्रमाण एकत्र करके सिद्ध किया है कि कौटिल्य के वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ आर्थिक संघ थे और सम्भवतः इस प्रकार के संघ राजतंत्रीय राज्यों में पाये जाते थे।

अतः अब स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि के आयुधजीवी संघ भी कौटिल्य के वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों के समान ही आर्थिक संघ थे।

अब हमको इन आर्थिक संघों के संगठन पर विचार करना उचित है। इस सम्बन्ध में मुख्य संगठन व्रात, पूग, श्रेणी और वर्ग नाम के मिलते हैं, अतः इन पर पृथक् पृथक् विचार करना आवश्यक है। पाणिनि ने व्रात नामक संगठन का उल्लेख सूत्र ५–३–११३ 'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' में किया है। महाभाष्य में इस विषय में कहा गया है कि शिकार तथा लूटमार आदि पर निर्वाह करने वाली विभिन्न जातियों के संगठन व्रात कहलाते थे।[3] इससे विदित होता है कि ये संगठन असभ्य जातियों के थे, न इनकी कोई निश्चित जाति थी और न कोई निश्चित वृत्ति। अतः इनका संगठन नियमबद्ध नहीं मालूम होता, क्योंकि श्रेणीकृतः पूगकृतः आदि शब्द जो श्रेणी और पूग का नियमित संगठन दर्शाते हैं, व्रात के सम्बन्ध में नहीं मिलते।

---

१. काम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः। लिच्छविकव्रजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपञ्चालादयो राजशब्दोपजीवितनः। कौटिल्य अर्थशास्त्र ११–१–५, ६

२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ३१, २३

३. नानाजातीया अनियतवृत्तय उत्सेधजीविनः संघा व्राताः। तेषां कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीनः। महाभाष्य ५–२–२१

पूग—पूग का अर्थ काशिका में इस प्रकार मिलता है—नाना जातीया अनियतवृत्तयो अर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः। इससे विदित होता है कि पूग में अनेक जातियाँ सम्मिलित होती थीं और ये संगठन अर्थ-कामप्रधान अर्थात् मुख्यतः आर्थिक होते थे। पाणिनि के 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' २-१-५९ सूत्र से पूगकृत, पूगमित, पूगमत, पूगभूत, पूग युक्त, पूगसमाज्ञात, पूगसमाम्नात, पूगसमाख्यात, पूगसंभावित, पूग-अवधारित, पूगनिराकृत, पूग-अवकल्पित, पूग-उपकृत और पूग-उपाकृत शब्द प्राप्त होते हैं।[1] इनसे विदित होता है कि ये संगठन पूर्ण रूप से नियम-बद्ध होते थे। नये पूग बनाने, दो या अधिक पूगों को एक में मिलाने तथा आपसी सम्बन्धों के इनके निश्चित नियम होते थे। पाणिनिसूत्र ५-२-५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से विदित होता है कि पूग के कार्यों का निश्चय सदस्यों की एक निश्चित संख्या के अनुसार ही होता था। इस प्रकार ये संगठन पूर्ण विकसित प्रतीत होते हैं। परन्तु पारिभाषिक अर्थ में ये संघ नहीं थे। काशिका की उपरोक्त व्याख्या में संघ शब्द सामान्य अर्थ में समूह के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

पाणिनिसूत्र ५-३-११२ 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' से विदित होता है कि पूग के प्रधान को पूग-ग्रामणी कहते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'अंगुत्तर निकाय' के उल्लेख के आधार पर ग्रामणी दो प्रकार के माने हैं—ग्राम-ग्रामणी और पूग-ग्रामणी।[2]

श्रेणी—जैसा कि हम इसी प्रकरण में पहले लिख चुके हैं, श्रेणी भी एक आर्थिक संस्था होती थी।[3] पाणिनि के 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' २-१-५९ सूत्रसे श्रेणीकृत जैसे शब्दों के रूप भी उपर्युक्त पूगकृत के समान पाये जाते हैं, जिससे विदित होता है कि ये संगठन भी पूग के समान ही नियमबद्ध और सुसंगठित थे। श्रेणी का महत्व रामायण और महाभारत काल में भी बहुत था।[4]

वर्ग—वर्ग भी एक महत्वपूर्ण आर्थिक संगठन था। इस विषय में हम इसी अध्याय के प्रकरण (अ) में पर्याप्त लिख चुके हैं, जहाँ पर हमने सिद्ध किया है कि कई वर्ग मिलकर एक आर्थिक संघ बनाते थे। वर्ग के प्रधान को परमवर्ग्य कहते थे।

यद्यपि पाणिनि के सूत्रों द्वारा यह स्पष्ट नहीं होता कि उपर्युक्त आर्थिक संगठनों के एक-दूसरे से क्या सम्बन्ध थे। तथापि पूगकृत, श्रेणीकृत आदि शब्दों

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४४१
२. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृष्ठ ४५१
३. प्रस्तुत ग्रन्थ
४. न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः। बा० रामायण अयोध्या०
डा० श्यामलाल पाण्डेय कृत जनतंत्रवाद, पृष्ठ २१८

ज्ञात होता है कि वे एक-दूसरे से सम्बद्ध थे। उपर्युक्त वर्णन से विदित होता है कि श्रेणी-संगठन की अपेक्षा पूग-संगठन छोटा था। श्रेणी के शब्दार्थ से भी भास होता है कि श्रेणी के अन्तर्गत अन्य छोटे संगठन थे। अतः हमारे विचार से कई पूग मिलकर एक श्रेणी बनाते होंगे और कई श्रेणियाँ मिलकर एक वर्ग बनाती होंगी। वर्गों से मिलकर एक आर्थिक संघ बनता था, यह पहले सिद्ध किया जा चुका है। अतः आर्थिक संघ का रेखा-चित्र इस प्रकार होगा—

आर्थिक संघ
।
वर्ग
।
श्रेणी
।
पूग

यहाँ पर हमको एक और प्रश्न पर विचार कर लेना उचित है कि क्या तत्कालीन आर्थिक संघों के पास अपनी निजी सेना भी होती थी? महाभारत में श्रेणीबल शब्द अनेक स्थानों पर मिलता है।[1] दुर्योधन की ओर से युद्ध करने वालों में अनेक श्रेणियों का उल्लेख है।[2] कौटिलीय अर्थशास्त्र अधिकरण ९ अध्याय २ में श्रेणीबल पर विचार किया गया है। एकदेशीय होने तथा समान स्वार्थ-वश संघर्ष करने के कारण श्रेणीबल को मित्रबल से श्रेष्ठतर कहा गया है।[3] इससे सिद्ध होता है कि कुछ श्रेणियाँ अपनी सैनिक शक्ति रखती थीं, जिनका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर राजा भी किया करता था।

वास्तव में प्राचीन काल में स्थायी सेना राज्य के पास बहुत कम रहती थी। परन्तु संकट-काल आने पर सभी संस्थाओं और सभी जातियों के मनुष्य शस्त्र ग्रहण कर लेते थे। मनुस्मृति के अनुसार धर्म का अवरोध होने पर, विप्लवकाल में, आत्मरक्षा के लिए, स्त्री, विप्र आदि पर आपत्ति आने पर अथवा युद्ध-काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय

---

१. श्रेणीबलः प्रथमः———आश्रमवासिक पर्व ६–७
श्रेणीबलं भृतं चैव तुल्ये एवेति मे मतिः। उपर्युक्त ६–८
२. श्रेणयो बहुसाहस्रा गणाश्च ये। कर्णपर्व ५–४०
३. प्रभूतं मे श्रेणीबलं शक्यं मूले यात्रायां चाधातुमिति।
जानपदमेकार्योपगतं तुल्यसंघर्षामर्षसिद्धिलाभं च श्रेणीबलं मित्रबलाच्छ्रेयः।
अर्थशास्त्र ९–२–१४, ९–२–३८

और वैश्य तीनों वर्णों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिए।[1] अतः हमारा विचार है कि यद्यपि आर्थिक संघों के पास स्थायी सेना नहीं रहती थी, तथापि आवश्यकता पड़ने पर ये संगठन सेना के रूप में परिवर्तित हो जाते थे। इसलिए कौटिल्य का मत है कि संगठित शक्ति होने के कारण संघ को बल से नहीं दबाया जा सकता।[2]

पाणिनिसूत्र ५–३–११७ में आयुधजीवी संघों के अन्तर्गत यौधेयों का नाम उल्लिखित है।[3] परन्तु सूत्र ४–१–१७८ में पुनः यौधेयों का उल्लेख किया गया है।[4] इससे प्रतीत होता है कि एक बार आर्थिक संघ के रूप में उनका उल्लेख है और दूसरी बार गणराज्य के रूप में। इसी प्रकार सूत्र ५–३–११६ में त्रिगर्तषष्ठ का उल्लेख आयुधजीवी संघों के सिलसिले में किया गया है, परन्तु अन्यत्र केवल त्रिगर्त नाम मिलता है।[5] इससे विदित होता है कि त्रिगर्तषष्ठ आर्थिक संघ था और इसके अन्तर्गत छः वर्ग थे। इन छः वर्ग के नाम काशिका के आधार पर—कौण्डोपरथ, दांडकि, क्रौष्टुकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि थे।

आर्थिक संघों में आयुधजीवी संघों के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में इतना अधिक संगठन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पाणिनि ने विशेषतः इन्हीं का उल्लेख किया है। परन्तु पाणिनि ने बाहीक देश में एक गोपालक नामक संघ का भी उल्लेख किया है। काशिका से ज्ञात होता है कि गोपालक नामक संघ ब्राह्मणों का था (गोपालक-ब्राह्मणः)। इससे प्रतीत होता है कि यह संघ आयुधजीवी नहीं था, अपितु गोपालकों का था, जिनका मुख्य व्यवसाय पशुपालन होगा।

पाणिनिसूत्र ५–३–११४ से ११७ तक आयुधजीवी संघों के नाम राजन्य, वृक, दामनी, पर्श्व, त्रिगर्तषष्ठ, यौधेय आदि मिलते हैं जिनके स्थान का संकेत बाहीक देश की ओर किया गया है। महाभारत कर्णपर्व के अनुसार सिन्धु और उसकी सहायक

---

१. शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते॥
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन् धर्मेण न दुष्यति॥ मनुस्मृति ८–३४८, ३४९

२. संघा हि संहतत्वादधृष्याः परेषाम्। अर्थशास्त्र ११–१–२

३. आयुधजीविसंघाञ्ञ्यड् वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ५–३–११४।
वृकाट्टेण्यण्, ५–३–११५ दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः ५–३–११६।
पर्श्वादियौधेयादिभ्यो अणञौ ५–३–११७८

४. न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः। ४–१–१७८

५. भर्गात् त्रैगर्ते। ४–१–१११

पाँच नदियों के बीच का प्रदेश बाहीक देश था।[1] राजन्य शब्द का सामान्य अर्थ क्षत्रिय है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार पाणिनि-सूत्र ५–३–११४ में यह शब्द राजन्य नामक संघ के लिए प्रयुक्त हुआ है जो बाहीक देश में था।[2]

पाणिनि-सूत्र ४–३–९१ में आयुधजीवी संघों का अस्तित्व पर्वतीय प्रदेशों में भी बताया गया है।[3] महाभारत द्रोणपर्व में भी इस प्रकार के पर्वतीय संघों का उल्लेख मिलता है।[4]

(ई) पारिभाषिक शब्दों पर विभिन्न दृष्टिकोण

गण और संघ शब्दों के अर्थ के विषय में जो मतभेद आधुनिक विद्वानों में है, उसको हम अध्याय चार में लिख चुके हैं। बहुधा सभी विद्वानों ने गण और संघ शब्दों को पर्याय माना है, परन्तु हम प्रस्तुत अध्याय के प्रकरण (अ) में स्पष्ट कर चुके हैं कि गण और संघ शब्द के अर्थों में अन्तर है। अतः यहाँ पर हम गण और संघ शब्दों के विभिन्न अर्थों में प्रयोग पर दृष्टिपात करेंगे।

गण शब्द का सामान्य अर्थ समूह है। इस अर्थ में यह संघ शब्द का पर्याय माना जाता है, क्योंकि संघ शब्द का भी सामान्य अर्थ समूह होता है। पाणिनि-सूत्र ३–३–८६ 'संघोद्घौ गणप्रशंसयोः' में गण और संघ को सामान्य अर्थ में ही समानार्थी व्यक्त किया गया है। अमरकोश २–८–३ में भी गण शब्द का सामान्य अर्थ में ही प्रयोग दिखाते हुए राजाओं के गण (समूह) को राजक और क्षत्रियों के गण (समूह) को राजन्यक कहा गया है।[5]

गण शब्द अपने विशेष अर्थ में वर्ग का पर्याय होता है।[6] हम अध्याय पाँच में बता चुके हैं कि बृहदारण्यकोपनिषद् चतुर्थ ब्राह्मण में वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत देवताओं के समूह को गण कहा गया है। वहाँ पर गण शब्द का प्रयोग कार्य विशेष के लिए संगठित, समान गुण रखनेवाले व्यक्तियों के समूह के अर्थ में हुआ है, क्योंकि वहाँ पर देवताओं के उक्त गणों के समान ही मनुष्यों के विश बताये गये हैं। इसलिए गण शब्द का विशेष अर्थ में प्रयोग संस्था के लिए होता है।

---

१. पंचानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः।
बाहीका नाम ते देशाः......महाभारत कर्णपर्व ४४–७

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४५७

३. आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते। पाणिनि ४–३–९१

४. 'संघा गिरिचारणाः' एवं 'गिरिगह्वरवासिनः।' महाभारत द्रोणपर्व ९३–४८

५. अथ राजकम्। राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात्। अमरकोश २-८-३

६. वीरमित्रोदय, पृष्ठ १२

इसी लिए मित्रमिश्र ने वर्ग को गण का पर्याय बताया है।

पाणिनिसूत्र ५–२–५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' में गण शब्द संस्था के लिए प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि यहाँ पूग और संघ के समान ही गण की कार्यप्रणाली की ओर संकेत किया गया है। सम्भवतः पाणिनि का उक्त गणतिथः बौद्ध साहित्य में उल्लिखित गणपूरक का भाव रखता होगा, क्योंकि काशिका में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—'गणस्य पूरणः गणतिथः'। यद्यपि उपर्युक्त सूत्र से गण और संघ नामक भिन्न-भिन्न संस्थाओं का बोध होता है, तथापि उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि यहाँ पर गण अराजनीतिक संस्था को कहा गया है अथवा राजनीतिक संस्था को। अन्य प्रमाणों से गण नामक अराजनीतिक संस्थाओं का अस्तित्व भी सिद्ध होता है और गणराज्यों का भी। वाल्मीकि रामायण में गण शब्द अराजनीतिक संस्थाओं के अर्थ में अनेक स्थानों पर मिलता है, जिसके प्रधान को गणवल्लभ कहते थे। महाभारत में गण शब्द स्पष्टतः गणराज्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। जैन धार्मिक साहित्य में गणनायक, गणराजानो और गणधर शब्द मिलते हैं। गणनायक शब्द गण—एक सेना की टुकड़ी के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। गणराजानो शब्द गणराज्य के प्रतिनिधि अथवा संघराज्य के सभासद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महात्मा महावीर ने अनेक अपने शिष्यों को गणधर संज्ञा दी थी। परन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रत्येक स्थान पर गण शब्द से समूह का अर्थ अवश्य प्रकट होता है।

गण शब्द का गणराज्य के अर्थ में प्रयोग महाभारत तथा जैन और बौद्ध साहित्य में भी मिलता है, और सिक्कों पर भी। महाभारत शान्तिपर्व में गणराज्यों के सम्बन्ध में बहुत कुछ विवरण दिया गया है। 'आचारंग सूत्र' में गणरायाणि का उल्लेख है। जातकों में लिच्छवि राज्य को गणराज्य कहा गया है। यौधेयों के सिक्कों पर 'यौधेयगणस्य जयः' लिखा हुआ मिलता है।

उपर्युक्त कथन से प्रतीत होता है कि गण शब्द का सामान्य अर्थ समूह है, परन्तु कालान्तर में उसको विशेष प्रकार के संगठित समूह के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। इस प्रकार गण शब्द सामान्य अर्थ में समूह और विशेष अर्थ में संस्था के लिए प्रयुक्त होने लगा। उसके बाद गण शब्द का प्रयोग जनतंत्रीय राज्य के अर्थ में होने लगा। यद्यपि वैदिक काल में जनतंत्रीय राज्यों का अस्तित्व था, तथापि उनको गणराज्य नहीं कहा जाता था, अपितु उनको जनराज्य अथवा स्वराज्य कहा जाता था। रामायण में भी गण शब्द केवल अराजनीतिक संस्थाओं के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। परन्तु महाभारत में और उसके बाद गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार समय के प्रभाव से गण शब्द अपने सामान्य अर्थ समूह से उन्नति करके क्रमशः संस्था और राज्य के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

गण शब्द के समान संघ शब्द को भी विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। संघ शब्द का साधारण अर्थ समूह है। इस अर्थ में वह गण का पर्यायवाची है। पाणिनिसूत्र ३–३–८६ 'संघोद्धौ गणप्रशंसयोः' में संघ शब्द सामान्य अर्थ में गण का पर्याय सिद्ध होता है,। वाल्मीकि रामायण में नट, नर्तक, गायक आदि के संघों का उल्लेख है।[१] इससे विदित होता है कि समान गुण वाले व्यक्तियों के समूह को संघ कहते थे।

पाणिनिसूत्र ३–३–४२ 'संघे चानौत्तराधर्ये' में कहा गया है कि संघ में उच्च-नीच की अवस्था नहीं होती। यद्यपि इस सूत्र से संघ में समानता के गुण का संकेत ही मिलता है, तथापि इस पर विद्वानों में मतभेद है कि इस सूत्र का संकेत किस प्रकार के संघों की ओर है। डा० के० पी० जायसवाल ने इसका संकेत राजनीतिक संघों की ओर मानते हुए एकसदनीय और द्विसदनीय संघराज्यों की कल्पना की है।[२] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस सूत्र का संकेत धार्मिक संघों की ओर माना है।[३] हमने प्रस्तुत अध्याय के प्रकरण (ई) में इस पर विस्तृत विवेचना की है और सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस सूत्र से आर्थिक संघों का संकेत मिलता है। हम सिद्ध कर चुके हैं कि संघ शब्द का प्रयोग आर्थिक संघों के लिए भी किया जाता था। कौटिल्य ने भी आर्थिक संघों का उल्लेख किया है और पाणिनि ने भी। बौद्ध साहित्य में संघ शब्द धार्मिक संघ के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार संघ शब्द का प्रयोग अराजनीतिक संस्थाओं के लिए होता था जिनमें संघ की 'इकाई वर्ग थी; कई वर्ग मिलकर संघ बनाते थे।

संघ शब्द राजनीतिक अर्थ में संघराज्य के लिए प्रयुक्त होता है जिसको एकाधिक गणराज्य मिलकर बनाते हैं। महाभारत में संघ शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त मिलता है।[४] कौटिल्य ने भी संघराज्यों का उल्लेख करते हुए संघ शब्द का राजनीतिक अर्थ में प्रयोग दिखाया है।[५]

इस प्रकार गण शब्द के समान ही संघ शब्द भी अपने सामान्य अर्थ में समूह और विशेष अर्थ में अराजनीतिक संस्थाओं और संघराज्यों के लिए प्रयुक्त होने लगा।

---

१. नटनर्तकसंघानां गायकानां च गायताम्। वा० रा० अयोध्या० ६–१४

२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ३८.

३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४३५

४. भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु॥ महाभारत शा० प० ८१–२५

५. प्रस्तुत ग्रन्थ

परन्तु अपने सामान्य अर्थ में यह गण का पर्याय होते हुए भी विशेष अर्थ में गण को अपनी इकाई बनाने में समर्थ हुआ ।

(ड) संघ राज्य

पाणिनि-काल में दो प्रकार के संघ थे—आर्थिक और राजनीतिक । आर्थिक संघों के विषय में हम प्रकरण (इ) में विचार कर चुके हैं। अतः यहाँ पर हम राजनीतिक संघों के विषय में विचार करेंगे । हमारे विचार का क्रम संघराज्य का संगठन, निर्वाचन पद्धति और तत्कालीन गणराज्यों तथा संघराज्यों का संक्षिप्त अध्ययन होगा ।

संघराज्य के संगठन में गृह, कुल और गणराज्य मुख्य स्थान रखते थे, अतः इन पर क्रमानुसार विचार करना उचित है । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई गृह थी । गृह का स्वामी गृहपति उस गृह की अपेक्षा से सर्वाधिकार-सम्पन्न माना जाता था । सामान्यतः गृहपति का स्थान पिता का था । उसके बाद उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र गृहपति की पदवी धारण करता था ।[१] गृहपति का महत्व भारतीय समाज में वैदिक काल से चला आ रहा है ।

अथर्ववेद के अनुसार यह जगत पहले बिना राज्य के ही था । उसके प्रादुर्भाव से सब भयभीत हुए कि यह विराट् अवस्था ही इस जगत को धारण करेगी। वह विराट् अवस्था ऊपर उठी और वह गृहसंघ के रूप में नीचे आ गयी । जो इस प्रकार जानता है, वह गृहस्थ गृहपति होता है ।[२] इस प्रकार विराट् (राज्यविहीन) अवस्था से सर्वप्रथम कौटुम्बिक अवस्था आयी । अतः समाज की सबसे महत्वपूर्ण इकाई गृह थी । यही राज्य के निर्माण में ईंट के समान थी ।

बहुत से गृह मिलकर कुल बनाते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार परिवार की संज्ञा कुल थी ।[३] पाणिनिसूत्र ४–१–१३९ और ४–२–९६ में माता, पिता, पितामह, पितृव्य, भ्राता, सोदर्य, ज्यायान्, भ्राता, स्वसा, पुत्र, पौत्र, पितृष्वसा, पैतृष्वसेय, मातृष्वसा, मातृष्वसेय, स्वस्त्रीय, भ्रातृव्य, मातामह, मातुल और मातुलानी सम्मिलित बताये गये हैं ।[४] कुल का शासन थोड़े से लोगों के द्वारा होता था––'कुलानि कतिचित्पुरुषगृहीतानि'।[५] ये लोग सम्भवतः गृहपति ही होते

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ११२
२. प्रस्तुत ग्रन्थ
३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ११०
४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ११३, ११४
५. हिन्दू पालिटी, नोट ७

थे। कुल का प्रधान कुलवृद्ध कहलाता था। जातक ४–१४८ 'वैशाली नगरे गणराज कुलानं अभिसेक मंगल पोक्खरणी' में कथित मूर्धाभिषेक कुलवृद्ध का ही होता था। वह मूर्धाभिषिक्त व्यक्ति गणराज्य में प्रतिनिधित्व पाता था।

कुलों के समूह को गण कहते थे।[१] महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १०७ में भी कुल और जातियों को मिलाकर गणराज्य बनाने का उल्लेख है।[२] महाभारत के इस कथन पर विचार हो चुका है। इन श्लोकों से विदित होता है कि गणराज्य में सभी कुलों और सभी जातियों को समानता के अधिकार प्राप्त थे।[३]

गणराज्यों को मिलाकर संघ बनाने का संकेत महाभारत शान्तिपर्व में मिलता है, जिसमें कहा गया है कि गणों का संघ बनकर रहना ही सर्वश्रेठ है।[४] महाभारत में अन्धकवृष्णि संघराज्य प्रसिद्ध था जिसके अध्यक्ष को संघमुख्य कहा गया है।[५] बौद्धकाल में लिच्छवि और विदेह ने मिलकर वज्जिसंघ बनाया था।

इस प्रकार संघराज्य का संगठन गृह, कुल और गण द्वारा होता था, जिसका रेखाचित्र निम्नांकित प्रकार का हो सकता है—

संघराज्य
।
गणराज्य
।
कुल
।
गृह

अब हमको इस महान् प्रजातंत्र प्रणाली के निर्वाचन की ओर ध्यान देना आवश्यक है। यह तो सभी विद्वान् मानते हैं कि भारत के प्राचीन जनतंत्रीय राज्यों में कोई निर्वाचन-प्रणाली अवश्य होगी, क्योंकि उनमें निर्वाचन के चिह्न मिलते हैं। परन्तु निर्वाचन प्रणाली का स्पष्ट विवरण कहीं नहीं दिया गया। तो भी उपर्युक्त संगठन को समझने के बाद निर्वाचन-प्रणाली को समझना सरल हो जाता है।

---

१. कुलानां हि समूहस्तु गणः संप्रकीर्तितः। वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२६, कात्यायन।
२. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक ३०,३१
३. प्रस्तुत ग्रन्थ
४. भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः।
तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत्॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक ३२
५. भेदाद्विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु॥ शा० प० अ० ८१ श्लोक २५

वदिक काल की निर्वाचन-प्रणाली पर हम अध्याय पाँच में विचार कर चुके हैं। उस समय समाज राजनीतिक प्रतिनिधित्व के विचार से पाँच भागों में बँटा हुआ था—(१) प्रयाजाः, (२) अनुयाजाः, (३) हुतभागाः, (४) अहुतादः, (५) पंच-प्रदिशः। प्रत्येक वर्ग अपने में से ही प्रतिनिधि चुनकर राज्यसभा का निर्माण करता था और साथ ही राजपद के लिए भी योग्य व्यक्ति चुनता था। प्रत्येक वर्ग की पृथक्-पृथक् समितियाँ होती थीं।

परन्तु महाभारतकाल तक उपर्युक्त निर्वाचनप्रणाली में पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। अब प्रतिनिधित्व का आधार गृह, कुल आदि माना जाने लगा। सर्वप्रथम गृहपति का निर्वाचन होता था। जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, सामान्यतः गृहपति का स्थान पिता को मिलता था। उसके बाद उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र गृहपति की पदवी धारण करता था। यह प्रथा वर्तमान काल में भी पायी जाती है जिसको पगड़ी बाँधना कहते हैं। पिता की मत्यु के बाद ज्येष्ठ पुत्र को पगड़ी दी जाती है। ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं कि ज्येष्ठ पुत्र के किसी प्रकार अयोग्य होने पर उससे छोटे पुत्र को यह अधिकार मिलता है। महाभारत में धृतराष्ट्र के अन्धे होने के कारण ही, उनके छोटे भाई पाण्डु को यह पद मिला था।

पारमेष्ठ्य राज्य में प्रत्येक गृहपति राज्यसभा का सदस्य माना जाता था जिसको राजानः कहते थे। परन्तु गणराज्य अपेक्षाकृत बड़े होते थे इसलिए गणराज्य में राज्यसभा में प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रत्येक कुलपति अथवा कुलवृद्ध को मिलता था। कुल के अन्तर्गत सभी गृहपति मिलकर कुलवृद्ध को पदारूढ करते होंगे। जैसा कि इस शब्द से प्रतीत होता है, कुल में सबसे वृद्ध पुरुष को यह पद मिलता होगा। कुलवृद्ध के अभिषिक्त होने का उल्लेख जातक ४–१४८ में मिलता है। गणराज्य के अन्तर्गत सभी कुलवृद्ध राज्यसभा में प्रतिनिधित्व पाते थे। इस विषय पर हम इसी अध्याय के प्रकरण (आ) में विचार कर चुके हैं। पाणिनिसूत्र ५–२–५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से संकेत मिलता है कि गणराज्य के निर्णय एक निश्चित मत-संख्या पर हुआ करते थे। न्यूनातिन्यून जितने सदस्यों की उपस्थिति होने पर गण का अधिवेशन नियमित समझा जाता था, वह नियत उपस्थिति कहलाती थी। ऐसा व्यक्ति जिसके उपस्थित हो जाने से नियत संख्या की पूर्ति होती थी, गणपूरक या गणपूरण कहलाता था।[१] गणपूरण, गणपूरक आदि शब्दों से प्रतीत होता है कि सभा का निश्चय बहुमत से होता था। बौद्ध साहित्य में इस बात के प्रमाण भी मिलते हैं कि सर्वसम्मति न होने पर बहुमत का अवलम्बन किया जाता था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गणराज्य का प्रधान

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४४५

राज्यसभा के बहुमत से बनाया जाता था।

संघ में गणों का प्रतिनिधित्व होता था। जैन-साहित्य से प्रमाण मिलता है कि लिच्छवि-मल्ल संघ में नौ लिच्छवि और नौ मल्ल संघ में प्रतिनिधित्व करते थे। इससे प्रतीत होता है कि संघराज्य में प्रत्येक गण से बराबर प्रतिनिधि लिये जाते थे। पाणिनिसूत्र ५-२-५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से विदित होता है कि गणराज्य के समान ही संघराज्य में भी बहुमत से कार्य किये जाते थे। अतः संघराज्य की सभा के बहुमत से संघ के प्रधान का निर्वाचन होता होगा।

अतः गणों का संगठन एक विशेष प्रकार का होने के कारण, उस समय भी इतनी महत्ता रखता था कि इस संगठन के आधार पर गणना करने की एक विशेष पद्धति पड़ गयी थी, जिसको गणपद्धति कहते थे, और इस प्रकार के संगठन को गणबन्धन कहते थे। इस सम्बन्ध में महावग्ग २-१८ में एक उल्लेख मिलता है।[1] इस उल्लेख के अनुसार बुद्ध ने भिक्षुओं की गणना करने के लिए आदेश दिया था कि 'हे भिक्षुओ, मैं यह निर्धारित करता हूँ कि तुम उपोसय के दिन भिक्षुओं की गणना करो, गणपद्धति के अनुसार 'गणमग्गेन गणेतुम्' अथवा शलाकाएं लेकर। एक और उदाहरण जातक १-४२२ में मिलता है कि श्रावस्ती के गृहस्थों ने बौद्ध भिक्षुओं का किस प्रकार स्वागत किया—'कदाचि तीनि चतारि एकतो हुत्वा, कदाचि गणवन्धनेन, कदाचि वीथिसभागेन, कदाचि सकल नगरम् छंदकं संहरित्वा'—कहीं तीन-चार गृहस्थों ने एक साथ मिलकर, कहीं मोहल्ले भर के लोगों ने एक साथ सभा करके, कहीं सारे नगर ने छंदक रीति से एकत्र होकर और कहीं गणबन्धन के अनुसार संगठित होकर। इससे स्पष्ट है कि गणों के संगठन की प्रणाली इतनी प्रसिद्ध थी कि इसके आधार पर संगठित होने को गणबन्धन कहते थे।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाणिनि के समय में संघ दो प्रकार के थे—आर्थिक और राजनीतिक, जिनका संगठन एक ही प्रकार से होता था। आर्थिक संघ का संगठन हम इसी अध्याय के प्रकरण (इ) में निश्चित कर चुके हैं, अतः यहाँ पर दोनों की रूपरेखाओं पर दृष्टि डालकर दोनों की समानता का अनुमान कर लेना चाहिए—

आर्थिक संघ	संघराज्य
वर्ग	गणराज्य
श्रेणी	कुल
पूग	गृह

१. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, १३-२६९

अब हम पाणिनिकालीन गणराज्यों और संघराज्यों का संक्षिप्त अवलोकन करना उचित समझते हैं, यद्यपि यह विषय इतिहास के अन्तर्गत आता है।

पाणिनि के दामन्यादि, पर्श्वादि, यौधेयादि गणों के अन्तर्गत तैंतीस गणराज्यों के नाम मिलते हैं, जो कि निम्नांकित हैं—

(१) दामिनि (२) औलपि (३) काकदन्ति (४) अच्युतन्ति (५) शत्रुन्तदि (६) सार्वसेनि (७) वैन्द्रवि (८) मौंजायन (९) तुलभ (१०) सावित्रीपुत्र (११) वैजवापि (१२) औदकि (१३) पर्शु (१४) असुर (१५) रक्षस् (१६) वाह्लीक (१७) वयस् (१८) मरुत् (१९) दशार्ह (२०) पिशाच (२१) अशनि (२२) कार्षपण (२३) सत्वत् (२४) वसु (२५) यौधेय (२६) शौभ्रेय (२७) शौक्रेय (२८) ज्याबाणेय (२९) वार्त्तेय (३०) धार्तेय (३१) त्रिगर्त (३२) भरत (३३) उशीनर। उपर्युक्त सभी संघ यमुना के पश्चिमी भाग, पंजाब, सिन्ध, कश्मीर तथा अफ़गानिस्तान तक यत्र-तत्र स्थित थे। इनके अतिरिक्त (१) वसाति (२) आप्रीत (३) भर्ग (४) मधुमन्त (५) हास्तिनायन (६) आश्वलायन और (७) आश्वकायन नाम अन्य सूत्रों में मिलते हैं। ये भी उपर्युक्त भूभाग में ही स्थित थे।

पाणिनि ने (१) मद्रवृजि, (२) अन्धकवृष्णि, (३) क्षुद्रक-मालव के संघराज्यों का भी उल्लेख किया है। ये प्रसिद्ध संघ-राज्य थे। अन्धकवृष्णि संघ का विस्तृत वर्णन महाभारत में मिलता है। क्षुद्रकमालव संघ का उल्लेख यूनानी लेखकों ने किया है। मद्रवृजि का उल्लेख बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है।[१]

(ऊ) राजन्य शब्द की विशेषता

प्राचीन राज्यशास्त्र में राजन्य और राजानः शब्द अपना विशेष अर्थ रखते हैं जिनको समझना आवश्यक है। वैदिक काल में राजन्य शब्द क्षत्रियवर्ण के लिए प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद और यजुर्वेद में चारों वर्णों की उत्पत्ति दिखाते हुए क्षत्रियवर्ण को राजन्य कहा गया है।[२] अथर्ववेद में भी राजन्य शब्द क्षत्रियवर्ण के लिए प्रयुक्त किया गया है।[3] अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल में राजन्य शब्द क्षत्रियवर्ण के लिए आता था।

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४६४–४६५

२. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
ऋग्वेद १०–९०–१२ यजुर्वेद ३१–११

३. ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ अथर्ववेद १९–६–६

राजानः शब्द अथर्ववेद ३–२९–१ में मिलता है। वहाँ पर यमराज की सभा के सदस्यों को राजानः कहा गया है।[१] इस प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसभा के सदस्यों को राजानः कहते हैं। महाभारत सभापर्व में कहा गया है कि पारमेष्ठ्य राज्य में प्रत्येक घर में राजानः होते थे जो अपने अपने हित की रक्षा करते थे।[२] इससे विदित होता है कि पारमेष्ठ्य शासन-प्रणाली में प्रत्येक गृहपति को राज्यसभा में प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त था। प्रत्येक गृहपति ही राजानः था। गणराज्य में यह अधिकार कुलपति को प्राप्त होता था।

यदुवंशियों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन था। धर्मशास्त्रों के अनुसार पशुपालन वैश्यों की वृत्ति है। इससे विदित होता है कि यदुवंशी वैश्यवर्ण के थे। भागवत में कथन है कि श्री कृष्ण अपने अन्य यदुवंशियों को समझाते हुए कहते हैं कि वैश्यों की वार्तावृत्ति चार प्रकार की है; कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और ब्याज लेना। हम लोग इन चारों में से एक, केवल गोपालन ही सदा से करते आये हैं।[३] इस कथन से स्पष्ट है कि यदुवंशी वैश्यवर्ण के थे और श्री कृष्ण अपने को वैश्यवर्ण का मानते थे। परन्तु हम देखते हैं कि श्री कृष्ण तथा अन्य यदुवंशी अन्धक-वृष्णि संघराज्य में शासनाधिकार प्राप्त किये हुए थे।

उपर्युक्त कथन से सिद्ध होता है कि महाभारत-काल तक शासनाधिकार केवल क्षत्रियवर्ण तक ही सीमित न था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के व्यक्ति राज्यसभा के सभासद् बनने पर राजानः कहलाने लगते थे। परन्तु शासन में कुल के आधार पर प्रतिनिधित्व का प्रभाव कालान्तर में यह पड़ा कि सामान्यतः कुलपति के उत्तराधिकारी को ही यह अधिकार मिलने लगा। इस प्रकार यह अधिकार शनैः-शनैः वंशानुक्रमिक होने लगा। इस प्रकार जिन वंशों को शासनाधिकार प्राप्त हुआ उनको अभिषिक्त वैश्य-क्षत्रिय माना जाने लगा। पाणिनि ने श्रेण्यादि गण में 'ब्राह्मणकृताः' 'क्षत्रियकृताः' इन दो प्रयोगों का उल्लेख किया है—'अब्राह्मणाः ब्राह्मणाः कृताः ब्राह्मणकृताः, अक्षत्रियाः क्षत्रियाः कृताः क्षत्रिय कृताः।'[४] इससे स्पष्ट है कि जो लोग पहले

---

१. यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अथर्ववेद ३–२९–१

२. गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः। महाभारत सभापर्व

३. वर्तेत विद्यया विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः।
वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया॥
कृषिवाणिज्यगोरक्षाः कुसीदं तुर्यमुच्यते।
वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥ भागवत दशम स्कन्ध २४–२०

४. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४५४

ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय नहीं थे, उनको ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय बनाने की प्रथा तत्कालीन भारत में थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार उत्तर-पश्चिमी भारत और पूर्वी भारत, दोनों में ही इस प्रकार के प्रयत्न होते थे। प्राच्य देश में इस प्रकार के ब्राह्मणों को मगधदेशीय ब्रह्मबन्धु और क्षत्रियों को वृषल क्षत्रिय कहा जाता था।[1] इस प्रकार क्षत्रिय बनाने की प्रथा का प्रमाण हमको हूण काल तक मिलता है, जब कि बाहर से आकर शासन करने वाले हूणों को क्षत्रिय मान लिया गया था। इससे स्पष्ट है कि जिन कुलपतियों को गणराज्य में प्रतिनिधित्व का अधिकार मिल जाता था, वे राजानः अथवा राजन कहलाने लगते थे, चाहे वे किसी भी वर्ण अथवा जाति के हों। परन्तु शासन में प्रतिनिधित्व पा लेने के बाद अर्थात् राजानः पद पर अभिषिक्त होने के बाद, वे अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय कहे जाते थे।

इस प्रकार क्षत्रियों और अभिषिक्त वैश्य क्षत्रियों में भेद पड़ गया। पाणिनिसूत्र ६–२–३४ 'राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेन्धकवृष्णिषु' के अनुसार राजन्य शब्द अभिषिक्तवंश्य क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। काशिका में उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि अन्धक-वृष्णि संघ के अन्तर्गत जो अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय थे, केवल उन्हीं का यहाँ राजन्य शब्द से ग्रहण किया गया है।[2] अतः अब स्पष्ट हो जाता है कि राजानः की सन्तान को राजन्य कहा जाता था। यही बात पाणिनिसूत्र ४–१–१३७ 'राजश्वशुराद् यत्' से स्पष्ट होती है कि राजा के अपत्य अर्थ में राजन्य शब्द आता है।

इस प्रकार राजन्य शब्द आरम्भ में क्षत्रिय वर्ण के लिए प्रयुक्त होता था परन्तु कालान्तर में अभिषिक्त वंश्य क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। कुछ सिक्के राजन्य जनपदस और राजन्य-महमितस नाम से अंकित उपलब्ध हुए हैं।[3] इनसे प्रतीत होता है कि कालान्तर में राजन्य लोग क्षत्रियवर्ण की एक उपजाति का रूप धारण कर चुके थे और उन्होंने अपने पृथक् गणराज्य भी बना लिये थे।

(ए) संघों के अंक और लक्षण

पाणिनिसूत्र ४–३–१२७ 'संघांकलक्षणेष्वञ् यञिञामण्' से विदित होता है कि प्रत्येक संघ के लक्षण और अंक हुआ करते थे। ये लक्षण और अंक बहुधा तत्कालीन

---

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४५५

२. राजन्यवाचिनां बहुवचनान्तानां यो द्वन्द्वोऽन्धकवृष्णिषु वर्त्तते ततः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति । श्वाफल्कचैत्रकाः, शिनिवासुदेवाः । अन्धकवृष्णय एते न तु राजन्याः । राजन्यमिहाभिषिक्तवंश्याः । काशिका

३. कनिंघम, सी० ए० आई, पृष्ठ ६९

राज्यों के सिक्कों पर प्राप्त होते हैं। भारतीय प्राचीन सिक्कों पर पशु, चक्र, कुटी आदि के चिह्न पाये जाते हैं। प्रत्येक राज्य का अपना विशेष चिह्न होता था। इस चिह्न को लक्षण कहते हैं। पाणिनि के उल्लेख से विदित होता है कि पशुओं की पहचान के लिए भी इन लक्षणों का प्रयोग होता था, जो कि उनके कान पर अंकित कर दिये जाते थे।[१]

लक्षणों के अतिरिक्त प्राचीन सिक्कों पर कुछ लेख भी अंकित मिलते हैं, जैसे 'यौधेयगणस्य: जय,' 'राजन्यजनपदस' आदि, इन लेखों को अंक कहा जाता था।[२]

यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपर्युक्त सूत्र में पाणिनि ने संघ शब्द का प्रयोग संघराज्य के विषय में ही किया है, अथवा आर्थिक संघ के विषय में? वास्तव में यह प्रश्न यहाँ भी हल नहीं होता, क्योंकि अंक और लक्षणों का प्रयोग दोनों ही प्रकार के संघ करते थे। संघराज्यों द्वारा इनका प्रयोग विभिन्न राज्यों के उपलब्ध सिक्कों से प्रमाणित होता है। काशिका में पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या में 'गार्गः संघः गार्गोङ्कः गार्गं लक्षणम्' आदि उदाहरण दिये गये हैं। इन उदाहरणों से विदित होता है कि आर्थिक संघ भी अपने विशेष लक्षण और अंक रखते थे। इस प्रकार की निगम की मुद्राएं भी उपलब्ध हुई हैं जिनसे सिद्ध होता है कि आर्थिक संस्थाएं अपने निजी अंक और लक्षण रखती थीं। अतः पाणिनि के उपर्युक्त सूत्र में संघ शब्द से आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के संघों की ओर संकेत प्रतीत होता है।

(ऐ) एकसदनीय अथवा द्विसदनीय विधान के अस्तित्व पर विवाद

डा० के० पी० जायसवाल ने पाणिनिसूत्र ३–३–४२ 'संघे चानौत्तराधर्ये' के आधार पर जनतंत्रीय राज्यों के दो प्रकार बताये हैं, एक तो वह जिसमें छोटी बड़ी दो प्रतिनिधि सभाएं होती थीं और दूसरा वह जिसमें केवल एक ही प्रतिनिधि सभा होती थी।[3]

पाणिनिसूत्र ३–३–४१ 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः' में निकाय शब्द को निवास के अर्थ में लिया गया है। पाणिनिसूत्र ३–३–४२ निकाय सम्बन्धी संघों के सम्बन्ध में है।[४] पाणिनि ने आयुधजीवी संघों का उल्लेख उनके निवास स्थान के संकेत से किया है, यथा बाहीकदेश के आयुधजीवी संघ सूत्र ५–३–११४ में और पर्वतीय भागों

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४४५
२. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४४६
३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ३८
४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४३५

के आयुधजीवी संघ सूत्र ४–३–९१ में उल्लिखित हैं। इसलिए पाणिनिसूत्र ३–३–४२ में आयुधजीवी संघों की ओर संकेत किया गया है।

पाणिनिसूत्र ३–३–४२ 'संघे चानौत्तराधर्ये' में कहा गया है कि संघ में उत्तर और अधर अर्थात् उच्च-नीच की अवस्था नहीं होती थी। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने उक्त सूत्र के आधार पर उच्च-नीच का भेद न रखने वाले संघ को धार्मिक संघ कहा है।[1] सम्भवतः उनका यह मत बौद्ध धर्म के संघों पर आधारित है। परन्तु डा० जायसवाल के मतानुसार पाणिनि धार्मिक संघ से परिचित नहीं थे।[2]

हमारे विचार से पाणिनि ने सूत्र ३–३–४२ में संघ का विशेष गुण दिखलाया है समानता। संघ में सबको समान अधिकार प्राप्त होते थे, उच्च-नीच की अवस्था नहीं होती थी। संघ का यह गुण आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार के संघों में दृष्टिगोचर होता है। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १०७ में भी गणराज्य के इस गुण की ओर संकेत किया गया है कि गणों में कुल और जाति की दृष्टि से भेदभाव नहीं किया जाता।[3] गणराज्य में समानता के व्यवहार की ओर ललितविस्तर में भी संकेत किया गया है।[4]

अतः हमारे विचार से पाणिनिसूत्र ३–३–४२ से यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय द्विसदनीय शासन-विधान था, अथवा किसी राज्य में दो प्रतिनिधि सभाएं होती थीं। डा० के० पी० जायसवाल ने यूनानी लेखों के आधार पर भी द्विसदनीय शासन-विधान की कल्पना की है।[5] यहाँ पर उन्होंने अपना मत डायोडोरस के इस कथन पर आधारित किया है कि अम्बष्ठों ने अपने वयोवृद्ध पुरुषों के परामर्श से सन्धि का विचार किया था। परन्तु इस कथन का तात्पर्य यह हो सकता है कि अम्बष्ठों की सभा में युवक और वृद्ध विभिन्न आयु के सदस्य थे, और इस प्रश्न पर वयोवृद्ध सदस्यों का मत सन्धि करने का था। अतः उनके इस आधार पर भी द्विसदनीय विधान का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। अन्य प्रमाणों के अभाव में, हमारे विचार से प्राचीन भारत में द्विसदनीय शासनविधान किसी राज्य में नहीं था।

---

१. पा० का० भा० पृष्ठ ४३५
२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ २८
३. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा। महाभारत शा० प० १०७–३०
४. नीच-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता, एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति न च कस्यचिच्छिष्यत्वमुपगच्छति। ललितविस्तर अ० ३
५. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६३

अध्याय ८

बौद्ध साहित्य में जनतंत्र

बौद्ध साहित्य में राजनीतिक दृष्टिकोण को लेकर कुछ भी नहीं लिखा गया, क्योंकि बौद्ध लेखकों की दृष्टि समाज के उन दोषों को दूर करने की ओर थी जो चारित्रिक पतन के कारण समाज के प्रत्येक अंग में आ चुके थे। परन्तु बौद्ध साहित्य राजनीति से अनेक कारणों से सम्बन्धित था, इसलिए उसमें राजनीति के विषय अनायास ही आ गये। प्रथम तो गौतम बुद्ध का जन्म एक राजघराने में हुआ था, इस कारण वे तथा उनके अनुयायी राजघरानों से विशेष सम्बन्धित रहे। दूसरे बौद्धों को तत्कालीन सुसंगठित ब्राह्मणसमाज का विरोध करना था, इसलिए उनको अपना धार्मिक संगठन भली भाँति दृढ़ रखने की आवश्यकता थी। तीसरे बौद्ध प्रचारकों ने 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्तों पर अवलम्बित होकर, पहले राजघरानों को अपने विचार से प्रभावित करने की नीति का अनुसरण किया था।

रामायण-काल में हमको पूर्ण मर्यादित राजतंत्र की झाँकी मिलती है। महाभारत काल में हम देखते हैं कि सिद्धान्त रूप में तो राजा के धर्म पूर्ववत् माने जाते थे, परन्तु व्यवहार में मर्यादा भंग होने लगी थी। युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा राजा भी द्यूत-क्रीड़ा में कहते हैं कि 'ब्राह्मणों को जीविका रूप में जो ग्राम आदि दिये गये हैं, उनको छोड़कर शेष जो नगर, जनपद तथा भूमि मेरे अधिकार में है, तथा जो ब्राह्मणेतर मनुष्य मेरे यहाँ रहते हैं, वे सब मेरे शेष धन हैं। मैं इसी धन को दाव पर रखकर जुआ खेलता हूँ।'[1] इससे प्रतीत होता है कि राजतंत्र का राजा जनता की भूमि, धन और स्वयं जनता पर भी अपना पूर्ण अधिकार मानने लगा था। केवल ब्राह्मण वर्ग को वह अपने अधिकार से बाहर मानता था। इस प्रकार महाभारत काल में ही राजा की मनोवृत्ति में स्वच्छन्दता के कारण दिखाई देने लगते हैं, बौद्ध काल में हम देखते हैं

१. पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजन् शिष्टं धनं मम ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ महाभारत सभापर्व ६५-८

के राज्याभिषेक के अतिरिक्त अन्य राज्य-कार्यों में जनता का बहुत कम हाथ था और राजतंत्र का शासक अधिकांशतः स्वच्छन्द हो गया था। इसके प्रमाणस्वरूप जातकों में राजाओं की स्वच्छन्दता की अनेक कथाएँ मिलती हैं।[1] परन्तु जातकों में ऐसी कथाएं भी हैं, जिनसे विदित होता है कि जनता को अत्याचारी राजा के विरुद्ध क्रान्ति करने का मौलिक अधिकार था। जातक ३–५१३ में एक कथा है कि एक ब्राह्मण ने जनता को एकत्रित करके राजा पर दोषारोपण किया और जनता को क्रान्ति के लिए भड़काया तथा जनता ने राजा तथा उसके पुरोहित का वध करके क्रान्ति के नेता उस ब्राह्मण को ही राजा बना दिया। इसी प्रकार जातक १–३२६ में एक कथा मिलती है जिसमें जनता ने अत्याचारी राजा को हटाकर उसकी जगह एक ब्राह्मण को राजा बना दिया था। पादंजालि जातक में एक कथा है जिससे विदित होता है कि राजा बनाने से पहले राजपुत्र की मन्त्रियों द्वारा परीक्षा ली जाती थी और अयोग्य सिद्ध होने पर उसको राजा नहीं बनाया जाता था। बनारस के राजा ब्रह्मदत्त का पुत्र पादंजालि था। मंत्रियों को उसकी योग्यता में सन्देह था, इसलिए राजा बनाने से पहले उसकी परीक्षा ली गयी। परीक्षा में वह राजपद के अयोग्य समझा गया, इसलिए उसको राजा नहीं बनाया गया और अन्य अमात्यों ने मिलकर अर्थधर्मानुशासन अमात्य बोधिसत्व को राजा बना दिया। इससे निम्नांकित महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१. राजा बनाने से पहले राजपुत्र की योग्यता की परीक्षा ली जाती थी।

२. यद्यपि राजपद सामान्यतः वंशानुक्रमिक होता था, तथापि राजपुत्र की अयोग्यता के कारण वह अधिकार छिन भी सकता था।

३. राजपद के लिए पैतृक अधिकार की अपेक्षा योग्यता पर अधिक बल दिया जाता था। उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि तत्कालीन राजतंत्र में यद्यपि स्वच्छन्दता के दोष दिखाई देने लगे थे तथापि जनतंत्रीय भावना प्रबल थी और अयोग्य तथा अत्याचारी राजा को पदच्युत किया जा सकता था।

राजतंत्र की भाँति जनतंत्र शासन में भी शनैः-शनैः अन्तर आता हुआ दिखाई देता है। हम देख चुके हैं कि वैदिक काल के गणतंत्र शासन में सभी वर्गों और सभी वर्णों के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होता था। परन्तु महाभारत काल में जो गणराज्यों का वर्णन मिलता है उससे विदित होता है कि सिद्धान्त में तो प्रत्येक कुल और प्रत्येक जाति का प्रतिनिधित्व गणराज्य में माना जाता था, परन्तु व्यवहार में हम केवल क्षत्रियों अथवा क्षत्रिय वर्ण में परिगणित कुलों का ही प्रतिनिधित्व पाते हैं। पाणिनि-

---

१. डा० बेनीप्रसाद, दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया—पृष्ठ १२५, १२६

काल में भी यही बात सिद्ध होती है, क्योंकि जिन वंशों को शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता था उनको अभिषिक्त वंश कहते थे और अभिषिक्त हो जाने के बाद वह वंश भी क्षत्रिय वर्ण में माना जाने लगता था। महाभारत और पाणिनि काल में यद्यपि गणराज्यों में बहुधा क्षत्रियों का ही प्रतिनिधित्व दिखाई देता है, तथापि अन्य वर्णों को क्षत्रिय वर्ण में परिगणित करने के नियम और प्रथा थी। इस प्रकार महाभारत और पाणिनि काल के गणतंत्र, वैदिक काल के शुद्ध गणतंत्र न रहकर, कुलीन गणतंत्र का रूप ग्रहण कर लेते हैं।

बौद्ध काल में इनके रूपों में कुछ अधिक संकीर्णता आती दिखाई देती है। लिच्छवियों में ७७०७ कुलो को प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त था। यद्यपि वे राजान: (राज्य सभा के सदस्य) ही थे जैसा कि जातक १–५०४ में कहा गया है,[1] परन्तु 'ललितविस्तर' के अनुसार वे अपने को राजा से कम नहीं समझते थे, और उनमें एक दूसरे के सम्मान की भावना का अभाव था।[2] शासकों में भी इसी प्रकार की उच्छृंखलता पायी जाती है। एक ब्राह्मण शाक्य संथागार के अनुभव गौतम बुद्ध को सुनाते हुए कहता है कि जब वह शाक्यों की सभा में गया तब वहाँ युवक, वृद्ध बैठे हुए हँसी-मजाक कर रहे थे, आगन्तुक से किसी ने भी बैठने को नहीं कहा, अपितु उसका मज़ाक करने लगे। उस ब्राह्मण को शाक्यों में कोई गुण नहीं दिखाई दिये, सब प्रकार की नीच और उच्छृंखलतापूर्ण वृत्ति ही उनमें पायी गयी।[3] गणराज्यों के शासक-वृन्दों की मनोवृत्ति में यह परिवर्तन उनको सामान्तशाही की ओर ले जा रहा था।

भीष्म के मतानुसार गणराज्य के प्रतिनिधियों में धर्मानुकूल व्यवहार करने की भावना होनी चाहिए, और उनमें एक दूसरे के विचारों को उचित महत्व देते हुए समझने की वृत्ति होना आवश्यक है।[4] गौतम बुद्ध ने भी गणराज्यों की उन्नति और सफलता के लिए सात गुणों का होना आवश्यक बताया है––(१) जल्दी जल्दी सभाएं करना और उनमें मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों का अधिकाधिक भाग लेना, (२)

---

१. तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसंतानं येव राजन सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च, राजानो होंति ततका, ये व उपराजानो ततका सेनापतिनी ततका, ततका भांडागारिका। जातक १–५०४

२. नीच-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता, एकैक एवं मन्यते अहं राजा अहं राजेति न च कस्यचिच्छिष्यत्वमुपगच्छति––ललितविस्तर अ० ३

३. हेरिस डेविड्स, डायलाग्ज आफ बुद्ध १–११३

४. धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक १७

राजकार्य एकमत होकर सहयोग से करना, (३) विधियों का उल्लंघन न करना और समाजविरोधी विधियाँ न बनाना, (४) वयोवृद्ध व्यक्तियों का उचित सम्मान करना और उनके विचारों को उचित महत्व देना, (५) स्त्रियों और कन्याओं के साथ बलात्कार न करना, (६) अपने धर्म में दृढ़ निष्ठा रखना और (७) कर्तव्यपरायण होना। तत्कालीन वज्जियों में 'उपर्युक्त गुण पाये जाते थे।[1] उपर्युक्त वर्णन से विदित होता है कि जिस प्रकार बौद्धकालीन राजतंत्र शासकों में मर्यादित और स्वच्छन्द, दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं, उसी प्रकार तत्कालीन जनतंत्र में भी। जहाँ एक ओर लिच्छवि और शाक्यों में उच्छृंखलता और सामन्तीय प्रभुसत्ता की भावना पायी जाती है, वहीं वज्जियों में विनय और सेवा की जनतंत्रीय भावनाएं वर्णित हैं। परन्तु प्रवृत्ति स्वच्छन्दता की ओर अधिक विदित होती है।

(अ) बौद्ध संघ--राजनीतिक संघ के आधार पर

बौद्ध धर्म में धार्मिक संस्थाओं का संगठन संघों के रूप में किया गया था। महावग्ग ९–४–१ चाम्पेय स्कन्धक में कई प्रकार के भिक्षुसंघों का उल्लेख है, यथा चतुर्वर्ग भिक्षुसंघ, पञ्चवर्ग भिक्षुसंघ, दशवर्ग भिक्षुसंघ और विशंतिवर्ग भिक्षुसंघ। किसी नये भिक्षु को उपसम्पदा या दीक्षा देने के लिए समस्त संघ की उपस्थिति होती थी। इस विषय में नियम था कि उपसम्पदा देने के लिए दस भिक्षुओं से कम का वर्ग न होना चाहिए।[2] दीक्षा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में पाँच भिक्षुओं की न्यूनतम संख्या रखी गयी थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध संघ में भिक्षुओं के समूह से वर्ग और वर्गों के समूह से संघ बनता था।

डा० के० पी० जायसवाल के मतानुसार गौतम बुद्ध ने बौद्ध संघों का संगठन करने में, राजनीतिक संघों से विचार लिया था।[3] उन्होंने प्रमाणस्वरूप पालि सूत्रों में पायी गयी निम्न कथा प्रस्तुत की है--जब मगध के राजा की ओर से भेजा हुआ उसका महामंत्री बुद्ध से इस विषय में परामर्श लेने गया कि वज्जियों, लिच्छवियों और विदेहों पर आक्रमण करना चाहिए या नहीं, तब बुद्ध ने मगध से आये हुए महामंत्री को नहीं बल्कि अपने शिष्य आनन्द को सम्बोधित करते हुए वज्जियों की शासन प्रणाली से सम्बन्धित सात प्रश्न किये, जिनको सुनकर महामंत्री ने अपना मत बनाया कि वज्जियों में कथित सात गुणों के रहते हुए मगध के महाराज वज्जियों पर विजय प्राप्त

---

१. हेरिस डेविड्स, डायलाग्ज आफ बुद्ध २–७९ से ८५
२. महावग्ग, १–३१–२
३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ४०–४२

नहीं कर सकते। मगध के महामंत्री के बिदा होते ही, महात्मा बुद्ध ने समस्त भिक्षुसंघ को सभामंडप में बुलाया और उन्हीं सात गुणों को कुछ आवश्यक परिवर्तन के साथ दोहराया— (१) जब तक भिक्षु लोग पूरी-पूरी और जल्दी-जल्दी सभाएं करते हैं, (२) जब तक ये लोग एकमत होकर कर्तव्य पालन करते हैं, (३) जब तक भिक्षु लोग कोई ऐसी मर्यादा नहीं बनाते जिसके सम्बन्ध में अभी तक व्यवस्था नहीं दी गयी है, अथवा वे किसी निश्चित मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते और संघ के नियमों का पालन करते हैं, (४) जब तक भिक्षु लोग सब वृद्धों, पितरों और नेताओं की प्रतिष्ठा और सहायता करते हैं तथा उनकी बातों को सुनना अपना कर्तव्य समझते हैं, (५) जब तक भिक्षु लोग प्रलोभन के चक्कर में नहीं आते, (६) जब तक वे एकांतवास में सुख मानते हैं और (७) जब तक भिक्षु लोग संयम में रहते हैं, तब तक कभी यह नहीं समझना चाहिए कि भिक्षुओं का पतन होगा।[1]

उपर्युक्त सातों नियमों को महात्मा बुद्ध ने राजनीतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के संघों की उन्नति और कल्याण का मार्ग बताया; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि धार्मिक संघों का संगठन राजनीतिक संघों के आधार पर ही किया गया था। उपर्युक्त नियम तो प्रत्येक प्रगतिशील समाज के पालन करने योग्य हैं और संघ की शक्ति को बनाये रखने वाले हैं, चाहे संघ राजनीतिक हो, आर्थिक हो अथवा धार्मिक हो। डाक्टर बेनीप्रसाद ने डा० जायसवाल के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए दो कारण दिये हैं— (१) उपलब्ध बौद्ध साहित्य बहुत समय बाद का लिखा हुआ मिलता है और (२) बौद्ध और जैन साहित्य में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता कि जिससे राजनीतिक संघों और बौद्ध संघों का सादृश्य हो सके। चुल्लवग्ग में स्वयं महात्मा बुद्ध को संघ के नियमों का निर्माण करते हुए दिखाया गया है, राजनीतिक संघ में यह सम्भव नहीं।[2] सम्भव है कि उपलब्ध बौद्ध साहित्य में जो बातें मिलती हैं, उनमें और वास्तविकता में अन्तर हो। परन्तु हमारे विचार से यह अन्तर इतना नहीं हो सकता है कि बौद्ध संघ के संगठन का कोई विपरीत रूप प्रकट कर सके। इसलिए हमारे विचार से प्रस्तुत प्रश्न पर इसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु डा० बेनीप्रसाद के दूसरे कारण से हम सहमत हैं।

एक बात ध्यान देने की और है कि डा० जायसवाल गण और संघ को पर्याय मानते हैं,[3] साथ ही वे इस बात से भी सहमत हैं कि वर्ग और गण पर्याय

---

१. हेरिस डेविड्स, डायलाग्ज आफ दि बुद्ध, २–७९ से ८५ तक

२. दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १५८

३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ २३, २८

शब्द हैं।[1] इस प्रकार वर्ग और संघ भी पर्याय हो जाते हैं। परन्तु बौद्ध संघ में एकाधिक वर्ग मिलकर संघ बनाते हैं, इसलिए वर्ग और संघ पर्याय नहीं हो सकते। अतः इसके अनुसार राजनीतिक गण और बौद्धसंघ में सादृश्य होता ही नहीं।

जैसा कि हम पिछले अध्याय में सिद्ध कर चुके हैं, महात्मा बुद्ध के समय में दो प्रकार के संघ वर्तमान थे—आर्थिक और राजनीतिक। एकाधिक गणराज्य मिलकर राजनीतिक संघ बनाते थे और एकाधिक वर्ग मिलकर आर्थिक संघ बनाते थे। बौद्ध संघ भी आर्थिक संघ के समान ही एकाधिक वर्गों के मिलने से बनते थे। पाणिनि के पञ्चकवर्ग, दशकवर्ग (सूत्र ५–१–६०) के समान ही बौद्ध संघ में पञ्चवग्ग, दशवग्ग, होते थे (महावग्ग १–३१–२) और पाणिनि के पञ्चकसंघ, अष्टकसंघ (सूत्र ५-१-५८) के समान ही बौद्ध संघों में पञ्चवर्ग भिक्षुसंघ, दशवर्ग भिक्षुसंघ आदि होते थे (महावग्ग ९–४–१)। बौद्ध साहित्य में संघ के पहले भिक्षु शब्द (भिक्षुसंघ) लिखने से भी यह संकेत मिलता है कि भिक्षुओं के अतिरिक्त, वर्गों से बनने वाले अन्य संघ भी थे। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बौद्ध संघों का संगठन राजनीतिक संघ के आधार पर न होकर, आर्थिक संघ से बहुत कुछ सादृश्य रखता था।

बौद्ध साहित्य में बौद्ध संघों के विवरण में बहुधा गण-बन्धन, गणपूरक, गणमग्ग शब्द मिलते हैं जिससे यह शंका होती है कि बौद्ध संघ का संगठन गणराज्यों के आधार पर किया गया था। परन्तु हम देख चुके हैं कि गण शब्द राजनीतिक संस्थाओं के संबंध में प्रयुक्त होने से पहले आर्थिक संस्थाओं के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता था। रामायण-काल में गण नामक आर्थिक संस्थाओं का संकेत मिलता है जिसके प्रमुख को गणवल्लभ कहते थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी गण शब्द विश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु राज्य के सम्बन्ध में गण शब्द का प्रयोग महाभारत से पहले नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि आर्थिक क्षेत्र में गण नामक संस्थाएं पहले बन चुकी थीं। अतः सम्भव है कि गण-बन्धन, गणपूरक आदि शब्द गण नामक आर्थिक संस्थाओं के समय में बन चुके हों और इनका प्रयोग आर्थिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली में होता हो। पाणिनिसूत्र ५–२–५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से भी इसकी सम्भावना प्रतीत होती है। बौद्ध काल के गणराज्यों के सम्बन्ध में गणबन्धन, गणपूरक आदि शब्द मिलते भी नहीं। अतः इन शब्दों के बौद्धसंघ के विवरण में प्रयुक्त होने से भी इस बात की सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि बौद्ध संघ का संगठन तत्कालीन आर्थिक संस्थाओं के आधार पर ही हुआ होगा।

---

१. हिन्दू पालिटी में उद्धृत वीरमित्रोदय, पृष्ठ १२

(आ) जनतंत्र राज्य

बौद्ध साहित्य में जिन जनतंत्र राज्यों का उल्लेख है, वे सभी वर्तमान उत्तरप्रदेश के पूर्व भाग और बिहार के उत्तर भाग की सीमा में थे, वे बहुत छोटे-छोटे राज्य थे और कुछ तो इतने छोटे थे कि वर्तमान एक या दो तहसीलों के बराबर क्षेत्र रखते थे। बौद्ध साहित्य मे इनमें से कुछ राज्यों की सभाओं और सभासदों का वर्णन मिलता है, परन्तु उनका निर्वाचन किस प्रकार होता था, इस बात का कहीं उल्लेख नहीं। इसलिए इस विषय की खोज करना आवश्यक प्रतीत होता है।

जातक ४–१४८ में एक वाक्य है—'वैशाली नगरे गणराज कुलानं अभिषेक मंगल पोक्खरणी।' इस वाक्य से दो बातें विदित होती हैं, प्रथम यह कि लिच्छवियों का राज्य गणराज्य कहलाता था, दूसरे यह कि गण राज्य-सभा के सभासद कुलों के अभिषिक्त व्यक्ति होते थे।

गणराज्य शब्द से प्रतीत होता है कि राज्य का संगठन गणबन्धन के अनुसार किया जाता था। जातक १–४२२ में उल्लेख है कि बौद्ध भिक्षुओं का स्वागत कभी तीन-चार व्यक्तियों ने मिलकर किया, कभी गणबन्धन द्वारा एकत्र होकर किया, कभी मोहल्ले भर के व्यक्तियों ने सभा के रूप में एकत्र होकर किया और कभी सारे नगर के व्यक्तियों ने छंदक के रूप में एकत्र होकर किया। इस वर्णन से विदित होता है कि गण-बन्धन के रूप में एकत्र होना, सभा और छंदक के रूप में एकत्र होने से भिन्न था। जातक २–४५ में गणबन्धन की व्याख्या की गयी है कि 'गणबन्धनेन बहु एकतो हुत्वा', बहुत से मनुष्य अपने-अपने वर्गों में पृथक्-पृथक् एकत्र हों। अतः इतना स्पष्ट हो जाता है कि गणराज्य में जनता पहले कुलों में विभक्त की जाती थी और फिर प्रत्येक कुल का एक प्रतिनिधि राज्यसभा का सभासद् होता था।

राकहिल ने लिखा है कि जब शाक्यों की राजधानी पर कोसल के राजा ने घेरा डाला और उनको आत्मसमर्पण करने की सूचना दी तब शाक्यों ने इस विषय पर अपनी सभा में विचार किया। सर्वसम्मत निर्णय न होने के कारण मत एकत्र किये गये और बहुमत से जो निर्णय हुआ, वह कार्यान्वित किया गया।[1] इस घटना से विदित होता है कि किसी विषय पर सर्वसम्मत निर्णय के अभाव में मत लिये जाते थे और बहुमत का निर्णय स्वीकृत होता था।

लिच्छवि गणराज्य में सेनापति के निर्वाचन के प्रकार मिलते हैं। सेनापति खण्ड की मृत्यु के बाद सेनापति सिंह की नियुक्ति राज्यसभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचन के आधार पर हुई थी। अंगुत्तरनिकाय ३–७६ में उल्लेख है कि बुद्ध ने लिच्छवियों के पुत्रों

---

१. राकहिल, दि लाइफ आफ दि बुद्ध, पृष्ठ ११८–११९

को उपदेश देते हुए कहा था कि कुलपुत्त (कुलपुत्र) उन्नति करके अभिषिक्त क्षत्रियों का राजा, वैतनिक राष्ट्रिक, सेनापति, ग्रामगामणिक अथवा पूगग्रामणिक बन सकता है, अथवा कुल के शासकों का प्रधान बन सकता है।[1] यद्यपि इन पदों में से केवल सेनापति के निर्वाचन का उपर्युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है, तथापि परोक्ष प्रमाणों से यह अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से अधिकांश पदों पर निर्वाचन द्वारा ही नियुक्ति होती थी। राज्यसभा के कार्य बहुमत से होते थे, यह बात शाक्यों की उपर्युक्त घटना से विदित होती है, जब कि उन्होंने कोसलनरेश के संदेश पर आत्मसमर्पण का निर्णय किया था। पूग के कार्य भी बहुमत से होते थे यह बात पाणिनिसूत्र ५–२–५२ 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से विदित होती है। नारद १–७ में कुलों की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि कुल का शासन अथवा व्यवस्था कुछ व्यक्तियों के हाथ में होती थी; 'कुलानि कतिचित्पुरुषगृहीतानि'। यह अनुमान किया जा सकता है कि कुल में ये शासक गृहपति ही होते होंगे, क्योंकि अनेक कुटुम्बों (गृहों) के मिलने से कुल बनता था। सामान्यतः यह धारणा है कि कुलपति का पद कुल के वयोवृद्ध को ही मिलता था, परन्तु ललितविस्तर अध्याय ३ में लिखा है कि लिच्छवियों की सभा में उच्च-नीच वृद्ध-ज्येष्ठ का कोई विचार नहीं था। इससे स्पष्ट है कि उसमें युवक और वृद्ध सभी अवस्थाओं के व्यक्ति सभासद थे। इसलिए योग्य होने पर कम अवस्था का व्यक्ति भी कुलपति का पद ग्रहण कर सकता था। अतः यह पद भी निर्वाचन द्वारा पूरित होता होगा।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि गणराज्य के निर्वाचन का बौद्ध साहित्य में उल्लेख नहीं, तथापि परोक्ष प्रमाणों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि गृहपतियों द्वारा कुलपति का निर्वाचन होता था और ये कुलपति राज्यसभा के सदस्य होते थे। इन सदस्यों द्वारा सेनापति और राज्य के अध्यक्ष का निर्वाचन होता था।

डा० के० पी० जायसवाल ने राजा के निर्वाचन के सम्बन्ध में दो परोक्ष प्रमाण दिये हैं। जातक १–३९९ की कथा को उद्धृत करते हुए उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि राजा का चुनाव सब मंत्रिगण और नागरिक एकत्रित होकर एकछन्द 'सर्वसम्मति' से करते थे। जातक २–३५२, ३५३ की कथा को उद्धृत करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि राजा का चुनाव होता था और चुनाव में प्रस्ताव को तीन बार दोहराने की प्रथा थी।[2] इस कथा में चिड़ियों का राजा चुनने के लिए एक चिड़िया ने उल्लू

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ९८
२. उपर्युक्त, पृष्ठ ९६

को राजा बनाने का प्रस्ताव तीन बार दोहराया । तीसरी बार में एक कौए ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और हंस को राजा बनाया ।

उपर्युक्त प्रमाणों की आलोचना करते हुए डा० यू० एन० घोषाल ने चार शंकाए उत्पन्न की हैं ।[१]

(१) जातक कथाएं बौद्ध काल से प्रथम शताब्दी ईसवी तक लिखी गयी हैं।

(२) नागर शब्द का अर्थ जायसवाल ने सारे नागरिक माना है, परन्तु यह शब्द पालि के नेगम शब्द से मिलता है जिसका अर्थ नगरसभा होता है ।

(३) छन्द शब्द का अर्थ प्रस्ताव अथवा इरादा होता है, परन्तु जायसवाल ने इसका अर्थ एक विशेष निर्वाचन-विधि माना है ।

(४) दूसरी कथा में निर्वाचन-विधि बौद्ध संघ की विधि के आधार पर लिखी गयी है, क्योंकि जातक कथाओं पर बौद्ध धर्म की छाप होना स्वाभाविक है। पुनश्च चिड़ियों की कथा में राजा से तात्पर्य जनतंत्र का राजा ही क्यों, राजतंत्र का राजा भी हो सकता है। हम केवल यही कह सकते हैं कि परोक्ष प्रमाणों के आधार पर केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्धकालीन गणराज्यों में राजा का निर्वाचन होता था ।

इन राज्यों की कार्यप्रणाली पर भी आधुनिक विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । डा० जायसवाल के मतानुसार बौद्ध संघ का संगठन और उसकी कार्यप्रणाली तत्कालीन जनतंत्र राज्यों में प्रचलित संगठन और कार्यप्रणाली के आधार पर थी । क्योंकि इनके बहुत से पारिभाषिक शब्दों को बिना उनकी व्याख्या किये ही ले लिया गया है, साथ ही यह प्रणाली इतनी वैधानिक है कि इसके बनने में शताब्दियों का अनुभव मिलना आवश्यक था ।[२]

डा० भण्डारकर ने अन्तिम कारण को मानते हुए लिखा है कि बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ के लिए जो कार्यविधि और जो अनेक पारिभाषिक शब्द अपनाये वे अवश्य ही पहले के अन्य राजनीतिक, स्थानीय अथवा आर्थिक संघों में प्रचलित होंगे ।[3]

डा० बी० सी० ला के मतानुसार बुद्ध ने धार्मिक संघ के संगठन की कार्य-प्रणाली में राजनीतिक संघ की जनतंत्रीय सभाओं की कार्यप्रणाली का अनुकरण किया है ।[४] श्री गोकुलदास ने भी यही बात अधिक दृढ़ता से कही है ।[५]

---

१. स्टडीज इन एंशियण्ट हिस्ट्री एण्ड कलचर, पृष्ठ ३७२, ३७३

२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ४०–४२, ८६–८७, ९५–९६

३. ए० एच० आई, पृष्ठ १८०, १८४

४. ट्राइब्स इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ३२४

५. डिमोक्रेसी इन अर्ली बुद्धिस्ट संघ—प्रिफेस ९

डा० आर० सी० मजूमदार के मतानुसार बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली को राजनीतिक संघ की कार्यप्रणाली मानना शंकास्पद है। उन्होंने लिखा है कि महावग्ग, विनयपिटक में संघ की कार्यप्रणाली का विस्तृत वर्णन किया गया है। यदि यह प्रणाली प्रचलित होती तो इतना विस्तृत वर्णन देने की आवश्यकता नहीं थी। महावग्ग के वर्णन से प्रतीत होता है कि बुद्ध अपने संघ की नयी प्रणाली बना रहे थे, राजनीतिक संघ की नकल नहीं कर रहे थे। फिर भी, मजूमदार मानते हैं कि वह प्रणाली जनतंत्रीय संस्था के लिए इतनी लाभदायक थी कि एक संस्था में अपनायी जाने पर, राजनीतिक संघ में भी इसकी बहुत सी बातों को अपना लेना स्वाभाविक था। मजूमदार के मत से बौद्ध संघ की पाँच बातें राजनीतिक संघ में अपना ली गयी थीं। इन बातों को उन्होंने तीन शीर्षकों में विभाजित किया है—

(१) सभा में प्रस्ताव रखने के निश्चित नियम बना दिये गये। प्रस्ताव साधारणतः तीन बार दोहराया जाता था और विरोध न होने पर स्वीकृत मान लिया जाता था। विरोध होने पर बहुमत लिया जाता था। मतगणना और गुप्त मत-प्रणाली पहले से ही प्रचलित थी।

(२) उलझी हुई समस्याएं समिति को सौंप दी जाती थीं।

(३) पूरक के नियम बने हुए थे। अनुपस्थित मताधिकारी के मत लेने के भी नियम थे। अवैधानिक ढंग पर बनी सभा के निर्णयों को वैधानिक मान्यता देने के नियम आदि बौद्ध संघ से अपनाये गये।[1]

डा० यू० एन० घोषाल के मतानुसार समकालीन गणराज्यों की सभा की कार्यप्रणाली बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली से सामंजस्य रखती होगी, परन्तु उसमें इतना अन्तर अवश्य होगा जितना एक राजनीतिक संस्था के लिए आवश्यक था। उनके विचार से गणराज्य की सभा में विषय को प्रस्ताव रूप में रखा जाता था, जो कि एक अथवा तीन बार दोहराया जाता होगा। विरोध के अभाव में उसको सर्वसम्मति से स्वीकृत माना जाता होगा और विरोध होने पर उसको विचारार्थ एक समिति के सुपुर्द किया जाता होगा। समिति के विचार कर लेने के बाद, वह सभा के सामने प्रस्तुत किया जाता होगा। मत लेने में अध्यक्ष का पर्याप्त हस्तक्षेप होता होगा। गणपूरक का नियम राजनीतिक संघ में भी होगा। परन्तु प्रस्ताव प्रस्तुत करने का कार्य सेनापति करता होगा। डा० घोषाल का अनुमान है कि राजनीतिक संघ में मतभेद मिटाने की प्रणाली बौद्ध संघ की प्रणाली से भिन्न थी।[2]

---

१. कार्पोरेट लाइफ, पृष्ठ २४० से २४५

२. स्टडीज इन एंशियण्ट हिस्ट्री एण्ड कलचर, पृष्ठ ३७९, ३८०

हम पहले लिख चुके हैं कि गणपूरक, गणबन्धन, गणमग्ग आदि शब्दों के आधार पर यह कहना कठिन है कि बौद्ध संघ की कार्यप्रणाली राजनीतिक संघों की कार्यप्रणाली पर आधारित थी, क्योंकि इन शब्दों की उत्पत्ति सम्भवतः गण नामक आर्थिक संस्थाओं में हुई होगी, जिनका अस्तित्व गणराज्यों से भी पहले मिलता है। परन्तु अन्य प्रमाणों के अभाव में, यह मानना अनुचित नहीं कि आवश्यक परिवर्तनों के साथ, लगभग इसी प्रकार की प्रणाली गणराज्यों में भी अपनायी जाती होगी, इसलिए बौद्ध संघ की कार्य-प्रणाली पर संक्षेप में दृष्टि डालना आवश्यक है।

बौद्ध संघ में कार्य विशेष के लिए सदस्यों की उपस्थिति की न्यूनतम संख्या निर्धारित होती थी। जितने सदस्यों की उपस्थिति नियमानुसार आवश्यक होती थी, यदि उतने से कम सदस्यों की उपस्थिति में ही कोई कार्य सम्पन्न किया जाता था, तो वह कार्य निरर्थक समझा जाता था, और व्यवहार में नहीं आ सकता था। यह नियम गणपूर्ति का नियम कहलाता था।[१]

सदस्यों में से एक पर इस बात का भार होता था कि वह न्यूनतम आवश्यक संख्या में सदस्यों को उपस्थित करने का प्रयास करे। उसको गणपूरक कहते थे।[२]

जिन सदस्यों को उपस्थित होने का अधिकार प्राप्त होता था, वे सब संघों में आसनों पर आकर बैठते थे। आसनों को ठीक तरह लगाने के लिए एक विशिष्ट अधिकारी नियुक्त किया जाता था जिसको आसनप्रज्ञापक कहते थे।[३]

जब किसी विषय पर विचार करना होता था, तब तत्सम्बन्धी प्रज्ञप्ति या सूचना निम्न प्रकार से संघ के सम्मुख उपस्थित की जाती थी; 'आदरणीय संघ मेरी बात सुने। यदि संघ को समय मिले तो संघ अमुक कार्य करे।' इस प्रज्ञप्ति के उपरांत ज्ञापक अपने विषय का प्रस्ताव, जिसको प्रतिज्ञा कहते थे, संघ के सामने उपस्थित करता था। यह बात कह दी जाती थी कि जो लोग इस प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) के पक्ष में हों वे मौन रहें और जिन्हें यह स्वीकृत न हो, वे बोलें। कुछ अवस्थाओं में प्रतिज्ञा तीन बार पढ़कर सुनायी जाती थी। तब यदि उपस्थित सभासद् मौन रहते थे तो मान लिया जाता था कि प्रतिज्ञा स्वीकृत हो गयी, और तदनुसार सम्बन्धित व्यक्तियों को उसकी सूचना दे दी जाती थी।[४]

एक बार ज्ञप्ति और उसके बाद प्रतिज्ञा उपस्थित करने को ज्ञप्ति द्वितीय

१. विनय, महावग्ग, ९–३–२
२. महावग्ग, ३–६–६
३. चुल्लवग्ग, १२–१–७
४. चुल्लवग्ग, ४–११–२

(यंति दितीय) कहते थे। जब उसी ज्ञप्ति को दोबारा उपस्थित करने की आवश्यकता होती थी तब ज्ञप्ति और प्रतिज्ञा, दोनों को दोबारा दुहराना आवश्यक था, इसको ज्ञप्ति चतुर्थ (यंति चतुत्थ) कहते थे। संघ के सामने प्रतिज्ञा उपस्थित करने को कम्मवाचा (कर्मवाक्) कहते थे। यदि केवल ज्ञप्ति उपस्थित की जाती थी और उसके बाद प्रतिज्ञा नहीं उपस्थित की जाती थी, अथवा प्रतिज्ञा उपस्थित कर दी जाती और उससे पहले ज्ञप्ति उपस्थित नहीं की जाती थी, तो सब कार्य निरर्थक समझा जाता था। इसके अतिरिक्त ज्ञप्ति और प्रतिज्ञा के क्रम को भी नहीं बदला जा सकता था। जिस कार्य के लिए ज्ञप्ति चतुर्थ की आवश्यकता हो, उसमें यदि ठीक उतनी ही बार ज्ञप्ति और प्रतिज्ञा उपस्थित नहीं की जाती थी, तो वह कार्य भी नियमविरुद्ध माना जाता था।[1]

जिन लोगों को सत्र में उपस्थित होने का अधिकार प्राप्त होता था और रुग्ण होने अथवा अन्य किसी गम्भीर कारण से वे उपस्थित नहीं हो सकते थे तो उन लोगों के मत या छन्द बहुत सावधानी के साथ एकत्र किये जाते थे। यदि यह कार्य नहीं होता था तो सारी कार्यवाही ठीक नहीं समझी जाती थी। परन्तु यदि उपस्थित सदस्य आपत्ति करते थे, तो अनुपस्थित सदस्यों के एकत्र किये हुए मत या छन्द अस्वीकृत कर दिये जाते थे। उन मतों अथवा छन्दों को गिनना या न गिनना तो उपस्थित सदस्यों की इच्छा पर ही निर्भर रहता था, परन्तु उनका नियमानुसार संग्रह कर लेना आवश्यक होता था, और सत्र में उपस्थित सदस्य यह आशा रखते थे कि इस प्रकार के मत अथवा छन्द एकत्रित कर लिये गये होंगे।[2]

किसी विषय में उपस्थित सदस्यों में मतभेद होने पर, निर्णय बहुमत से किया जाता था। इस कार्य के लिए मत-संग्रह शलाका द्वारा होता था, जिसको शलाका-ग्रहण कहते थे। शलाका-ग्राहक नियुक्त करने योग्य भिक्षु में पाँच गुण देखे जाते थे—

(१) वह किसी का पक्षपात करने वाला न हो।
(२) उसके मन में किसी प्रकार का द्वेष न हो।
(३) वह कोई मूर्खता का कार्य न करता हो।
(४) वह किसी से भय न करता हो।
(५) वह जानता हो कि कौन से छन्द लिये जायंगे और कौन से छन्द नहीं लिये जायंगे।

उस शलाका-ग्राहक की नियुक्ति भी नियमानुसार की जाती थी। पहले उस भिक्षु से प्रार्थना करके उसकी सहमति ली जाती थी, तब कोई सुयोग्य और विचारशील भिक्षु इस प्रस्ताव को संघ के सामने निम्नांकित शब्दों में प्रस्तुत करता था—'आदरणीय

---

१. महावग्ग, ९–३–४७
२. सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, १७–२६६

संघ श्रवण करे। यदि संघ को समय मिले तो संघ अमुक नाम के भिक्षु को शलाका-ग्राहक नियुक्त करे।'[1] मत या छन्द संग्रह करने के तीन उपाय थे—

(१) गुप्त रूप से छन्द संग्रह करने के उपाय को गूल्हकम्म कहते थे। जो भिक्षु शलाका ग्राहक होता था वह इस कार्य के लिए भिन्न-भिन्न रंगों की शलाकाएं बनवाता था। प्रत्येक मतदाता भिक्षु शलाका-ग्राहक के पास जाता था, तब शलाका-ग्राहक उससे इस प्रकार कहता था—'यह शलाका ऐसे व्यक्ति के लिए है, जिसकी अमुक सम्मति हो, और यह शलाका ऐसे व्यक्ति के लिए है जिसकी सम्मति अमुक हो। इनमें से जो शलाका तुम लेना चाहो ले लो।' जब वह अपने लिए एक शलाका चुन ले, तब वह कहे कि 'इसको किसी दूसरे व्यक्ति को मत दिखाना।'

(२) दूसरे उपाय को सकण्ण-जप्पकम् कहते थे। इसमें धीरे से कान में कह कर मत प्रकट किया जाता था।

(३) तीसरे उपाय को विवतकम् कहते थे, जिसमें प्रकट रूप से छन्द प्रदान किये जाते थे।[2]

कभी-कभी बहुत से निरर्थक व्याख्यानों से बचने के लिए, किसी विषय के निर्णय का अधिकार किसी नियुक्त की हुई समिति को सौंप दिया जाता था। यदि वह समिति कोई निर्णय नहीं कर पाती थी तो फिर उस बात के निर्णय करने का अधिकार संघ को ही रहता था।[3]

समिति की नियुक्ति करने के लिए, पहले योग्य भिक्षुओं से पूछ लिया जाता था कि वे समिति की सदस्यता के पद पर कार्य करने के लिए तैयार हैं या नहीं। उसके बाद कोई विचारशील भिक्षु संघ को इस प्रकार सम्बोधित किया करता था—'पूज्य संघ श्रवण करे। जिस समय इस विषय पर विचार हो रहा था, उस समय हम लोगों में अनर्गल भाषण होने लगे और किसी कथन का अभिप्राय स्पष्ट नहीं होता था। यदि पूज्य संघ को समय मिले तो वह अमुक भिक्षुओं की एक समिति नियुक्त कर दे। यही ज्ञप्ति (यंति) है।'[4]

---

१. चुल्लवग्ग, ४–९–५
एस० बी० आई, २०–२५
२. चुल्लवग्ग, ४–१४–२४
एस० बी० आई, २०–५४
३. चुल्लवग्ग, ४–४–१९
४. चुल्लवग्ग, ४–४–२०

यदि संघ की निर्धारित की हुई प्रणाली में से किसी प्रणाली के द्वारा एक बार किसी प्रश्न का निराकरण हो जाता था, तो वह प्रश्न पुनः नहीं उठाया जा सकता था।[1]

यदि कोई सदस्य वाद-विवाद के समय अपने आपको वश में नहीं रख सकता था और अपने भाषण में अनुचित शब्दों का प्रयोग करता था तो उसके सम्बन्ध में निन्दात्मक प्रस्ताव भी उपस्थित किया जा सकता था।[2]

इस बात के प्रमाण भी मिलते हैं कि संघ के अधिवेशनों में लेखक भी हुआ करते थे, जो कभी अपना स्थान नहीं छोड़ते थे, और प्रकार सब प्रकार की प्रतिज्ञाएं और निर्णय लिखा करते थे।[3]

संघ की उपर्युक्त कार्यप्रणाली के अनुसार एक उदाहरण देना उचित है, क्योंकि इससे उक्त कार्य-प्रणाली बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। निम्नांकित उदाहरण संघ के न्यायकार्य का है, जिसकी प्रतिज्ञा स्वयं बुद्ध ने संघ के सामने प्रस्तुत की थी।

"आदरणीय संघ श्रवण करे। इस उबाल भिक्खु का, एक अपराध के सम्बन्ध में संघ के समक्ष विचार हुआ था। इसने एक बार अपराध अस्वीकृत करने के उपरांत उसे स्वीकार किया है और स्वीकृत करने के उपरांत फिर उसने अस्वीकृत किया है। उलटे वह वादी पर अपराध लगाता है और जान-बूझकर झूठ बोलता है। यदि संघ को अवकाश मिले तो संघ भिक्खु उबाल के विरुद्ध तस्यपापियूपसिका कर्म स्वीकृत करे। यही ज्ञप्ति है।"

उपर्युक्त ज्ञप्ति के शब्दों को दोहराते हुए प्रतिज्ञा में निम्नांकित शब्दों को जोड़ दिया जाता है—'संघ उबाल भिक्खु के विरुद्ध तस्सपापियूपसिका कर्म स्वीकृत करता है। यही प्रतिज्ञा है। जो आदरणीय भिक्खु लोग उबाल भिक्खु के विरुद्ध तस्सपापियूपसिका कर्म स्वीकृत करने के पक्ष में हों, वे मौन रहें। जो उसके विपक्ष में हों वे बोलें।'

'फिर दूसरी बार मैं वही बात कहता हूँ। इस उबाल भिक्खु का एक अपराध के सम्बन्ध में—वे बोलें।'

'फिर तीसरी बार मैं वही बात कहता हूं। इस उबाल भिक्खु का एक अपराध के सम्बन्ध में—वे बोलें।'

इस प्रकार तीन बार प्रतिज्ञा को दोहराने पर सब सदस्य मौन रहे। तब निम्नांकित शब्दों के साथ वह प्रतिज्ञा स्वीकृत मान ली गयी।

---

१. चुल्लवग्ग ४–२४–२५

२. चुल्लवग्ग ४–१४–९

३. महागोविन्द सुत्त, दिग्घ निकाय १९–१४

'उबाल भिक्खु के विरुद्ध संघ ने तस्सपापियूपसिका कर्म स्वीकृत कर लिया। इसी लिए वह मौन है। इससे यही बात मैं समझता हूँ।'[1]

संघ में वादविवाद करने के भी नियम थे और उन नियमों के अनुसार ही वादविवाद किया जाता था। निम्नांकित शब्दों के साथ वादी अपना प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) रखता था—'यदि संघ को समय मिले तो मैं अमुक 'उपालि' से अमुक विषय (विनय) के सम्बन्ध में प्रश्न करूंगा।' इसका उत्तर सम्बन्धित व्यक्ति निम्न प्रकार देता था—'आदरणीय संघ श्रवण करे। यदि संघ को समय मिले तो अमुक (पूज्य महाकस्सप) के प्रश्न करने पर मैं उन्हें उत्तर दूंगा।'[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि संघ की कार्यप्रणाली बहुत उन्नत और विकसित रूप में थी। ज्ञप्ति, प्रतिज्ञा, गणपूर्त्ति, शलाका आदि पारिभाषिक शब्दों का बिना किसी व्याख्या के प्रयोग किया गया है, जिससे विदित होता है कि ये पारिभाषिक शब्द पहले से ही संस्थाओं में प्रचलित थे। साथ ही उच्च कोटि की नियमावली और सुगढ़ भाषा से विदित होता है कि इस सम्बन्ध में दीर्घकालीन अनुभव से काम लिया गया होगा।

बौद्ध साहित्य में उल्लिखित गणराज्यों का शासनकार्य तथा मुख्य न्यायकार्य सभा द्वारा होता था जिसमें वृद्ध और युवक समान रूप से भाग लेते थे।[3] इन गणराज्यों की ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थिति पर संक्षेप में पृथक्-पृथक् विचार करना उचित है।

(१) शाक्य

शाक्य गणराज्य वर्तमान गोरखपुर जिले के स्थान पर था। इसके पश्चिम में कोसल का राज्य था और मल्ल राज्य इसके दक्षिण-पूर्व में था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में थी।

शाक्य वंश संसार के इतिहास में अमर हो चुका है क्योंकि महात्मा बुद्ध का जन्म इसी वंश में हुआ था। पौराणिक आधार पर शाक्य राज्य की स्थापना महाराज इक्ष्वाकु के वंशजों ने की थी। हेरिस डेविड्स के अनुसार शाक्यों ने बुद्ध के जीवन काल में ही अपनी स्वतंत्रता खो दी थी और ये कोसल राज्य के अधीन हो गये थे।[4] परन्तु महापरिनिव्वान सुत्त के अनुसार महात्मा बुद्ध की अस्थियों के संग्रह के लिए

१. चुल्लवग्ग ४-११—२
२. चुल्लवग्ग ११-१-७
३. डा० बूलचन्द, लार्ड महावीर, पृष्ठ १३
४. हेरिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पेज ४

शाक्य और कोसल दोनों स्वतंत्र राष्ट्र की भांति अधिकार जमाते दिखाई देते हैं।[1]

(२) कोल्य

कोल्य राज्य की राजधानी रामग्राम थी। यह एक छोटा राज्य था जिसके सम्बन्ध में अधिक विवरण उपलब्ध नहीं।

(३) लिच्छवि

लिच्छवि राज्य अपने पड़ोसी गण राज्यों से बड़ा था। इसकी राजधानी वैशाली थी। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार लिच्छवियों ने एक बार विदेहों से मिलकर एक संघ बना लिया था और वे संबज्जी नाम से सम्बोधित होते थे। जैन-कल्पसूत्र २—१२८ के अनुसार एक बार लिच्छवियों ने इसी प्रकार का संयोग अपने पड़ोसी मल्लों के साथ कर लिया था और दोनों ने मिलकर एक संयुक्त सभा बना ली थी, जिसमें नौ सदस्य लिच्छवियों के और नौ मल्लों के थे। अट्ठकथा में उल्लेख है कि—वैशाली वाले एक युद्ध में मगध के सम्राट अजातशत्रु से हार गये थे। लिच्छवियों का राज्य शिशुनाग और मौर्य-साम्राज्य के उपरांत भी बचा रहा था और उन्होंने गुप्त-साम्राज्य की स्थापना में सहायता की थी।

(४) विदेह

विदेहों की राजधानी मिथिला थी जो कि वर्तमान दरभंगा जिले के स्थान पर थी। बौद्ध साहित्य में इनको वज्जि कहा गया है। रामायण में विदेहों का उल्लेख राज्य के रूप में मिलता है। परन्तु बौद्ध साहित्य में इनको गणराज्य के रूप में दिखाया गया है। पतंजलि ने भी इनके प्रजातंत्र शासन के रूप का उल्लेख किया है। वज्जियों ने लिच्छवियों से मिलकर एक संघ बना लिया था। ये बहुत वीर लोग थे। बुद्ध के देहावसान के कुछ समय बाद ही मगध के राजा ने विदेहों की स्वतंत्रता का हरण कर लिया था। पाणिनि ने भी वृज्जि गणराज्य का उल्लेख किया है।

(५) मल्ल

लिच्छवियों के पड़ोस में ही मल्लों का विस्तृत राज्य था जो वर्तमान गोरखपुर जिले से पटना तक फैला हुआ था। यह दो भागों में विभक्त था, एक भाग की राजधानी कुशीनगर और दूसरे की पावा में थी। मल्लों ने एक समय लिच्छवियों से मिलकर एक संघ बना लिया था, परन्तु भवसाल जातक में इन दोनों वंशों के युद्ध का उल्लेख है।

बुद्ध के देहावसान का समाचार मल्लों को तब मिला जब वे अपनी सभा में

---

१. दिघ्घ निकाय २—१६७

उपस्थित थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक वे स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में थे। मौर्य साम्राज्य काल में उनका स्वतंत्र रूप समाप्त हो गया था।

(६) मौर्य

बौद्ध ग्रन्थों में मौर्य-राज्य गणराज्य के रूप में दिखाया गया है। इसकी राजधानी पिप्पलीवन थी। यह उस समय बहुत छोटा राज्य था। महावंश की व्याख्या के अनुसार मौर्य शब्द मोदिय अथवा मोर शब्द से बना है। मोदिय शब्द का अर्थ प्रसन्न मुद्रा में रहने वाला होता है, सुन्दर प्रदेश में रहने के कारण इनको मौर्य कहने लगे। दूसरे शब्द के अनुसार ये लोग ऐसे प्रदेश में रहते थे जिसमें मोरों की बहुलता थी।[1]

(७) भग्ग

बौद्ध काल में भग्ग भी एक छोटा सा गणराज्य था जिसकी राजधानी सुंसुमार पर्वत पर थी। महाभारत में इसको भर्ग कहा गया है। पाणिनि ने भी भर्ग का उल्लेख गणराज्यो की सूची में किया है। महाभारत सभापर्व ३०—१०, १४ के अनुसार ये लोग वत्सों की सीमा और दक्षिणी मल्लों के बीच में थे। जातक ३—१५७ में इनका उल्लेख मिलता है जिसमें इनको वत्सों के पास ही बताया गया है।

(इ) शाक्य-शासन

शाक्य शासन के सम्बन्ध में प्रोफेसर हेरिस डेविड्स ने जो कुछ लिखा था, उस पर कुछ विद्वानों ने मतभेद प्रकट किया है और लिच्छवियों के समान शाक्य राज्य का संगठन भी वर्तमान समय में तर्क-वितर्क का विषय बना हुआ है। प्रोफेसर हेरिस डेविड्स के अनुसार शासन-व्यवस्था और न्याय के कार्य शाक्यों की सभा द्वारा सम्पन्न होते थे, जिसके लिए छोटे-बड़े सभी समान रूप से कपिलवस्तु के संथागार में एकत्रित होते थे। उनका एक निर्वाचित सभापति होता था, उसका निर्वाचन कैसे और किस अवधि के लिए किया जाता था, यह अज्ञात है। यह प्रधान राजा कहलाता था, परन्तु, हेरिस डेविड्स के मतानुसार वह सर्वोच्च सत्ताधारी राजा न था, अपितु एक स्थान पर भद्दिय को राजा कहा गया है, जब कि दूसरे स्थान पर शुद्धोदन को। अन्य स्थान पर शुद्धोदन को साधारण व्यक्ति के समान लिखा गया है,[2] अतः हेरिस डेविड्स के अनुसार शाक्य राज्य कुलीन गणराज्य था जिसमें सर्वोच्च सत्ता शाक्य-

---

१. डा० बी० सी० ला—सम क्षत्रिय ट्राइब्स आफ एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २११—२१२

२. हेरिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया—पृष्ठ १९

कुलों की सभा में निहित थी और जिसका प्रधान निर्वाचित होता था।

डा० जायसवाल ने शाक्य-राज्य की सभा को शाक्य-कुलों की सभा न मानकर राज्य-सभा माना है, और शेष सब बातों में हेरिस डेविड्स से सहमति प्रकट की है।[१]

डा० भण्डारकर ने हेरिस डेविड्स के मत का खण्डन करते हुए, शाक्य राजा को वंशानुक्रमिक सर्वोच्च सत्ताधारी शासक माना है और इस प्रकार शाक्य राज्य को राजतंत्रात्मक बताया है।[२]

डा० मजूमदार ने डा० भण्डारकर के मत का खण्डन करते हुए जातकों से प्रमाणित किया है कि लिच्छवियों की भांति शाक्यों में भी अनेक राजा थे जो कि राज्यसभा के समासद थे और राज्य के छोटे-छोटे भूखण्डों के शासक भी थे।[3]

डा० अलटेकर के अनुसार शाक्य-राज्य गणराज्य था और भद्दिय सम्भवतः उसी प्रकार का राजा था जिस प्रकार लिच्छवि राज्य में अनेक राजा थे। उनके मतानुसार जातकों में शाक्यों के संथागार का उल्लेख मिलता है, परन्तु वंशानुक्रमिक राजतंत्रात्मक राजा होने का कोई संकेत नहीं मिलता।[४]

डा० घोषाल ने उपर्युक्त सब मतों पर विचार करते हुए लिखा है कि शाक्यों में स्थायी और वंशानुक्रमिक एक ही राजा होता था।[५] डा० घोषाल ने भद्दिय को शाक्य-राज्य का वंशानुक्रमिक राजा सिद्ध करने के लिए विनयपिटक का संदर्भ देते हुए बतलाया है कि भद्दिय को शाक्य राजा अनेक स्थानों पर कहा गया है, पुनश्च उसको शासन करते हुए भी लिखा गया है। संन्यास लेने के समय भद्दिय ने सात दिन का समय अपना राज्य पुत्रों तथा भाइयों को सौंपने के लिए मांगा था, और साथ ही संन्यास लेने के बाद वह अपने राज्यकाल के दिनों की चिन्ता और भय से विमुक्त होने के भाव प्रकट करता है।[६]

हम उन बातों को स्पष्ट करना उचित समझते हैं, जिन पर डा० घोषाल ने उपर्युक्त मत बनाते समय ध्यान नहीं दिया। मूल सर्वास्तिवाद शाखा के विनय में एक घटना उल्लिखित है कि जब कोसलनरेश ने कपिलवस्तु पर घेरा डालकर उनको आत्मसमर्पण का सन्देश भेजा तब शाक्यों ने कहा कि हम सबको एकत्रित होकर विचार

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ४४
२. ए० एच० आई०, पृष्ठ १६१–६२
३. कार्पोरेट लाइफ, पृष्ठ २३५–२३८
४. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११२
५. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर, पृष्ठ ३९७
६. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर, पृष्ठ ३९७

करना चाहिए कि हम नगर के द्वार खोलें या नहीं। जब वे सभा में एकत्र हुए तब कुछ शाक्यों ने कहा—द्वार खोल दो। कुछ ने इसके विरुद्ध मत प्रकट किया, तब कुछ ने कहा कि इस विषय पर मतभेद है, इसलिए बहुमत का पता लगाना चाहिए। अतः उन्होंने मत लिये और बहुमत द्वार खोलने के पक्ष में रहा।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि शाक्यराज्य में राज्य सम्बन्धी कार्य सर्वसम्मति अथवा बहुमत से होते थे। यदि वहां पर राजतंत्रात्मक राज्य होता, तो कार्य करने की उपर्युक्त प्रणाली न होती, अपितु उस स्थिति में राजा अपने मंत्रियों से परामर्श करके निर्णय कर लेता। इससे सिद्ध होता है कि शाक्यराज्य जनतंत्रात्मक ही था और उसका राजा (राज्य सभा का प्रधान) भी निर्वाचित होता था जिसको सभा का निर्णय मानना अनिवार्य था।

जातक ४६५ की जो कथा डा० घोषाल ने दी है उससे उचित निष्कर्ष नहीं निकाला गया। कोसलनरेश प्रसेनजित ने शाक्यवंश की कन्या से विवाह करने का प्रस्ताव भेजा। इस पर शाक्य लोग एकत्रित हुए और विचार किया कि शाक्यवंश की कन्या को देना उनके कुलधर्म के विपरीत होगा। तब एक महानामन ने अपनी दासी से उत्पन्न कन्या को शाक्यवंशीय कन्या के बहाने भेज दिया।[2]

उपर्युक्त कथा से सिद्ध होता है कि शाक्यों में राजा का पद उच्च नहीं था, अपितु सभी शाक्यवंशी समान सम्मान के अधिकारी थे। यदि राजा का पद अन्य शाक्यवंशियों से उच्च होता तो कोसलनरेश शाक्यनरेश की कन्या से विवाह करने का प्रस्ताव भेजता, न कि शाक्यवंश के किसी भी सामन्त (राजानः) की कन्या से। दूसरी बात इस कथा से यह सिद्ध होती है कि शाक्यवंशी सभी सामन्त अपनी मर्यादा को समान रूप से रखनेवाले थे, इसी लिए कोई भी अपने वंश की कन्या देने के लिए सहमत न हुआ। तीसरे, कोसलनरेश महानामन की कन्या लेकर सन्तुष्ट हो गया, इससे यह सिद्ध होता है कि कोसलनरेश शाक्यवंश के सभी सामन्तों (राजानो) को समान समझता था, नहीं तो एक राजा किसी अन्य राज्य के साधारण सामन्त की पुत्री से विवाह करने में कोई गर्व नहीं समझता।

डा० घोषाल का यह प्रमाण कि भद्दिय को अनेक स्थानों पर राजा कहा गया है और शासन करते हुए लिखा गया है, केवल इतना सिद्ध करता है कि भद्दिय किसी अवधि तक शाक्यराज्य के प्रधान पद पर रहा था। संन्यास लेने से पहले सात दिन का समय भद्दिय ने अपने राज्य को अपने पुत्रों और भाइयों को सौंपने के लिए मांगा था[3]

---

१. राकहिल, दि लाइफ आफ दि बुद्ध—पृष्ठ ११८–११९
२. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कल्चर, पृष्ठ ३९३
३. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर—पृष्ठ ३९६

—इस कथन से यह सिद्ध नहीं होता कि राज्य से तात्पर्य शाक्यों के समस्त राज्य से था। लिच्छवियों के समान ही, शाक्यों में भी अनेक राजाओं और उपराजाओं का उल्लेख मिलता है।[1] ललितविस्तर से यह भी सिद्ध होता है कि ये राजानः नामक सामन्त अपने को राजा ही मानते थे।[2] अतः अपनी जमींदारी को वे राज्य ही कहते होंगे। एक सामन्त को संन्यास लेने से पहले अपनी जमींदारी का सारा काम पुत्रों व भाइयों को सोंपने के लिए एक सप्ताह का समय अधिक नहीं है। इसलिए शाक्य-राज्य को राजतंत्रात्मक राज्य मानने के डा० घोषाल द्वारा प्रस्तुत प्रमाण अपर्याप्त हैं, विशेषतः उस अवस्था में जब कि हम अनेक राजाओं, राजकुमारों और राजकुमारियों का उल्लेख पाते हैं और राज्य का कार्य राज्यसभा के बहुमत से होता हुआ पाते हैं, तथा उन सब सामन्तों में समान सम्मान की भावना भी पाते हैं।

अतः हमारे विचार से यह स्पष्ट है कि शाक्यराज्य एक समन्तपर्यायी गणराज्य था, जिसमें राज्य की भूमि सामन्तों में बँटी हुई थी। वे सामन्त अपनी जमींदारी में बहुत से अधिकार रखते थे और केन्द्रीय राज्यसभा के सभासद् होते थे। राज्य का प्रधान राजा कहलाता था जो कि निर्वाचित होता था।

शाक्य राज्य की राजधानी में एक संथागार था जहां पर शाक्य लोग एकत्र होकर सभा करते थे। दिघ्घनिकाय १–९१ में इस संथागार का वर्णन मिलता है कि जब अम्बष्ठ नामक ब्राह्मण उस सभा में गया तो छोटे-बड़े व्यक्ति सभा में बैठे हुए थे, परन्तु उनमें अतिथि-सत्कार की भावना और विनय का अभाव प्रतीत होता था।

शाक्य राज्य में ग्राम की अपनी सभाएं भी होती थीं जिनका अधिवेशन ग्राम के संथागार में होता था। इनमें स्थानीय विषयों पर विचार होता था। डा० अलटेकर के मतानुसार इनमें ग्राम के सभी परिवारों को प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त था।[3]

(ई) लिच्छवि का संगठन

लिच्छवि गणराज्य के संगठन पर आधुनिक विद्वानों में बहुत मतभेद पाया जाता है। यह मतभेद मुख्यतः बौद्ध साहित्य में उपलब्ध जातक १४९ के निम्नांकित गद्यांश पर है—

---

१. प्रिएम्बल टु जातक, नं० ५४७
प्रिएम्बल टु जातक, नं० ५३६

२. नीच-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता एकैक एवं मन्यते अहं राजा अहं राजेति न च कस्यचिच्छिष्यत्वमुपगच्छति। ललितविस्तर अ० ३

३. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२४

तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा वसन्तानं येव राजनाम् सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च राजानो होंति ततका येव उपराजानो ततका सेनापतिनो ततका भन्डागारिका ।

डा० जायसवाल ने उपर्युक्त गद्यांश का अर्थ यह किया है कि शासनाधिकार ७७०७ नागरिकों को प्राप्त था। वे प्रधान, उपप्रधान, सेनापति अथवा कोषाध्यक्ष बनते थे।[१] डा० जायसवाल ने यह अर्थ करने के लिए इस गद्यांश को निम्नांकित प्रकार से पढ़ा है—

तत्थ निच्चकालं रज्जं कारेत्वा बसंतानं येव राजनां सत्तसहस्सानि सत्तसतानि सत्त च, राजानो होंति ततका, ये व उपराजानो ततका, सेनापतिनो ततका ततका भंडागारिका।[२]

अतः इस पद का उपर्युक्त अर्थ करने के लिए डा० जायसवाल ने भंडागारिका शब्द के पहले एक और 'ततका' शब्द जोड़ दिया है येव शब्द को पहले येव मानकर दूसरी जगह ये व पृथक्-पृथक् कर दिया है।

डा० घोषाल ने जायसवाल जी के मत का खण्डन इस आधार पर किया है कि उन्होंने उक्त गद्यांश में अनेक परिवर्तन करके अर्थ को बदल दिया है, पुनश्च उन्होंने इसका तात्पर्य साधारण अर्थ से भिन्न लिया है।[3]

डा० मजूमदार ने उपर्युक्त गद्यांश का यह निष्कर्ष निकाला है कि लिच्छवि राज्य में अनेक छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित थे जब कि समस्त राज्य पर उन छोटे-छोटे राज्यों के प्रधानों की सभा शासन करती थी, जिसका प्रधान किसी निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता था।[४]

डा० भण्डारकर के अनुसार लिच्छवियों का एक संघ था जिसमें छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य सम्मिलित थे और उन्होंने अपने कुछ अधिकार संघ को दे रखे थे। उनके मतानुसार यह एक राष्ट्रमण्डल (कानफडरेशन) था।[५]

डा० यू० एन० घोषाल के अनुसार उपर्युक्त गद्यांश में ७७०७ संख्या सही अंक नहीं है। यदि इसको सही संख्या मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह लेना होगा कि ७७०७ कुल राज्यों के संस्थापकों के थे जो वैशाली में रहते थे। उनके मतानुसार यदि

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ४५
२. उपर्युक्त, पृष्ठ ४५ नोट
३. स्टडीज इन एंशियण्ट हिस्टरी एण्ड कलचर, पृष्ठ ३८३
४. डा० मजूमदार, एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १६४
५. डा० डी० आर० भण्डारकर, ए० एच० आई—पृष्ठ १५५–१५६

लिच्छवियों के पृथक्-पृथक् राज्य मान लिये जायें तो इनकी पृथक्-पृथक् सेना और कोष होगा। ऐसी स्थिति में संघ का बिना सेना और कोष के ही दण्डाधिकार होगा। इसके अतिरिक्त एक ही नगर में ७७०७ राजधानियां तथा संघ की सरकार होना भी असम्भव प्रतीत होता है । इसलिए डा० घोषाल यह शंका करते हैं कि सम्भवतः गद्यांश में ततका येव उपराजानो आदि शब्द किसी ने बाद में जोड़ दिये होंगे ।[1]

जातक १४९ के उपर्युक्त गद्यांश का साधारण अर्थ यह है कि वैशाली नगर में शासन करने के लिए सदैव ७७०७ राजानो रहते थे और इतने ही उपराजानो, सेनापति तथा भाण्डागारिक रहते थे। हम देख चुके हैं कि वैदिक काल में राजानः शब्द राज्य-सभा के सदस्यों के लिए प्रयुक्त होता था। महाभारत में भी राजानः शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहां पर भी राजानो शब्द लिच्छवि राज्यसभा के सदस्यों के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। परन्तु यहां पर राजानः की स्थिति में परिवर्तन यह है कि प्रत्येक राजानः के साथ एक उपराजानः, एक सेनापति और एक भाण्डागारिक लगा हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि प्रत्येक राजानः एक सामन्त था जिसके पास कुछ जमींदारी थी और उस ज़मींदारी के प्रबन्ध के लिए वह एक सेनापति तथा एक भाण्डागारिक रखता था। सेनापति अपने कुछ सिपाहियों के साथ ज़मींदारी की रक्षा करता था। राजपूताने के देशी राज्यों में सन् १९४७ से पहले बहुधा यह देखा गया था कि राज्य के सामन्त अपनी-अपनी ज़मींदारी में पुलिस का प्रबन्ध स्वयं करते थे। अतः यह सम्भव है कि इसी प्रकार तत्कालीन सामन्त भी अपनी ज़मींदारी में पुलिस व्यवस्था स्वयं करते थे और अपनी पुलिस के उच्च पदाधिकारी को सेनापति कहते थे, क्योंकि युद्धकाल में प्रत्येक सामन्त यथासम्भव सैनिक राज्य की रक्षा के लिए देता होगा। प्रत्येक सामन्त अपनी ज़मींदारी की आय एकत्रित करने के लिए एक भाण्डागारिक नामक पदाधिकारी रखता था, जैसा कि इस शब्द के अर्थ से प्रतीत होता है। प्रत्येक सामन्त अपने जीवन काल में ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देता था जिसको उपराजानो कहते थे।

इस प्रकार सारा राज्य सामन्तों में बंटा हुआ था और प्रत्येक सामन्त (राजानः) राज्यसभा का सदस्य था। यद्यपि उपर्युक्त जातक के गद्यांश के अनुसार व सब सामन्त (राजानः) ही थे परन्तु ललितविस्तर ३–२१ से विदित होता है कि वे अपने को राजा से कम नहीं समझते थे । जातक ४–१४८ में कहा गया है कि 'वैशाली नगरे गणराज कुलानं अभिसेक मंगल पोक्खरणी' । इससे स्पष्ट है कि लिच्छवि राज्य एक गणराज्य था जिसके सभासद् अपने कुलों के अभिषिक्त कुलपति होते थे। अतः हम उसको समन्तपर्यायी गणराज्य मानते हैं ।

---

१. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर, पृष्ठ ३८४

लिच्छवियों की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में हमको सेनापति के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। चीरवस्तु के अनुसार सेनापति खण्ड की मृत्यु के उपरान्त लिच्छवि गण वैशाली में नये सेनापति के निर्वाचन के लिए अपनी सभा में एकत्र हुए। कुछ सदस्यों ने सेनापति खण्ड के ज्येष्ठ पुत्र गोप का नाम प्रस्तावित किया। परन्तु कुछ ने खण्ड के छोटे पुत्र सिंह को अधिक योग्य बताया और तदनुसार सिंह को सेनापति निर्वाचित कर लिया गया।[१]

लिच्छविगण बहुमत का कितना सम्मान करते थे, इसका प्रमाण चीरवस्तु की एक अन्य कथा से मिलता है। उनमें यह प्रथा थी कि वैशाली नगर की सर्वसुन्दरी कन्या का विवाह नहीं किया जाता था, अपितु वह समस्त गण की उपभोग्य समझी जाती थी। महानामन की पुत्री आम्रपाली कन्या थी, परन्तु महानामन उसका विवाह किसी कुलीन युवक से करना चाहता था। इसके लिए महानामन ने गण से प्रार्थना की, परन्तु गण ने उपर्युक्त प्रथा के अनुसार उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया और महानामन को अपनी इच्छा के विरुद्ध, गण की इच्छा को मानने के लिए बाध्य होना पड़ा।[२] इस कथा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गण की सभा को राज्य के व्यक्तिगत जीवन में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार था और सभा का बहुमत मानने के लिए प्रत्येक सामन्त (राजानः) बाध्य था। अतः इनको स्वतंत्र राजा की स्थिति में मानना भूल है।

इस प्रकार हमको लिच्छवियों की राज्यसभा और सेनापति का विवरण मिलता है। राज्य की आज्ञाएं सेनापति और गण, दोनों के नामों से अंकित होती थीं।[3] इसलिए सेनापति को कार्यकारिणी का प्रधान भी माना जा सकता है, परन्तु सर्वोच्च सत्ता गण की सभा में ही निहित थी।

चीरवस्तु में सेनापति खण्ड की कथा के सम्बन्ध में वैशाली का वर्णन मिलता है कि वह नगर तीन स्कन्धों में विभाजित था। इन तीनों स्कन्धों में नागरिकों को जातियों की उच्चता और हीनता के आधार पर बसाया गया था। प्रथम स्कन्ध में रहनेवालों की पुत्रियाँ केवल प्रथम स्कन्ध में रहनेवाले व्यक्तियों के साथ ही विवाहित हो सकती थीं। दूसरे स्कन्ध में रहनेवालों की पुत्रियाँ प्रथम अथवा द्वितीय स्कन्ध, दोनों स्कन्धों के व्यक्तियों को दी जा सकती थीं, और तीसरे स्कन्ध में रहनेवाले व्यक्तियों की पुत्रियां तीनों स्कन्धों के व्यक्तियों को दी जा सकती थीं।[४] यह नियम स्मृतियों में

---

१. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर––पृष्ठ ३७१
२. उपर्युक्त पृष्ठ ३८६
३. उपर्युक्त पृष्ठ ३९०
४. उपर्युक्त पृष्ठ ३८९

उल्लिखित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों की कन्याओं के विवाह सम्बन्धी नियमों से पूर्णतः समानता रखता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैशाली नगर में उच्च और निम्न अनेक जातियों अथवा वर्णों के व्यक्ति बसे हुए थे। खण्ड पहले विदेह के राजा का मुख्य मंत्री था जो कि कुछ कारणों से राजा के शंकित हो जाने के कारण वैशाली भाग आया था। लिच्छवियों ने उसको उच्च वंश का मानते हुए प्रथम स्कन्ध में रखने की व्यवस्था की थी।

एक जैन-ग्रन्थ में उपर्युक्त तीनों स्कन्धों के नाम बम्मनगाम, खत्तियकुन्दगगामं और बनियगाम मिलते हैं।[१] जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तीनों वर्ण के व्यक्ति पृथक् पृथक् रहते थे। इसलिए यह मानना कि लिच्छवि गणराज्य में केवल क्षत्रिय वंशजों को ही प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त था, अनुचित प्रतीत होता है। सम्भवतः उसमें बहुमत लिच्छविवंशीय क्षत्रियों का अवश्य था।

(उ) विदेह-लिच्छवि संघ

सम्भवतः रक्षात्मक कारणों से विदेहों और लिच्छवियों ने मिलकर एक संघ बनाया था, जो कि संवृज्जि अथवा संवज्जि कहलाता था। इस संघ के विषय में बौद्ध साहित्य में कुछ वर्णन प्राप्त होता है। दिघ्घनिकाय, महापरिनिव्वान सुत्त में एक घटना का उल्लेख है कि वज्जियों पर आक्रमण करने के विचार से मगधनरेश ने अपना मंत्री गौतम बुद्ध के पास आज्ञा लेने के लिए भेजा। इस सम्बन्ध में गौतम बुद्ध ने संघ की उन्नति और सफलता के लिए सात गुणों का होना आवश्यक बताया, जो उनके मतानुसार तत्कालीन वज्जियों में पाये जाते थे। वे गुण निम्नांकित हैं—(१) जल्दी-जल्दी सभा करना और उनमें मताधिकार-प्राप्त व्यक्तियों का अधिकाधिक भाग लेना, (२) राजकार्य एकमत होकर सहयोग से करना, (३) विधियों का उल्लंघन न करना और समाजविरोधी विधियां न बनाना, (४) वयोवृद्ध व्यक्तियों का उचित सम्मान करना और उनके विचारों को उचित महत्व देना, (५) स्त्रियों और कन्याओं के साथ बलात्कार न करना, (६) अपने धर्म में दृढ़ निष्ठा रखना (७) और कर्तव्यपरायण होना।[२] इससे सिद्ध होता है कि वज्जि संघ की सभाएं जल्दी-जल्दी होती थीं और उनका कार्य सर्वसम्मति अथवा बहुमत से होता था। संघ को विधियाँ बनाने का भी अधिकार था। इस वर्णन से विदेह-लिच्छवि संघ फेडरेशन के रूप में प्रतीत होता है।

---

१. विवहार, ३–२०

२. हेरिस डेविड्स, डाइलाग आफ दि बुद्ध, २—७९ से ८५ तक

महापरिनिब्बान सुत्त की बुद्धघोष कृत व्याख्या में वज्जियों की न्यायव्यवस्था का एक विचित्र रूप अंकित किया गया है। इसके अनुसार क्रमानुसार सात न्यायालय थे—(१) विनिच्चयमहामात, (२) वोहारिक, (३) सुत्तधर, (४) अट्ठकुल, (५) सेनापति, (६) उपराजा और (७) राजा। प्रत्येक अपराधी पर क्रमानुसार सातों न्यायालयों में विचार किया जाता था और प्रत्येक न्यायालय को अधिकार था कि कथित अपराधी को निर्दोष पाने पर मुक्त कर दे, परन्तु अपराधी होने पर अपने से उच्चतर न्यायालय में अपराधी को विचारार्थ भेज दे। इस प्रकार अपराधी को दण्ड केवल सर्वोच्च न्यायालय अर्थात् राजा के द्वारा ही मिल सकता था।[1]

डा० जायसवाल ने उपर्युक्त विवरण पर मत प्रकट करते हुए कहा है कि उनमें नागरिक स्वतंत्रता की सर्वाधिक रक्षा की जाती थी।[2] डा० मजूमदार ने उक्त सम्बन्ध में लिखा है कि नागरिक सुरक्षा की इतनी अच्छी व्यवस्था संसार में बहुत कम देखने को मिलती है।[3] परन्तु डाक्टर यू० एन० घोषाल ने उपर्युक्त व्यवस्था में सन्देह प्रकट किया है कि इस न्यायव्यवस्था का इतना लम्बा क्रम होने के कारण इसके व्यवहार में शंका करना स्वाभाविक है। पुनश्च इस व्यवस्था से अपराधी के अनुचित रूप में छूट जाने की भी अधिक सम्भावना है। इस व्यवस्था से यह भाव भी निकलता है कि राजा अपने पदाधिकारियों की योग्यता और ईमानदारी पर बिल्कुल विश्वास नहीं रखता था। इसलिए उनके मतानुसार सम्भवतः बाद में लोगों ने इस न्यायालय की सूची में उन सब पदाधिकारियों के नाम जोड़ दिये जो उनको मालूम थे, क्योंकि बुद्धघोष ने वज्जिसंघ के लोप हो जाने के लगभग आठ शताब्दियों बाद यह व्याख्या लिखी थी।[4] हमारे विचार से सम्भवतः उच्च न्यायालय क्रमानुसार अपील के न्यायालय थे जिनमें अपराधी राजा तक से न्याय पाने का अधिकार रखता था। इस कथन से कि अपराधी उनमें क्रमानुसार ही विचारार्थ जा सकता था, यह प्रतीत होता है कि अपील करने की विशेष विधियां थीं और उन विधियों के अनुसार ही अपराधी को चलना पड़ता था।

(ऊ) संघ का विशेष रूप

हम देख चुके हैं कि महाभारत कालीन गणराज्य का संगठन और कार्यप्रणाली

---

१. सुमंगलविलासिनी २–५१९
एस० आई० एच० सी० पृष्ठ ३८६
२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ४६
३. एंशियण्ट इण्डिया—पृष्ठ १६३
४. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर—पृष्ठ ३८६—३८७

वैदिककालीन जनतंत्रीय राज्य से बहुत भिन्न हो गयी थी। परिवर्तन का क्रम महाभारत काल के बाद भी चलता रहा, और बौद्धकालीन गणराज्य का रूप महाभारतकालीन गणराज्य से बहुत परिवर्तित दिखाई देता है। यहां पर हम इस अन्तर पर विशेष रूप से विचार करना आवश्यक समझते हैं।

बौद्ध साहित्य में लिच्छविक राज्य को स्पष्टतः गणराज्य कहा गया है।[1] परन्तु कौटिल्य ने इसको लिच्छविक राजशब्दोपजीवी संघ कहा है,[2] अर्थात् लिच्छवि शब्द को लिच्छविक और गणराज्य को राजशब्दोपजीवी संघ कहा है। अवश्य ही कौटिल्य ने यह परिवर्तन किसी विशेष भाव को लेकर किया होगा। इसलिए उसके विशेष भाव को समझने का प्रयास करना आवश्यक है, क्योंकि उससे इन राज्यों का सही स्वरूप जानने में सहायता मिलना सम्भव है।

पाणिनि के सूत्र ४–३–१०० 'जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने' के सम्बन्ध में पंतजलि ने महाभाष्य, खण्ड २ पृष्ठ ३१४–१५ पर लिखा है कि मद्र का भक्त मद्रक कहलाएगा और जो वृजि के प्रति भक्ति रखेगा वह वृजिक कहलाएगा।[3] इससे प्रतीत होता है कि मद्र राज्य के प्रति भक्ति रखने वाला मद्रक, वृजि राज्य के प्रति भक्ति रखनेवाला व्यक्ति वृजिक और लिच्छवि राज्य के प्रति भक्ति रखनेवाला व्यक्ति लिच्छविक कहलाता था। इसलिए कौटिल्य के द्वारा कृत लिच्छविक, वृजिक, मल्लक, मद्रक आदि शब्दों के प्रयोग से पता चलता है कि उक्त राज्यों में राज्य के निवासियों का जाति अथवा वर्ण के आधार पर उल्लेख नहीं किया जाता था, अपितु उस समय राजनीतिक क्षेत्र में नागरिकता का नियम प्रयोग में आने लगा था। राज्य विशेष का नागरिक किसी भी जाति अथवा वर्ण का हो, और कहीं भी रहता हो, परन्तु वह जिस राज्य का नागरिक होता था उसी के नाम से सम्बोधित किया जाता था। अतः कौटिल्य के उपर्युक्त लिच्छविक आदि प्रयोग से सिद्ध होता है कि राज्यों में क्षत्रियेतर जातियों को भी नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे, इसलिए उनका उल्लेख जाति के आधार पर न करते हुए, नागरिकता के आधार पर किया गया था।

कल्पसूत्र २–१२८ में "नवमल्लई नवलेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस

१. वैशाली नगरे गणराज कुलानं अभिसेक मंगल पोक्खरणी। जातक ४–१४८
२. लिच्छविक-व्रजिक-मल्लक-मद्रक-कुकुरकुरुपञ्चालादयो राजशब्दोपजीविनः। अर्थशास्त्र ११–१–६
३. माद्रो भक्तिरस्य माद्रो वा भक्तिरस्य मद्रक इत्येव यथा स्यात्, वार्ज्यो भक्तिरस्य वार्ज्यो वा भक्तिरस्य इत्येव यथा स्यात्। महाभाष्य २—३१४, १५

विगगरायाणो" वाक्य उल्लिखित है। उसके व्याख्याकार ने लिखा है कि—ये राजानो मिलकर गण बनाते थे—'गणं मेलकं कुर्वन्तीति गणराजानो चेतकमहाराजस्य सामन्ता उच्यन्ते।' यहां पर व्याख्याकार ने गण के राजानो को सामन्त बताया है। ललितविस्तर में कहा गया है कि ये राजानो अपने को राजा ही मानते थे।[1] इससे विदित होता है कि इन सामन्तों को अपनी सामन्तता में पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। जातक १४९ के अनुसार लिच्छवि गणराज्य में ७७०७ राजानो थे और इतने ही उपराजानो, सेनापति और भांडागारिक थे। इससे प्रतीत होता है कि लिच्छवि राज्य ७७०७ सामन्तों में बँटा हुआ था और प्रत्येक सामन्त अपनी सामन्तता के आन्तरिक शासन-प्रबन्ध में पर्याप्त स्वतंत्रता रखता था। परन्तु वह गणराज्य की सभा का सदस्य मात्र था और उसको गणराज्य की सभा से ही अपनी सामन्तता के अधिकार प्राप्त थे इसलिए वह स्वतंत्र राजा नहीं था। सभा का कार्य बहुमत से होता था जिसका प्रमाण सेनापति सिंह की निर्वाचन द्वारा नियुक्ति तथा आम्रपाली की कथा से मिल जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि लिच्छविक राज्य ऐसा राज्य था जिसमें ७७०७ सामन्तों को राज्यसभा की सदस्यता और मताधिकार प्राप्त था और उन सामन्तों की सभा में शासन की सर्वोच्च सत्ता निहित थी। महाभारत काल के गणराज्य में प्रतिनिधित्व का अधिकार कुलों के आधार पर था। परन्तु बौद्धकाल के गणराज्य में यह अधिकार सामन्तता के आधार पर स्थित हो गया। इसलिए उसका संगठन सामन्तों के संघ के रूप में हो चुका था। यही कारण था कि बौद्ध साहित्य में उसको गणराज्य कहा गया है परन्तु कौटिल्य ने उसको राजशब्दोपजीवी संघ कहा है।

ऐतरेय ब्राह्मण में विभिन्न प्रकार के राज्यों के नाम उल्लिखित मिलते हैं, उनमें एक नाम समन्तपर्यायी राज्य दिया गया है।[2] हमारे विचार से उक्त समन्तपर्यायी राज्य इसी प्रकार के राज्य को कहते थे, जिसको आधुनिक भाषा में सामन्ततंत्रीय गणराज्य कह सकते हैं।

यह अन्तर बौद्ध साहित्य में उल्लिखित एक घटना से और भी स्पष्ट हो जाता है। शाक्यों और कोल्यों के किसानों और नौकरों में रोहिणी नदी से जल लेने पर झगड़ा हो गया। उन किसानों और नौकरों ने अपने-अपने राज्य के पदाधिकारियों को इस घटना की सूचना दी, जिन्होंने अपने राजाओं को सूचित किया। तब इन राजाओं

---

१. नोच्च-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता एकैक एवं मन्यते अहं राजा अहं राजेति।
ललितविस्तर अ० ३

२. स्वस्ति साम्राज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यम् आधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्ताद्—ऐतरेय ब्राह्मण

ने अपनी राज्यसभा में इस विषय पर विचार कर युद्ध करने का निर्णय किया। इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि राजाओं के अतिरिक्त राज्य में ऐसे भी परिवार थे जिनको राज्य-सभा में प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त नहीं था।

उपर्युक्त घटना की तुलना महाभारत, आदिपर्व अध्याय २१९ में उल्लिखित सुभद्राहरण की घटना से करने पर विदित होता है कि महाभारत की इस घटना में नौकरों ने सूचना सीधे सुधर्मा सभा के सभापाल को दी थी, जो कि अन्धक-वृष्णि संघ की राज्य सभा थी। सभापाल ने तुरन्त सभा को एकत्र करके कर्त्तव्य का निर्णय कर लिया था। यहां पर विदित होता है कि अन्धक-वृष्णि संघ के प्रत्येक नागरिक को सभापाल से निवेदन करने का अधिकार था, नागरिक और सभापाल के बीच में कोई रुकावट नहीं थी। परन्तु उपर्युक्त शाक्य-कोल्य झगड़े की घटना से स्पष्ट है कि गण राज्यसभा और किसान के बीच में सामन्तशाही का पद उत्पन्न हो चुका था।

मज्झिम निकाय १–४५७ में चतुमा गाम-सभा का उल्लेख है, जिससे विदित होता है कि ये राजा नामधारी सामन्त भी अपनी पृथक् सभाएं करते थे। इन लक्षणों को देखकर ही डा० भण्डारकर ने भी अपना मत प्रकट किया है कि लिच्छवि राज्य ७७०७ जनतंत्र राज्यों से मिलकर एक संघराज्य के रूप में बना था।[1] अतः कौटिल्य ने इसका संघ नाम इन्हीं आधारों पर दिया था।

लिच्छवि गणराज्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवरण जान लेने के पश्चात् अनुमान किया जा सकता है कि लगभग इसी प्रकार का संगठन बौद्धकालीन अन्य गणराज्यों का भी होगा। इस प्रकार इन राज्यों के स्वरूप से ऐसे संगठन का बोध होता है जिसको समन्तपर्यायी गणराज्य अथवा समन्तपर्यायी संघ कहा जा सकता है।

---

१. ए० एच० आई—पृष्ठ १५५–५६

अध्याय ९

जैन साहित्य में जनतंत्र

जैन धार्मिक साहित्य अधिकांशतः जातकों के ढंग पर ही लिखा गया है। उसमें सांसारिक विषयों की अपेक्षा पारलौकिक विषयों की ही मुख्यता है, इसलिए राजनीतिक विवरण बहुत कम मिलता है। तथापि शासन-सम्बन्धी विवरण यत्र-तत्र कुछ ग्रन्थों में है। धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त, जैन साहित्य में कुछ नीतिविषयक ग्रन्थ भी हैं जो कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के ढंग पर लिखे गये हैं। परन्तु उनमें भी मौलिक अंश बहुत कम है।

जैन साहित्य में शासन के विविध रूपों के नाम अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनका विवरण उनमें प्राप्त नहीं। उनमें अराजक राज्य का उल्लेख विशेष महत्व का है। राजनीतिक विवरण मुख्यतः राजतंत्र से सम्बन्धित है, परन्तु धार्मिक, आर्थिक और स्थानीय संस्थाओं को महत्व दिया गया है। बौद्ध साहित्य के समान जैन साहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि तत्कालीन सभी राज्यों में सामन्ततंत्र का विस्तार हो चुका था।

जैन धार्मिक संस्थाएं भी उन्हीं शब्दों का प्रयोग करती हैं, जो तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं में प्रचलित शब्द थे। उनके संगठन में गणधरों और कुलधरों की महत्वपूर्ण संस्थाएं थीं। जैन सूत्रों से विदित होता है कि कई व्यक्तियों ने नये गणों और कुलों की स्थापना की थी, जिनका नामकरण कभी तो उनके संस्थापक के नाम पर और कभी उनके स्थान के नाम पर होता था, यथा गोदास द्वारा स्थापित गोदासगण, उत्तर और वलिस्सह दोनों का मिलकर स्थापित किया हुआ उत्तर-वलिस्सह गण, रोहण द्वारा स्थापित किया हुआ उदेह गण, कर्मर्द्धि द्वारा स्थापित इन्द्रपूरक कुल।[1]

एक जैन ग्रन्थ अभिधान-राजेन्द्र में गण शब्द की व्याख्या करते हुए गण दो प्रकार के बताये गये हैं—सचित और अचित। इसके अनुसार अचित गण साधारण समूह को कहते हैं, जैसे कि वसुगण, और सचित गण मनुष्यों की संस्था को कहते हैं जिसमें

१. हार्नले, इण्डियन एंटीक्वेरी ११—२४६ और २०—३४७

चन अथवा विवेक पाया जाता है, जैसे कि मल्लों का गण अथवा पुर का गण।[1] यह ठीक है कि सचित गण किसी विशेष लक्ष्य को लेकर बनाया जाता है, परन्तु इसके भी दो भेद किये जा सकते हैं—राजनीतिक गण और अराजनीतिक गण। मानव-समाज के आर्थिक, सामाजिक अथवा धार्मिक गण अराजनीतिक गण कहलायेंगे, जब कि गण का पारिभाषिक अर्थ गणराज्य के भाव में होता है। इस प्रकार हम गण का तीन अर्थों में प्रयोग करते हैं–साधारण समूह, अराजनीतिक संस्था और गणराज्य। इनमें अन्तिम दो सचित गण हैं। वास्तव में जैन ग्रन्थकारों ने इस प्रकार के भेद करना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि जैन साहित्य में राजनीतिक दृष्टिकोण से कुछ भी नहीं लिखा गया। धार्मिक वर्णन में यदा कदा राजनीतिक विचारों और संगठनों का उल्लेख अनायास आ गया है। इन उल्लेखों में सबसे महत्व का उल्लेख आचारंग सूत्र में मिलता है जिसमें तत्कालीन समाज को ज्ञात विभिन्न प्रकार की शासनप्रणालियों का उल्लेख है। इस लेख में (१) अरायाणि, (२) गणरायाणि, (३) जुवरायाणि, (४) दोएरज्जाणि, (५) वेरज्जाणि और (६) विरुद्धरज्जाणि नाम मिलते हैं।[2] इससे विदित होता है कि उपर्युक्त प्रकार की शासन प्रणालियाँ एक दूसरे से कुछ भिन्नता अवश्य रखती होंगी। परन्तु इनका विवरण उपर्युक्त ग्रन्थ में सर्वथा अप्राप्य है, इसलिए इन पर विचार करने के लिए अन्य उपलब्ध ग्रन्थों से सामग्री एकत्रित करना अनिवार्य हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनका अस्तित्व तत्कालीन समाज में हो अथवा न हो, परन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से इनका महत्व अवश्य है, क्योंकि उक्त विभिन्न शासन-प्रणालियाँ तत्कालीन विद्वानों को ज्ञात अवश्य थीं।

उपर्युक्त शासनप्रणालियों में युवराज्य और द्वैराज्य राजतंत्रीय शासन थे। जब किसी राज्य में राजा का निधन हो जाने पर उत्तराधिकारी युवराज अल्पवयस्क होता था तो उसका शासन युवराज की माता राजमहिषी और उसके मंत्रियों द्वारा चलाया जाता था। इस प्रकार के शासन का संकेत खारवेल के हाथीगुम्फा वाले शिलालेख में मिलता है। जनतंत्रीय राज्य में इस प्रकार के शासन की कोई सम्भावना

---

१. सचितादि समूहो लोगम्भि गणो मल्लपूरादि।
कुप्पावपणम्भि लोउत्तर आसन्नगीयाणं ॥ अभिधान राजेन्द्र

२. से भिक्खू वा वा गामाणुगामम् दुइज्जमाणो अंतरासे अरायाणि वा गणरायाणि जुवरायाणि वा दोएरज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा सति लाढे विहोरे संथरमाणेहिम् जणवैहिम् नो विहार वत्तियै पवज्जेज्जा गमणै: केवली बूया: आयाणं एयम् ते णं वाला: अयं ते णे तं चेव जाव गमणै त्तो संजयाम् एव गामाणुगामम् दुहज्जेज्जा। —आचारंग सुत्त

नहीं होती, क्योंकि निर्वाचित प्रधान अल्पवयस्क नहीं हो सकता।

द्वैराज्य के सम्बन्ध में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है जिससे सिद्ध होता है कि कभी-कभी राज्य का संचालन एक साथ दो राजाओं द्वारा किया जाता था। ये दोनों राजा प्रायः आपस में निकट सम्बन्धी होते थे, यथा पिता-पुत्र अथवा भाई-भाई। परन्तु ऐसा होना सदैव अनिवार्य न था। हमको यूनानियों द्वारा उल्लिखित पटल राज्य में द्वैराज्य शासन मिलता है जहाँ पर दोनों राजा विभिन्न वंशो के बताये गये हैं। इन राजाओं के अधिकारों का क्षेत्र विभाजित होता था या नहीं, इसका संकेत प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता। महाभारत सभापर्व अध्याय ३१ में लिखा है कि अवन्ती के दो शासक विन्द और अनुविन्द मिलकर शासन करते थे। छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी में नेपाल में लिच्छवि और ठाकुरी दो विभिन्न वंशों के राजा मिलकर राज्य करते थे।[१] जातक ३–४४८ में एक कथा है, जिसमें राजा ने एक अन्य दीन पुरुष को भी अपने राज्य का राजा बना दिया और दीर्घ काल तक ये दोनों मिलकर एक ही राज्य पर शासन करते रहे। परन्तु दोनों राजा मिलकर किस प्रकार शासन चलाते थे, इसका स्पष्टीकरण इन ग्रन्थों से भी नहीं होता। भारत के आधुनिक काल के इतिहास में द्वैराज्य का एक उदाहरण मिलता है कि कुछ काल तक बंगाल में सिराजुद्दौला नवाब और ईस्ट इण्डिया कम्पनी दोनों का शासन एक साथ एक ही क्षेत्र पर चलता रहा, जिसमें दोनों के कार्यक्षेत्र विभाजित थे। कौटिल्य ने इस बात का संकेत किया है कि द्वैराज्य में कभी कभी दोनों राजाओं में मतभेद उत्पन्न हो जाता था, जिसको राज्य के मंत्री मिलकर दूर करते थे। परन्तु कौटिल्य की भाषा से विदित होता है कि ऐसा सदैव नहीं होता था। इसलिए अनुमान किया जाता है कि उनके कार्य-क्षेत्र विभाजित अवश्य रहते होंगे।

आचारंग सूत्र में उक्त शासन-प्रणालियों में अराज्य, गणराज्य, वैराज्य और विरुद्धराज्य जनतंत्रीय रूप में थे, जिन पर क्रमशः विचार किया जायगा। जैन सूत्रों में एक और शासन-प्रणाली का उल्लेख मिलता है जो भोग नाम से प्रसिद्ध है।[२] यह शासन-प्रणाली भी जनतंत्रीय प्रतीत होती है, अतः इस पर भी पृथक् विचार करना आवश्यक है।

(अ) आरजक

आचारंग सूत्र में अरायाणि शासन के उल्लेख से ऐसा विदित होता है कि

---

१. हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ ८२

२. उग्ग कुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइन्नकुलाणि वा खत्तियकुलाणि....
आचारंग सुत्त

ग्रन्थकार को ऐसे भूभागों का ज्ञान था जहां पर राज्यहीन व्यवस्था से काम चल रहा था। यह अवस्था आदि काल में राज्य की उत्पत्ति से पहले की थी, जैसा कि इसके शब्दार्थ से भी प्रतीत होता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है और परस्पर के सहयोग से ही उसने उन्नति की है, इसलिए यह मानना उचित है कि उसमें सहयोग की भावना आरम्भ से ही होगी। जब तक मनुष्य के मन में मोह, लोभ, काम, द्वेष आदि विकार नहीं बढ़े थे, तब तक मानव-विकास के साथ-साथ उसकी सहयोग की भावना भी बढ़ती गयी और वह इस अवस्था में परस्पर के सहयोग से कार्य करते हुए सुख-शान्ति से जीवन व्यतीत करता रहा। श्री एस० ए० डांगे के मतानुसार मनुष्य की यह अराजक अवस्था सामूहिक उत्पादन और सामूहिक भोग की अवस्था थी।

उपर्युक्त अवस्था में मनुष्य प्राकृतिक विधियों और प्रेरणाओं से ही कार्य करता था। समाज में इस समय तक वर्ग-भेद अथवा वर्ण-भेद उत्पन्न न हुआ था, और न धर्म अर्थात् मानवीय विधियों की ही उत्पत्ति हुई थी। सन्तुलित मनोभावों के कारण तत्कालीन मनुष्य उद्दण्ड नहीं था। इसी लिए बिना राज्य और बिना राजा के ही काम चलना सम्भव था।

अतः यह तो स्पष्ट है कि मानव के उत्थान में किसी समय अराज्य अवस्था भी रही थी, परन्तु एक बार राज्य की उत्पत्ति होने के बाद पुनः उपर्युक्त शान्तिमय अराज्य अवस्था का आना असम्भव प्रतीत होता है, क्योंकि मानव-हृदय में मनोविकारों की अप्राकृतिक वृद्धि उसका चारित्रिक पतन कर देती है, और एक बार पतन हो जाने पर पुनः सारे समाज का पूर्व उन्नत अवस्था प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव है। यह ठीक है कि मनुष्य गिरकर पुनः उन्नति भी कर सकता है, यह भी सम्भव है कि इस प्रकार उन्नति करने वालों की संख्या समाज में अधिक हो जाय, परन्तु फिर भी समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य बच रहेंगे जिनको दण्ड की आवश्यकता रहेगी, क्योंकि चारित्रिक उन्नति व्यक्तिगत रूप में होती है, उसके लिए मानसिक संयम अनिवार्य है।

इसलिए भारतीय मनीषियों ने बाद की अराजक अवस्था का चित्र भयंकर और मात्स्यन्याय से व्याप्त बताया है।[1] आचारंग सूत्र का ग्रन्थकार भी अराजक अवस्था

---

१. अराजकाः प्रजाः पार्थ विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥ शान्तिपर्व ६७–१७
नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥ वाल्मीकि० अयोध्या० ६७–३१

का चित्र भयप्रद समझता है, इसी लिए उसने साधुओं को ऐसे स्थान पर जाने का निषेध किया है। सम्भव है उस समय भी दुर्गम भूभागों में, मनुष्य अविकसित अवस्था में हों और उनमें आदिकालीन अराजक व्यवस्था हो, जिसमें बिना राज्य और प्रशासनिक विधियों के ही कार्य चलता हो।

डा० के० पी० जायसवाल ने अराजक राज्य में विधि को ही शासन माना है और समाज को सामाजिक अनुबन्ध द्वारा व्यवस्थित बताया है।[१] परन्तु हमारे विचार से यह अवस्था बाद की है जिसको हम वैराज्य शासन कह सकते हैं। अराजक अवस्था में मानवीय विधियों, विशेषत: प्रशासनिक विधियों की उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। उनकी व्यवस्था तो प्राकृतिक विधियों पर ही चल रही थी। श्री जायसवाल जी ने अराजक और वैराज्य अवस्था का अन्तर बताने का प्रयास नहीं किया, इसलिए उनके विचार इस सम्बन्ध में अस्पष्ट दिखाई देते हैं। यद्यपि वे अराजक और वैराज्य व्यवस्था को भिन्न मानते हैं परन्तु दोनों में बिना राजा के धर्म अर्थात् सामाजिक विधियों को ही शासक मानते हैं।

(आ) गणरायाणि

गण-राज्य के सम्बन्ध में हम अध्याय छः, सात और आठ में पर्याप्त विचार कर चुके हैं। आचारंग सूत्र में गणराज्य का जो उल्लेख मिलता है उसमें जैन साधु और साधुनियों के लिए वह शासन भयप्रद बताया गया है, इसलिए हमको यह देखना आवश्यक है कि उक्त ग्रन्थकार ने तत्कालीन गणराज्यों में ऐसा क्या दोष पाया था जिसके कारण उसने इनको भयप्रद माना है।

हम पिछले अध्याय में बौद्धकालीन गणराज्यों के संगठन पर विचार कर चुके हैं। वास्तव में वे सामन्तों के संघ थे। साधारण जनता को शासन में मताधिकार प्राप्त नहीं था, साथ ही इन सामन्तों को अपनी सामन्तता के आन्तरिक शासन में पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे, इस बात की पुष्टि ललितविस्तर ३–२१ के उल्लेख से होती है जिसमें कहा गया है कि उनमें से प्रत्येक अपने को राजा ही समझता था।[२] अंगुत्तर निकाय २—२४९ में कुलों के पतन के सम्भावित कारणों में एक कारण यह भी बताया गया है कि वे दूषित स्त्री अथवा पुरुष को कुल का शासक बना देते हैं।[3] इससे सिद्ध हो जाता है कि उक्त सामन्तों में दुष्ट स्वभाव के व्यक्ति भी होते थे और स्त्रियाँ भी।

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ८२

२. नीच-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठानुपालिता एकैक एवं मन्यते अहं राजा अहं राजेति।
ललितविस्तर ३–३१

३. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर—पृष्ठ ३९९

अतः इन सामन्तों में परस्पर द्वेष और कलह बहुधा पाया जाता होगा। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इस बात को अधिक स्पष्ट कर दिया है कि उनमें हीन कुल और उच्च कुल की भावना को जाग्रत करके, अथवा स्त्री गुप्तचरों और मादक द्रव्यों के द्वारा पारस्परिक फूट डालना सम्भव होता है।[1] अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन गणराज्यों की शासन-व्यवस्था अच्छी नहीं थी, वे वास्तव में सामन्तों के संघ थे और उनके सामन्तगण बहुधा पारस्परिक द्वेष और कलह में व्याप्त रहते थे। इसी लिए आचारंग सूत्र का ग्रन्थकार उस अवस्था को साधुओं के लिए भयप्रद मानता था क्योंकि उन साधुओं को गुप्तचर होने की शंका से आपत्ति में डाला जा सकता था।

(इ) वैराज्य

मानव-उत्थान की दूसरी अवस्था वैराज्य थी। वैराज्य का आदि स्वरूप अराजक अवस्था के बाद और राज्य की उत्पत्ति से पहले का है। अराजक अवस्था में रहते हुए, चारित्रिक पतन के कारण, जब कुछ मनुष्य उद्दण्ड हो गये तब समाज में दण्ड-व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई और तब समाज के कल्याण की भावना से विद्वानों ने दण्डनीति अथवा प्रशासनिक विधियों का निर्माण आरम्भ किया। अतः वैराज्य के आदि स्वरूप में राजा तो नहीं था परन्तु प्रशासनिक विधियाँ अवश्य थीं। इन विधियों का पालन करते हुए, परस्पर सहयोग की भावना से मनुष्य अपने समाज में व्यवस्था स्थापित रखते थे।

महाभारत शान्तिपर्व में वैराज्य अवस्था की ओर संकेत किया गया है। जब अराजक-अवस्था में बहते हुए मानवचरित्र का पतन हो गया तब उनमें मात्स्य न्याय फैल गया। बलवान् अपने से निर्बल पर अत्याचार करने लगा। तब सब मनुष्यों ने मिलकर उद्दण्डों को दण्ड देने के नियम बनाये, जिनको महाभारत में इस प्रकार लिखा है—'हम लोगों में जो भी निष्ठुर बोलने वाला, भयानक दण्ड देने वाला, परस्त्री गामी तथा पराये धन का अपहरण करने वाला होगा, उसको समाज से बहिष्कृत कर दिया जायेगा।' सभी वर्ण के लोगों में विश्वास करके सामान्यतः ऐसा नियम बनाकर उसका पालन करते हुए वे लोग सुख से रहने लगे।[2]

यह वैराज्य अवस्था का चित्र है। इसमें राजा की उत्पत्ति तो नहीं हुई थी, परन्तु प्रशासनिक विधियों की उत्पत्ति अवश्य हो गयी थी। हिन्दू समाज में यह अवस्था उस समय की है जब वर्ण-व्यवथा और धर्म की उत्पत्ति हो चुकी थी, तथा राजनीतिक क्षेत्र में सभा और समिति उत्पन्न हो चुकी थी।

---

१. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अधिकरण ११

२. महाभारत, शान्तिपर्व, ६७–१७, १८, १९

यह वह अवस्था थी जिसके सम्बन्ध में भीष्म ने कहा है कि सत्ययुग में न राजा था, न राज्य, न दण्ड देनेवाला था, न दण्ड, सब लोग धर्म से ही परस्पर सहायता करते हुए सुरक्षित थे।

ऐतरेय ब्राह्मण ८–१४ में वैराज्य शासन-प्रणाली का उल्लेख है। ग्रन्थकार ऐसी शासन-प्रणाली को हिमालय के पार के प्रदेश में उत्तर कुरु और उत्तर मद्र लोगों में बताता है।[१]

यजुर्वेद में ऐसी शासन-प्रणाली को दक्षिण दिशा में बताया गया है। उसमें कहा गया है कि 'दक्षिण दिशा में तू विराट् है, रुद्र अर्थात् शत्रुओं को रुलाने में समर्थ तेरे अधिपति हैं। इन्द्र शस्त्रास्त्रों का धारक है। पन्द्रह स्तोम (विभाग) तुझको पृथ्वी पर स्थिर रखें। कष्ट को दूर करने के लिए उपर्युक्त अधिकारियों की योजना राष्ट्र को स्थिर रखें। प्रतिष्ठा के लिए महान् बल हो। श्रेष्ठ मंत्रद्रष्टा लोग तुझको विद्वानों में ज्ञानप्रकाश से, विशाल सामर्थ्य से विस्तृत कर। विधर्ता (न्यायाधीश) और अधिपति (अध्यक्ष) मिलकर परस्पर सहयोग और सहमति से तुझको दुःखरहित सुखमय प्रदेश (स्वर्गलोक) में स्थापित करें और यजमान को भी स्थापित करें।'[२] हम पहले लिख चुके हैं कि वैदिक साहित्य की शैली परोक्षवादी है। इसलिए यजुर्वेद के उक्त मंत्र का सही अर्थ निकालना कठिन कार्य है। तथापि उससे इतना विदित होता है कि वैराज्य में सर्वोच्च शासक को अधिपति कहते थे। उसमें सेनापति को इन्द्र कहा गया है और शासन के पन्द्रह विभाग बताये गये हैं। उसका शासन विधर्ता और अधिपति परस्पर सहयोग से चलाते थे। इससे विदित होता है कि व्यवस्थापिका कार्यकारिणी से पृथक् रहती थी और दोनों विभागों में किसी प्रकार के सन्तुलन का नियम रहता होगा।

वैराज्य अवस्था का अस्तित्व बहुत बाद तक मिलता है। महाभारत भीष्मपर्व में चार ऐसे राज्यों का उल्लेख है जिनमें कोई राजा न था, दण्ड और दाण्डिक भी न था।

---

१. एतेन च त्र्यृचेनैतेन च यजुषैताभिश्च व्याहृतिभिर्वैराज्याय तस्मादेतस्यामुदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते। ऐतरेय ब्राह्मण ८–१४

२. विराडसि दक्षिणा दिगुदास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्ता पंचदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षम् ऋषयस्त्वा। प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु। यजुर्वेद १५–११

समस्त प्रजा धर्म से ही व्यवस्थित थी और सहयोग से सुरक्षित थी। इनके नाम मंग, मशक, मानस और मन्दग दिये गये हैं। चाहे इनका ऐतिहासिक अस्तित्व न हो, परन्तु इनसे ग्रन्थकार ने वैराज्य प्रणाली के शासन का चित्र उपस्थित कर दिया है। यहाँ पर ग्रन्थकार ने यह नहीं लिखा कि राज्य भी नहीं था। आदिकालीन सत्ययुग की वैराज्य अवस्था और उपर्युक्त चार राज्यों की वैराज्य अवस्था में केवल इतना ही अन्तर बताया गया है कि आदिकालीन अवस्था में राज्य की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, जब कि दूसरी अवस्था में राज्य थे। श्री जायसवाल जी ने भी वैराज्य का यही अर्थ किया है।[१]

कौटिल्य ने भी वैराज्य का उल्लेख किया है। वैराज्य और द्वैराज्य के गुणावगुणों पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए कौटिल्य लिखता है कि प्राचीन आचार्य द्वैराज्य की अपेक्षा वैराज्य को अधिक अच्छा मानते थे, क्योंकि वैराज्य में जनता के चित्त के अनुकूल शासन होने के कारण अधिक सुख-शान्ति की सम्भावना रहती है। परन्तु कौटिल्य अपना मत इसके विपरीत प्रकट करते हुए कहता है कि वैराज्य में भय बहुधा बाह्य विजेता का होता है जो उसको नष्ट करने का विचार रखता है। कौटिल्य इस बात का भी संकेत देता है कि वैराज्य की जनता से विजेता अपने अनुकूल रहने की आशा भी नहीं रखता।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वैराज्य में जनता बिना किसी को राजा बनाये, बहुमत अथवा सर्वसम्मति से व्यवस्था व शासन चलाती थी। हमारे विचार से वैराज्य प्रणाली उस समय तक ठीक थी, जब तक मनुष्य स्वाभाविक धर्म-भीरुता के कारण विधियों के उल्लंघन का साहस नहीं करता था, परन्तु मानव-हृदय में लोभ, मोह, स्वार्थ और द्वेष बढ़ जाने पर उसके अधिक कठोर नियंत्रण की आवश्यकता हो गयी, इसलिए वैराज्य प्रणाली से शासन चलना असम्भव हो गया।

आचारंग सूत्र के ग्रन्थकार ने इस शासनप्रणाली का उल्लेख किया है, जिससे विदित होता है कि उस समय भी सम्भवतः ऐसे राज्य होंगे जिनमें वैराज्य प्रणाली से शासन होता होगा। परन्तु ग्रन्थकार इसके सम्बन्ध में भी अच्छे विचार नहीं रखता।

(ई) विरुद्ध-रज्जाणि

विरुद्धरज्जाणि का अर्थ श्री के० पी० जायसवाल जी ने राजनीतिक दलों का राज्य माना है।[२] परन्तु राजनीतिक दल तो गणराज्य में भी होते हैं। हमारे विचार से विरुद्धरज्जणि से ग्रन्थकार का तात्पर्य संघराज्य से था जिसमें दो या अधिक गणराज्य सम्मिलित हो जाते हैं। ग्रन्थकार ने गणराज्य की व्यवस्था को भी अच्छा

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ७७–७८

२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ८४

नहीं माना है, इसलिए संघराज्य के विषय में भी उसका यही मत होना उचित प्रतीत होता है। बौद्ध काल में लिच्छवियों और विदेहों ने मिलकर संघ-राज्य बनाया था। महाभारत में अन्धक-वृष्णि संघ प्रसिद्ध संघ था। अतः हमारे विचार से विरुद्ध-रज्जाणि का इसी प्रकार के संघ-राज्य की ओर संकेत हो सकता है।

विरुद्धरज्जाणि शब्द का अर्थ यह भी लिया जा सकता है कि जब दो राज्य एक दूसरे के प्रति युद्ध अथवा विरोध की भावना रखते हों, ऐसी अवस्था में प्रत्येक राज्य साधु-संन्यासियों को विरुद्ध राज्य के गुप्तचर मानकर बन्दी बना सकता है। अतः वहां पर साधुओं का जाना भयप्रद है। परन्तु ग्रन्थकार के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि वह एकराज शासनप्रणाली (राजतंत्रात्मक राज्य) के अतिरिक्त सभी सम्भावित शासन-प्रणालियों का उल्लेख करना चाहता था, इसलिए उसका संकेत विरुद्ध-रज्जाणि से संघराज्य की ओर ही प्रतीत होता है।

(उ) भोज्य

महाभारत शान्तिपर्व ६८–५४ में कहा गया है कि राजा को भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृपति भी कहते हैं।[1] इससे विदित होता है कि वैराज्य और साम्राज्य के समान भोज्य भी एक विशेष प्रकार की शासन-प्रणाली थी। ऐतरेय ब्राह्मण ८–१४ में इस प्रकार की शासनप्रणाली को दक्षिण दिशा में बताया गया है।[2] डा० बी०सी० ला के अनुसार भोज और राष्ट्र देश जिनको मार्कण्डेय पुराण में विंध्याचल प्रदेश में कहा गया है, अशोक के शिलालेख ५ में उल्लिखित हैं, जिनको पश्चिमी भारत के प्रदेशों के उदाहरण-स्वरूप बताया गया है।[3] महाभारत में अन्धक-वृष्णि, यादव, कुकुर-भोज संघ में भी भोज राज्य सम्मिलित था। इससे विदित होता है कि भोज्य एक जनतंत्रीय शासन-प्रणाली थी। आचारंग सुत्त में एक वाक्य मिलता है जिसमें 'उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइन्नकुलाणि वा खत्तियकुलाणि' लिखा है।[4] हमारे विचार से उक्त भोगकुल, उपर्युक्त भोज-राज्य के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। अतः इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि भोज शासन-प्रणाली में क्या विशेषता थी और अन्य शासन-प्रणालियों में इससे क्या भिन्नता थी।

---

१. राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षात्रयो भूपतिर्नृपः।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति॥ शान्तिपर्व ६८–५४

२. दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भोज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते भोजेत्येनानभिषिक्तानचक्षते। ऐतरेय ब्राह्मण ८–१०

३. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म—पृष्ठ ७३

४. आचारंग सुत्त, २—१—२—२ जेकोबी संस्करण

डा० बी० सी० ला ने एक स्थान पर रट्ठिक पेतनिक और भोजक को राज्य के तीन विभिन्न उच्च पदाधिकारी माना है।[1] परन्तु खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में राष्ट्रिकों और भोजकों को विद्याधर के शासकों के रूप में वर्णित किया गया है। जम्बुदीवपन्नति के अनुसार विद्याधरों की १८ बस्तियाँ थीं जो विंध्याचल की श्रेणियों तक चली गयी थीं। जातकों में १६ भोजपुत्रों का उल्लेख है, जिनका सम्भवतः विंध्याचल के पार्श्व में इन विद्याधरों की बस्तियों की ओर संकेत है।[2] इससे विदित होता है कि मौर्य-काल में भोजक नाम का एक पदाधिकारी भी होता था, और इस नाम के कुछ स्वतंत्र राज्य भी थे।

अमरकोश के अनुसार भुज शब्द की व्याख्या 'भुज पालनाम्यवहारयोः' है जिसका अर्थ भोजन और पोषण की व्यवस्था करना होता है। इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि भोजक नामक पदाधिकारी का कार्य जनता की आजीविका का प्रबन्ध और देखभाल करना होता होगा, और भोज्य राज्य में शासनाधिकारियों के सीमित कर्तव्य होते होंगे, जिनमें मुख्य कर्तव्य जनता की आजीविका और आन्तरिक व्यवस्था का प्रबन्ध करना होगा। सम्भवतः इस सीमा के बाहर के सभी कार्यों को समस्त जनता एकत्रित होकर स्वयं निश्चित करती होगी। हमारे विचार से भोज्य राज्य की जनता आर्थिक संघों में संगठित होगी और राजा का कर्त्तव्य उन संघों के पारस्परिक सम्बन्ध बनाये रखना तथा अन्य राज्यों से व्यापार की व्यवस्था करना होगा, क्योंकि भोज शब्द से इस प्रकार का भाव प्रकट होता है।

इन राज्यों के अध्यक्ष को सम्भवतः राजा ही कहते थे, क्योंकि विदर्भ का राजा भीम भोज कहलाता था और दण्डक का राजा दण्डकी भी भोज था।[3]

---

१. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृष्ठ १०३
२. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृष्ठ १०७
३. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृष्ठ १०६

अध्याय १०

अर्थशास्त्र में जनतंत्र

कौटिल्य के समय तक राजतंत्र-राज्य अत्यन्त सबल हो चुके थे। स्वयं कौटिल्य भी राजतंत्र का पोषक था और उसका प्रसिद्ध ग्रन्थ मुख्यतः राजतंत्र पर ही लिखा गया है। परन्तु संघ की शक्ति को वह भी अत्यन्त प्रबल मानता था क्योंकि उसने अपने संघवृत्त नामक ग्यारहवें अधिकरण के आरम्भ में ही कह दिया है कि संघ में संगठित लोगों को बल से नहीं दबाया जा सकता।[1] कौटिल्य के मतानुसार राज्य को जो शक्ति अन्य राज्यों से मित्रता करने पर मिलती है, उससे भी अधिक शक्ति जनता के संघ के रूप में संगठित हो जाने से प्राप्त हो जाती है।[2] इसी कारण कौटिल्य जहां अन्य राज्यों के साथ युद्ध अथवा मैत्री की नीति का अवलम्बन करता है, वहां संघों के साथ भेद-नीति के अपनाने पर बल देता है। महाभारत में भीष्म ने गणराज्य की सबसे बड़ी कमज़ोरी उसमें भेद पड़ जाना बतायी है,[3] और कौटिल्य उस कमज़ोरी का पूरा-पूरा लाभ उठाने का परामर्श देता है।

अतः विदित होता है कि कौटिल्य के समय में भी जनतंत्र-राज्य अत्यन्त प्रबल थे। उसने संघ के अतिरिक्त वैराज्य और द्वैराज्य शासनप्रणालियों का भी सूक्ष्म सा वर्णन किया है, परन्तु इस वर्णन से हमको इन शासन-प्रणालियों का रूप स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। इस वर्णन से विदित होता है कि द्वैराज्य शासन में एक ही राज्य के दो राजा होते थे, परन्तु ये दोनों राजा आपस में निकट सम्बन्धी होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अवस्था बहुधा तब आती होगी, जब राजा के दोनों पुत्रों का राज्य पर समान अधिकार मान लिया जाता हो, और परस्पर दोनों मिलकर राज्य-संचालन का निश्चय कर लेते हों, अथवा राजा के जीवन-काल में ही युवराज को पूर्ण शासनाधिकार प्राप्त हो जाने पर राजा और उसका पुत्र दोनों मिलकर राज्य कार्य करते हों, क्योंकि कौटिल्य

---

१. संघा हि संहतत्वादधृष्याः परेषाम्। अर्थशास्त्र ११-१-२

२. संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः। अर्थशास्त्र ११-१-१

३. भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु संजयाः परैः। शा० प० अ० १०७ श्लोक १४

ने उनका बहुधा भाई-भाई अथवा पिता-पुत्र होना कहा है।[1] इससे स्पष्ट है कि द्वैराज्य में राजतंत्र शासन होता था।

कौटिल्य द्वारा किये गये वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वैराज्य-शासन में कोई राजा नहीं होता था। उसकी विशेषता यह बतायी गयी है कि वह शासन जनता के मन के अनुकूल चलता था।[2] साथ ही कौटिल्य जहां पर राजतंत्र राज्य को जीत लेने पर विजेता को पराजित राजा का राज्य उसके वंशजों को लौटा देने का परामर्श देता है, वहां वैराज्य को जीत लेने पर, विजेता द्वारा या तो उसको अपने राज्य में विलीन कर लेने, या उसके बेच देने की सम्भावना बताता है,[3] इसका कारण यह हो सकता है कि वैराज्य में कोई निश्चित राजा न होने के कारण, उसको किसी व्यक्ति विशेष को नहीं लौटाया जा सकता। कौटिल्य इस बात का भी संकेत देता है कि वैराज्य की जनता से, विजेता अपने अनुकूल रहने की आशा भी नहीं रखता,[4] क्योंकि वहां की जनता किसी राजा के नियंत्रण में रहने की आदी नहीं होती। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि वैराज्य में जनता बिना किसी को राजा बनाये, बहुमत अथवा एकमत से व्यवस्था और राज्य-कार्य चलाती थी। महाभारत में भी इस प्रकार के राज्यों का उल्लेख किया गया है जहां पर जनता, बिना राजा के ही, परस्पर धर्म–व्यवहार के द्वारा रक्षा और व्यवस्था कर लेती थी।[5]

द्वैराज्य और वैराज्य के गुणावगुणों पर तुलनात्मक दृष्टि डालते हुए कौटिल्य लिखता है कि प्राचीन आचार्य द्वैराज्य की अपेक्षा वैराज्य को अधिक अच्छा मानते थे, क्योंकि द्वैराज्य में दो विभिन्न शासकों के होने के कारण मतभेद और उसके परिणाम-स्वरूप कलह उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है, जब कि वैराज्य में जनता के चित्त के अनुकूल शासन होने के कारण अधिक सुख-शान्ति की सम्भावना रहती है।[6]

---

१. पितापुत्रयोर्भ्रात्रोर्वा द्वैराज्यं तुल्ययोगक्षेमममात्यावग्रहं वर्तयेतेति।
अर्थशास्त्र, अधिकरण ८ अध्याय २ वार्ता ९

२. वैराज्यं तु प्रकृतिचित्तग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत इत्याचार्याः।
अर्थशास्त्र ८–२–७

३. वैराज्ये तु जीवतः परस्याच्छिद्य नैतन्ममेति मन्यमानः कर्शयत्यपवाहयति। पण्यं वा करोति।
अर्थशास्त्र ८–२–१०,१

४. विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति।
अर्थशास्त्र ८–२–

५. प्रस्तुत ग्रन्थ

६. द्वैराज्यवैराज्ययोर्द्वैराज्यमन्योन्यपक्षद्वेषानुरागाभ्यां परस्परसंघर्षेण वा विन[redacted]
वैराज्यं तु प्रकृतिचित्तग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत इत्याचा[redacted]
अर्थशास्त्र ८–[redacted]

कौटिल्य अपना मत इसके विपरीत रखता है,[1] क्योंकि उसके मतानुसार द्वैराज्य के दोनों शासक निकट सम्बन्धी होने के कारण राज्य में समान भाव रखते हैं, यदि उनमें मतभेद हो भी जाय तो वह आपसी झगड़ा होगा और मंत्रियों के हस्तक्षेप से सरलता से शान्त किया जा सकेगा, जब कि वैराज्य में भय बहुधा बाह्य विजेता का होता है, जो उसको नष्ट करने का विचार रखता है। हमारे विचार से वैराज्य-प्रणाली उस समय तक तो ठीक थी, जब तक मनुष्य स्वाभाविक धर्म-भीरुता के कारण विधियों के उल्लंघन का साहस नहीं करता था, परन्तु मानव-हृदय में मोह, लोभ और काम की वृद्धि के कारण जब से स्वार्थ बढ़ गया, तब से उसको अधिक कठोर नियंत्रण की आवश्यकता हो गयी, फलतः वैराज्य प्रणाली द्वारा सफलतापूर्वक शासन चलना असम्भव हो गया।

संघ के दो भेद—वार्ताशस्त्रीपजीवी, राजशब्दोपजीवी

कौटिल्य ने संघ की प्रबलता को मानते हुए, संघों को वश में करने के लिए भेद और दण्ड नीति से काम लेने का आग्रह किया है । इसके अनुसार पहले उसने संघों को दो भागों में विभाजित किया—अनुगुण और विगुण।[2] अनुगुण का अर्थ है अपने गुणों का अनुकरण करने वाला। अतः वे संघ जो राजा के अनुकूल भाव रखते हों—अनुगुण के नाम से कहे गये हैं। राजा को चाहिए कि अनुगुण संघों को साम और दान नीतियों से अर्थात् समझा-बुझाकर और धन देकर अपने वश में कर ले । विगुण का अर्थ है—विपरीत गुणवाला, अतः वे संघ जो राजा के प्रति विरोधी भाव रखते हों, विगुण कहे गये हैं। विगुण संघों को वश में करने के लिए, राजा को भेद और दण्डनीति का सहारा लेना चाहिए।[3]

उपर्युक्त भेद और दण्डनीति के द्वारा विगुण संघों को वश में करने के लिए संघों के दो भेद किये गये हैं—(१) वार्ताशस्त्रोपजीवी और (२) राजशब्दोपजीवी।[4] इन दोनों प्रकार के संघों के साथ भिन्न भिन्न कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बात कौटिल्य ने संघवृत्त नामक ग्यारहवें अधिकरण में बतायी है। इनके सही भाव को समझने के लिए इनका पृथक्-पृथक् विवेचन करना आवश्यक है।

---

१. नेति कौटिल्यः । अर्थशास्त्र ८–२–८

२.ताननुगुणान्भुञ्जीत सामदानाभ्याम्। ११–१–३
विगुणान्भेददण्डाभ्याम् । ११–१–४

३. उपर्युक्त ११–१–३, ४

४. कम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेणयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः । लिच्छिविक-व्रजिक-मल्लक-मद्रक कुकुरकुरु-पञ्चालादयो राजशब्दोपजीविन। अर्थशास्त्र ११–१–६

वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ

इसके सम्बन्ध में कौटिल्य ने कहा है कि कम्बोज और सुराष्ट्र के क्षत्रिय श्रेणी आदि बनाकर वार्ता और शस्त्रों के द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले हैं। पहले हम कुछ सम्बन्धित शब्दों के कौटिल्य द्वारा अन्यत्र कथित प्रयोगों पर ध्यान देंगे।

(१) अर्थशास्त्र ३-१४-२२ में 'संघभृत:' संघ बनाकर काम करने वाले लोगों को अर्जित धन के बराबर-बराबर बाँट लेने का नियम बताया गया है।[1] इससे सिद्ध होता है कि व्यावसायिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में भी संघ होते थे।

(२) अर्थशास्त्र ४-१-२ में कहा गया है कि आदेशानुसार वस्तु बनाने वाले कारीगरों, लेन-देन करने वालों और पहले वस्तु बनाकर बाद में मूल्य लेने वालों में श्रेणी द्वारा प्रमाणित व्यक्ति ही पेशगी धन ले सकते हैं।[2] यदि पेशगी धन लेने वाला किसी विपत्ति में फँस जाता है तो वह धन श्रेणी द्वारा दिया जाना चाहिए।[3] इसके बाद इसी अध्याय में वस्त्रकारों, धोबियों, स्वर्णकारों, अन्य धातुओं का काम करने वालों के नियम बताये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि उद्योग-धन्धे करने वाले लोग अपनी-अपनी श्रेणी में संगठित होकर कार्य करते थे, और श्रेणी के विश्वासपात्र व्यक्तियों को श्रेणी प्रमाणित करती थी।

अर्थशास्त्र, अधिकरण ८ अध्याय ४ में श्रेणी और श्रेणीमुख्य की तुलना करते हुए कहा गया है कि अन्य आचार्यों के मत से श्रेणी और उसके मुख्य पुरुष में श्रेणी ही बहुसंख्यक होने के कारण अदमनीय होकर चोरी तथा डाके से जनता को अधिक पीड़ा पहुंचाती है। श्रेणी का मुख्य पुरुष तो कार्य के अनुग्रह और विघात के लिए ही उत्तरदायी होता है। कौटिल्य अपना मत इसके विपरीत प्रकट करते हुए लिखता है कि चोरी-डाका आदि डालनेवाली श्रेणी को उसके उपर्युक्त व्यसनों से, अथवा श्रेणीमुख्य को अलग कर देने से वश में किया जा सकता है, परन्तु खम्भे के समान दृढ़ स्थिति वाले मुख्य पुरुष तो दूसरों के प्राण और धन दोनों को ले लेते हैं।[4] उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि कुछ

---

१. संघभृतः संभूय समुत्थातारो वा यथासंभाषितं वेतनं समं वा विभजेरन्। अर्थशास्त्र ३–१४–२२

२. अर्ध्यप्रतीकाराः कारुशासितारः संनिक्षेप्तारः स्वमितकारवः श्रेणीप्रमाणा निक्षेपं गृह्णीयुः। अर्थशास्त्र ४–१–२

३. विपत्तौ श्रेणी निक्षेपं भजेत। अर्थशास्त्र ४–१–३

४. श्रेणीमुख्ययोः श्रेणी बाहुल्यादनवग्रहास्तेयसाहसाभ्यां पीडयति। ८–४–३९
मुख्यः कार्यानुग्रहविघाताभ्यामित्याचार्याः। नेति कौटिल्यः।
सुव्यावर्त्या श्रेणी समानशीलव्यसनत्वात् श्रेणीमुख्यैकदेशोपग्रहेण वा।
स्तम्भयुक्तो मुख्यः परप्राणद्रव्योपघाताभ्यां पीडयतीति। ८–४–४१–४३

श्रेणियाँ चोरी-डाका आदि के काम में भी संलग्न रहती थीं और उनके नेता को श्रेणीमुख्य कहा जाता था।

अर्थशास्त्र, अधिकरण ९ अध्याय २ वाक्य १४ और १५ में श्रेणीबल के उपयुक्त प्रयोग पर विचार किया गया है।[1] अर्थशास्त्र ९-२-३८ में एकदेशीय होने तथा समान स्वार्थ से संघर्ष करने के कारण श्रेणीबल को मित्रबल से श्रेष्ठतर कहा गया है।[2] इससे सिद्ध होता है कि कुछ श्रेणियाँ अपनी सैनिक शक्ति भी रखती थीं, जिनका उपयोग आवश्यकता पड़ने पर राजा भी किया करता था।

(३) अर्थशास्त्र १–४–१ में वार्ता शब्द का अर्थ किया गया है कि कृषि, पशुपालन और व्यापार वार्ता कहलाते हैं।[3]

(४) अर्थशास्त्र ८–४–३० में कहा गया है कि राजा के विहार से कारीगरों, शिल्पियों, नट-नर्तकों तथा कथा-कहानी कहने वाले भाट आदि और व्यापारियों का उपकार हो जाता है।[4] यहाँ पर वाग्जीवन शब्द स्पष्टतः कथा-कहानी कहकर अपनी वाणी द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले भाट आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थशास्त्र २–२७–४० में वेश्याओं के लिए रूपाजीवा शब्द प्रयुक्त किया गया है।[5]

अर्थशास्त्र १–३–६ में क्षत्रिय का धर्म अध्ययन, यजन, दान, शस्त्र से जीविकोपार्जन करना (शस्त्राजीवी) और प्रजा की रक्षा करना कहा गया है।[6] यहां पर क्षत्रिय को शस्त्राजीवी कहने का तात्पर्य शस्त्रों द्वारा जीविका चलाने वाला ही है। शस्त्रों द्वारा जीविका चलाने का भाव—शस्त्रों के निर्माणादि के कार्य तथा उनके प्रयोग द्वारा जीविकोपार्जन करना हो सकता है, जिसमें शस्त्रास्त्र बनाना, उनका व्यापार करना, युद्ध में उनका उपयोग करना आदि सम्मिलित है। दुष्ट चरित्र के लोगों द्वारा डाके आदि डालकर लूट-मार करने को भी शस्त्रों द्वारा जीविकोपार्जन कह सकते हैं।

(५) वर्णाश्रम धर्म के अनुसार वर्ण विशेष के लिए बतायी गयी वृत्ति को

---

१. प्रभूतं मे श्रेणीबलं शक्यं मूले यात्रायां चाधातुमिति। ९–२–१४
हृस्वः प्रवासः श्रेणीबलप्रायः प्रतिमोक्षमन्नव्यायामाभ्यां प्रतियोद्धुकामी दण्डबलव्यवहार इति श्रेणीबलकालः। ९–२–१५

२. जानपदमेकार्थोपगते तुल्यसंघर्षामर्षसिद्धिलाभं च श्रेणीबलं मित्रलबाच्छ्रेयः। ९–२–३८

३. कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। १–४–१

४. राजविहारस्तु कारुशिल्पकुशीलववाग्जीवनवैदेहकोपकारं करोतीत्याचार्याः। ८–४–३०

५. रूपाजीवा भोगद्वयगुणं मांसदुघः। २–२७–४०

६. क्षत्रियस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च। १–३–६

जीविका कहते हैं। यदि कोई वर्ण अन्य वृत्तियों को अपनाकर जीविकोपार्जन करता है तो वह उसकी उपजीविका कहलाती है।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कौटिल्य के समय में आर्थिक संघ थे, जिनमें श्रेणी आदि में संगठित होकर लोग कार्य करते थे। ये श्रेणियाँ अन्य जातियों में भी होती थीं, परन्तु क्षत्रिय जाति की श्रेणियाँ वीर और शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में कुशल होती थीं। इसलिए कौटिल्य ने कम्बोज और सुराष्ट्र की सभी श्रेणियों का भेदोन्मूलन करने को नहीं कहा, अपितु केवल क्षत्रिय श्रेणियों के साथ भेदनीति अपनाने का परामर्श दिया है।[1]

डा० का०प्र० जायसवाल ने कौटिल्य के उपर्युक्त वाक्य में श्रेणी शब्द के बाद आदि शब्द लिखे होने पर भी विचार किया है।[2] आर्थिक संघ में श्रेणी के अतिरिक्त पूग, व्रात आदि अन्य समुदाय भी होते थे, जैसा कि पाणिनि के सूत्रों से प्रकट होता है। अतः श्रेणी के बाद आदि शब्द लिखने का तात्पर्य यह है कि श्रेणी तथा अन्य इसी प्रकार के समुदाय। अतः उपर्युक्त वाक्य का अर्थ है—वार्ता (कृषि, पशुपालन, व्यापार) और शस्त्रों द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले, कम्बोज और सुराष्ट्र के क्षत्रियों की श्रेणी आदि के 'आर्थिक' संघ।

उपर्युक्त प्रकार के क्षत्रिय संघों को वश में करने का, कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में यह उपाय भी बताया है कि किसी एक देश में उन सब को बसाकर, पृथक्-पृथक् भूभागों पर उनके पाँच-पाँच या दस-दस घर कृषि करने के लिए बसा देने चाहिए।[3] क्योंकि वे एक जगह पर एकत्र होकर ही शस्त्र ग्रहण करने में समर्थ हो सकते हैं।[4] कौटिल्य ने यह भी कहा है कि इन संघों से कुछ कर भी लिया जाना चाहिए।[5] यदि इन संघों को स्वयं संघराज्य मान लिया जाय, तो अन्य राज्य किस प्रकार उनको पाँच-पाँच या दस दस घरों के रूप में कृषि करने के लिए बसा सकता है, और अन्य राज्य किस प्रकार उनसे कर वसूल कर सकता है? यह तभी सम्भव हो सकता है कि जब उन संघों को किसी राज्य के अन्तर्गत मानें, और तभी वह राज्य अपने राज्य के इन संघों को उपर्युक्त नीति से क्षीणशक्ति कर सकता है।

---

१. **कम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः। अर्थशास्त्र ११–१–५**
२. **हिन्दू पॉलिटी, पृष्ठ ५३**
३. **एकदेशे समस्तान्वा निवेश्य भूमौ चैषां पञ्चकुलीं दशकुलीं वा कृष्यां निवेशयेत्। ११–१–२१**
४. **एकस्था हि शस्त्रग्रहणसमर्थाः स्युः। ११–१–२२**
५. **समव्यये चैषामत्ययं स्थापयेत्। १–१–२३**

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों को आर्थिक संघों के अर्थ में ही लिया था। इस प्रकार के आर्थिक संघ जनतंत्र राज्य में भी हो सकते थे और राजतंत्र में भी। परन्तु जनतंत्र राज्य में इस प्रकार के संघों से शासक को भय नहीं होना चाहिए, क्योंकि शासन में इन संघों के प्रतिनिधियों का स्वयं महत्वपूर्ण भाग होगा। इसलिए कौटिल्य का इस प्रकार के संघों की शक्ति क्षीण करने का परामर्श राजतंत्र राज्य के लिए ही हो सकता था, क्योंकि स्वच्छन्द राजा को इनकी शक्ति से भय रहना चाहिए। अतः कौटिल्य द्वारा उल्लिखित कम्बोज और सुराष्ट्र, दोनों ही उस समय राजतंत्रात्मक राज्य होने चाहिए। पाणिनि ने कम्बोज को राजतंत्रात्मक राज्यों के ही अन्तर्गत माना है।[1] डा० काशीप्रसाद जायसवाल भी इस आधार पर कम्बोज को जनतंत्र राज्य मानने में सन्देह प्रकट करते हैं। बौद्ध ग्रन्थ पेतवत्थु में कहा गया है कि सुराष्ट्र का राजा पिंगल था जो मौर्यों की अधीनता में गया था। अतः वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों से सम्बन्धित कम्बोज और सुराष्ट्र दोनों ही राजतंत्रीय राज्य थे।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ और राजशब्दोपजीवी संघ में मुख्य दो भेद बताये हैं––

(१) वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ में शासक राजा की पदवी नहीं धारण करता था, परन्तु राजशब्दोपजीवी संघ में शासक राजा की उपाधि धारण करता था।

(२) वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ में सारी जनता को सैनिक शिक्षा अनिवार्यतः दी जाती थी और उसमें स्थायी सेना नाम मात्र को होती थी, जब कि राजशब्दोपजीवी संघ में वेतनभोगी स्थायी सेना ही होती थी।[3]

डा० श्यामलाल पाण्डेय ने भी उपर्युक्त भेदों को ही इस विषय में अपना आधार बनाया है।[४]

परन्तु हम देख चुके हैं कि कौटिल्य द्वारा उल्लिखित वार्ताशस्त्रोपजीवी कम्बोज और सुराष्ट्र राज्य राजतंत्र थे और सुराष्ट्र में शासक राजा की पदवी भी धारण करता था। इस प्रकार उपर्युक्त प्रथम भेद सही नहीं उतरता।

जहां तक सेना का सम्बन्ध है, कौटिल्य ने राजतंत्रात्मक राज्य में भी श्रेणी-

---

१. डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ६१
२. डा० बी० सी० ला, इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म––पृष्ठ ११२
३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ५१
४. कौटिल्य की राजव्यवस्था, पृष्ठ २०१–२०३

बल का उल्लेख किया है। वास्तव में उस समय सभी वर्णों के लोग सैनिक शिक्षा ग्रहण करते थे, जैसा कि अर्थशास्त्र से विदित होता है। अतः सभी राज्यों में स्थायी सेना के अतिरिक्त, आवश्यकता पड़ने पर जनता को शस्त्र ग्रहण करके राजा की सहायता करनी पड़ती थीं। पुनश्च राजशब्दोपजीवी राज्य भी संघराज्य कहे गये हैं, इसका अर्थ है कि उनमें जनतंत्रात्मक शासन था इसलिए स्वाभाविक था कि आवश्यकता पड़ने पर वहां की जनता भी शस्त्र ग्रहण अवश्य करती होगी। क्योंकि जनतंत्र शासन में देश की रक्षा का भार केवल स्थायी सेना पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए वार्ताशस्त्रोपजीवी और राजशब्दोपजीवी संघों में यह भेद होना भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

डा० अलटेकर ने वार्ताशस्त्रोपजीवी संघ का अर्थ ऐसा राज्य माना है, जिसमें व्यापारी और सैनिक दोनों वर्गों के लोग शासन में भाग लेते थे।[1] परन्तु यह अर्थ करने पर श्रेणी और क्षत्रिय शब्द निरर्थक हो जाते हैं। साथ ही, हम देख चुके हैं कि कम्बोज और सुराष्ट्र जनतंत्र राज्य नहीं थे, राजतंत्र थे। अतः वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों से कौटिल्य का संकेत अवश्य ही आर्थिक संघों की ओर था।

(१) कम्बोज

पाणिनिसूत्र ४-१-१७५ 'कम्बोजाल्लुक्'[2] के आधार पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि पाणिनि के समय में यह एकराज जनपद था। यहां का राजा और क्षत्रियकुमार दोनों कम्बोज कहलाते थे। डा० बी० सी० ला के मतानुसार कम्बोज की राजधानी राजपुर थी जिसको चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पूञ्छ के दक्षिण-पूर्व में बताया है।[3] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार आधुनिक पामीर और बदख्शां का सम्मिलित प्राचीन नाम कम्बोज जनपद था। महाभारत सभापर्व २७-२३ में कम्बोज का नाम बाह्लीक और दरद के साथ आया है। यद्यपि वहां पर केवल इतना कहा गया है कि अर्जुन ने बाह्लीकों को पराजित करने के बाद, उनकी सेना की सहायता लेकर दरदों के साथ कम्बोजों को भी जीत लिया था। परन्तु हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि महाभारत में बहुधा जनपदवासियों के नाम से जनपदों को उल्लिखित किया गया है। अतः वहां पर राजा का नाम न होने से सिद्ध नहीं होता कि वह गणराज्य होगा।

(२) सुराष्ट्र

सुराष्ट्र जनपद आधुनिक काठियावाड़ प्रान्त में था। पेतवत्थु बौद्ध ग्रन्थ में

---

१. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया—पृष्ठ ११५
२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष—पृष्ठ ६१
३. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृष्ठ ८५

लिखा है कि सुराष्ट्र के राजा पिंगल ने मौर्यों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। रुद्रदामन प्रथम के जूनागढ़ के शिलालेख में लिखा है कि सम्राट् अशोक ने यवन तुषास्प को सुराष्ट्र प्रदेश का शासक बनाया था। इससे विदित होता है कि मौर्य राजाओं ने कुछ काल बाद सुराष्ट्र को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था।

(३) क्षत्रिय, (४) श्रेणी

अर्थशास्त्र ११–१–५ का सही अर्थ न समझने के कारण ही डा० काशीप्रसाद जायसवाल और डा० श्यामलाल पाण्डेय ने कम्बोज और सुराष्ट्र के समान ही क्षत्रिय और श्रेणी शब्दों को भी जनपदों का नाम मान लिया और प्रमाणस्वरूप यूनानी लेखों के क्षतरोई और अग्रश्रेणी शब्दों को प्रस्तुत कर दिया। परन्तु यूनानी लेखों से क्षतरोई शब्द क्षत्रिय नामक राज्य के लिए प्रयुक्त हुआ है—ऐसा ज्ञात नहीं होता, और न श्रेणी शब्द मिलता है। जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं, क्षत्रिय और श्रेणी शब्द कौटिल्य द्वारा अपने यथार्थ भाव में ही क्रमशः क्षत्रिय वर्ण और आर्थिक समुदाय के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। इस प्रकार वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों के केवल दो ही उदाहरण, कम्बोज और सुराष्ट्र, कौटिल्य द्वारा उल्लिखित किये गये हैं।

(इ) राजशब्दोपजीवी संघों के उदाहरण और विवेचन

कौटिल्य ने संघों के जो दो भेद बताये हैं, उनमें से प्रथम, वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों के विषय में हम सिद्ध कर चुके हैं कि वे आर्थिक संघ थे। दूसरे प्रकार के संघ जिनका उल्लेख अर्थशास्त्र ११-१-६ में राजशब्दोपजीवी संघों के नाम से किया गया है,[1] राजनीतिक संघ थे। अधिकरण ग्यारह का गम्भीरता से मनन करने पर उपर्युक्त दोनों प्रकार के संघों में भेद डलवाने के उपायों का अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। इस अधिकरण में वाक्य ७ से २३ तक जो नीति बरतने का आदेश दिया गया है, वह विशेषतः क्षत्रियों के आर्थिक संघों के लिए है। इस भाग में संघ के क्षत्रियों के लिए राजा अथवा राजकुमार शब्द प्रयुक्त नहीं किये गये हैं। वाक्य १३ में इन क्षत्रियों के पुत्रों को केवल कुमारकाः कहा गया है।[2] इस भाग में संघों पर आक्रमण करने अथवा युद्ध करने का भी कोई उल्लेख नहीं है, अपितु उनमें फूट डालकर और उनको पृथक्-पृथक् बनाकर उनकी शक्ति को क्षीण करने के उपाय बताये गये हैं।

परन्तु वाक्य २४ से अधिकरण के अन्त तक जो वर्णन मिलता है, उसमें संघ

---

१. लिच्छविक-व्रजिक-मल्लक-मद्रक-कुकुरकुरुपंचालादयो राजशब्दोपजीविनः। अर्थशास्त्र ११–१–६

२. कुमारकान् विशिष्टच्छान्दकया हीनच्छन्दिकानुत्साहयेयुः। अर्थशास्त्र ११–१–१३

के मुखियों को धर्म, धन आदि से अपनी ओर मिलाना, युद्धकाल में संघ के वीरों को शराब में विष मिलाकर पिला देना, संघ में फूट हो जाने पर उस पर आक्रमण करके जीत लेना आदि बातें कहीं गयी हैं, जो कि इनका संघराज्य होना सिद्ध करती हैं। वाक्य २४ को 'राजशब्दिभि:'[1] शब्द से आरम्भ करके कौटिल्य ने स्वयं इस अन्तर की ओर संकेत किया है, क्योंकि वाक्य २४ से अधिकरण के अन्त तक जो वर्णन है, वह केवल राजशब्दोपजीवी संघों के विषय में है, जिसमें राजा और राजपुत्र शब्द अनेक बार संघ के राजा और उनके पुत्रों के लिए आये हैं ।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि इन संघों को राजशब्दोपजीवी नाम क्यों दिया गया। राजशब्दोपजीवी का अर्थ है राजा शब्द से जीविकोपार्जन करने वाला । हम देखते हैं कि आधुनिक काल में भी, जमींदारी उन्मूलन से पहले भारत में हजारों ऐसे ज़मीन्दार थे जो अपनी जीविका बड़े ठाटबाट के साथ केवल ज़मींदारी पर चलाते थे। उनका पेशा (जीविकावृत्ति) ही जमीन्दारी नाम से प्रसिद्ध था। वर्तमान काल में भी इस वर्ग को मालवा, महाराष्ट्र, पंजाब आदि प्रदेशों में राना, राव आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। अत: कौटिल्य द्वारा उल्लिखित राजशब्दोपजीवी संघ-राज्यों में सारा राज्य इसी प्रकार के ज़मीन्दारों अथवा सामन्तों में बंटा हुआ था । इनमें से प्रत्येक जमीन्दार अथवा सामन्त राजा की पदवी धारण करता था, यद्यपि वह वास्तव में स्वतंत्र राजा न होकर केवल सामन्त मात्र था। जिस प्रकार आधुनिक काल में जमीन्दारों की जीविका को भी जमीन्दारी कहा जाता था, उसी प्रकार इन राजाओं की जीविकावृत्ति को भी राज कहा जाता था। अत: राज शब्द से जीविकावृत्ति चलाने वाले लोग राजशब्दोपजीवी कहे गये हैं, और इन सामन्तों के संगठन से जो राज्य बने थे, उनको राजशब्दोपजीवी संघ कहा गया है।

डा० ए० एस० अलटेकर ने राजशब्दोपजीवी संघ को ऐसा राज्य माना है जिसमें राज्य के संस्थापक क्षत्रियों के वंशजों को ही राजा की पदवी दी जाती थी।[2] उनका अनुमान आंशिक रूप में सही मालूम होता है, क्योंकि वे राजा कहलाने वाले सामन्तगण अधिक संख्या में राज्य के संस्थापक क्षत्रियों के वंशज ही होंगे । परन्तु कौटिल्य के अर्थशास्त्र ११–१–२४ में इस बात का भी संकेत मिलता है कि उनमें हीन कुल और उच्च कुल भी होते थे। डा० ए० एस० अलटेकर ने भी लिखा है कि हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्तर्जातीय विवाह पाँचवीं शताब्दी ईसवी तक सामान्यत: होते थे, इसलिए क्षत्रिय वर्ण का कोई संकुचित क्षेत्र न था। वैश्य और शूद्र वर्ण के लोग भी सेना में

१. राजशब्दिभिरवरुद्धमवक्षिप्तं वा कुल्यमभिजातं राजपुत्रत्वे स्थापयेत्। ११–१–२४
२. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११३–११४

प्रविष्ट होकर और उच्च पद पाकर क्षत्रियों से हीन नहीं रह जाते थे।[1] पाणिनि ने भी अपने सूत्रों में इस बात का संकेत किया है कि जो पहले क्षत्रिय नहीं था, वह भी क्षत्रिय बन सकता था। इससे विदित होता है कि इन संघ-राज्यों के राजा नामधारी सामन्तगणों में अन्य वर्णों के व्यक्ति भी सम्मिलित थे, परन्तु राजा की उपाधि से विभूषित होने पर, वे भी अपने को क्षत्रिय वर्ण का ही मानने लगते थे, यद्यपि मूल क्षत्रिय वंश उनको हीन भाव से देखते थे। परन्तु इस प्रकार के सामन्त अधिक नहीं होंगे।

यहां पर एक विशेष बात ध्यान देने की है कि कौटिल्य ने उपर्युक्त राज्यों को संघराज्य कहा है, गणराज्य नहीं कहा। हम गणराज्य और संघराज्य का अन्तर पहले ही सिद्ध कर चुके हैं। एकाधिक गणराज्य मिलकर संघराज्य बनाते थे। कौटिल्य के राजशब्दोपजीवी संघ से प्रतीत होता है कि कौटिल्य के समय में सामन्ततंत्र अधिक प्रबल हो गया था। ये राजा नामधारी सामन्त अपनी-अपनी ज़मीन्दारियों में स्वच्छन्द शासक की भांति शासन करते थे और प्रबल शक्ति रखते थे। इसलिए इनमें से प्रत्येक अपने को राजा समझता था। इस विषय में हम अध्याय आठ में विस्तृत रूप से विचार कर चुके हैं। इन राज्यों का वास्तविक स्वरूप सामन्तों का संघ था। अतः इनमें और महाभारतकालीन गणराज्यों में बहुत अन्तर था, इसलिए कौटिल्य ने इनको राजशब्दोपजीवी संघ कहा है। कौटिल्य का यह नामकरण उसकी राजनीतिज्ञता का परिचायक है क्योंकि इस नाम से ही तत्कालीन गणराज्यों के वास्तविक स्वरूप का संकेत मिल जाता है।

कौटिल्य की सर्वोत्कृष्ट राजनीतिक प्रतिभा उसके लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक, मद्रक आदि शब्दों के प्रयोगों से भी विदित होती है। पाणिनि के अनुसार लिच्छवि राज्य के नागरिक को लिच्छविक, व्रजि के नागरिक को व्रजिक, मल्ल और मद्र के नागरिक को क्रमशः मल्लक और मद्रक कहेंगे। इस प्रकार की नागरिकता में केवल राजभक्ति को ही महत्व दिया गया है, जाति अथवा वंश को नहीं। इसलिए लिच्छविक, व्रजिक, मद्रक आदि शब्दों के प्रयोग से कौटिल्य ने उक्त राज्यों के नागरिकों का विशुद्ध राजनीतिक दृष्टि से उल्लेख किया है। शब्दों के उक्त रूपों से कौटिल्य की राजनीति में धर्म-निरपेक्षता का बोध होता है।

कौटिल्य ने राजशब्दोपजीवी सघों की सूची में तत्कालीन प्रसिद्ध क्षुद्रक और मालव गणराज्यों का उल्लेख नहीं किया है, इससे प्रतीत होता है कि क्षुद्रक और मालव राज्यों में तब भी गणराज्य प्रणाली का शासन था, उनमें सामन्तशाही नहीं आयी थी।

---

१. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया—पृष्ठ १३६

कौटिल्य द्वारा उल्लिखित सात राजशब्दोपजीवी संघों का उपर्युक्त दृष्टि से संक्षेप में अवलोकन करना उचित प्रतीत होता है।

(१) लिच्छविक

बौद्धकाल से गुप्तकाल तक इस गणराज्य का अस्तित्व रहा, इससे इसकी शक्ति का अनुमान किया जा सकता है । चन्द्रगुप्त प्रथम से इस राज्य ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे और गुप्त-साम्राज्य के विकास में भी सहायता दी थी, फिर भी यह कुछ काल बाद गुप्त साम्राज्य का ही अंग बन गया। इससे विदित होता है कि इसकी स्वतंत्रता के अपहरण के कारण आन्तरिक ही थे। कौटिल्य ने इसके आन्तरिक भेद और मनमुटाव को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर ही इसको संघराज्य सम्बोधित किया था। भीष्म का सिद्धान्त था कि गणराज्य में बाह्य भय इतना घातक नहीं होता जितना आन्तरिक भय होता है। यह सिद्धान्त इस राज्य पर सत्य सिद्ध हुआ।

(२) व्रजिक

बौद्ध काल में यह भी एक गणराज्य था। पौराणिक काल में इसका नाम विदेह मिलता है और इसका वर्णन राजतंत्रात्मक राज्य की भांति किया गया है। कौटिल्य ने इसको संघराज्य कहा है। इसका अन्त मौर्यकाल में ही हो गया था। इन परिवर्तनों से विदित होता है कि आरम्भ में यह मर्यादित राजतंत्र रहा होगा, जिसमें राजा के पैतृक पद के अतिरिक्त अन्य अधिकांश लक्षण जनतंत्र के ही होते थे। कालान्तर में यह राज्य क्षीण होने लगा और इस पतन का कारण अयोग्य राजा रहा होगा। इसलिए जनता ने पैतृक सिद्धान्त का अन्त करके गणराज्य का रूप स्वीकृत किया। परन्तु छोटा होने के कारण इसकी अल्प शक्ति राजतंत्र राज्यों की शक्ति के सामने स्थिर न रह सकी।

(३) मल्लक

मल्ल राज्य को भी बौद्ध साहित्य में गणराज्य ही माना गया है। मल्लों ने लिच्छवियों के साथ मिलकर संघ बनाया था परन्तु वह अधिक समय तक न टिक सका। हमारे विचार से इसका मुख्य कारण सभासदों में स्वच्छन्दता और स्वप्रभुता की भावना है, जो कि गणराज्य की शक्ति के लिए घातक सिद्ध होती है।

(४) मद्रक

मद्र राज्य का उल्लेख पाणिनि और कौटिल्य दोनों ने किया है। इससे सिद्ध होता है कि यह भी एक गणराज्य था और अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के कारण इसका भी पतन शीघ्र ही हो गया।

(५) कुकुर

महाभारत का प्रसिद्ध संघराज्य अन्धक-वृष्णि भोज, यादव और कुकु- गणराज्यों से मिलकर बना था। इससे सिद्ध होता है कि प्रभास प्रदेश (आधुनि

गुजरात) का यह गणराज्य महाभारत काल से कौटिल्य के समय तक वर्तमान था। पश्चिमी भारत के ईसवी पहली शताब्दी के अन्त के शिलालेखों में भी कुकुरों का उल्लेख मिलता है।

(६) कुरु

महाभारत में कुरु राज्य राजतंत्रात्मक था। विदेहों की भांति इसने भी अपना रूप गणतंत्रात्मक बना लिया। बौद्ध लेखों से पता चलता है कि बौद्धकाल में कुरु राज्य बहुत निर्बल हो गया था। कौटिल्य ने इसको भी संघराज्यों में परिगणित किया है, जिससे स्पष्ट है कि इसकी शक्ति छोटे-छोटे सामन्तों में विभक्त हो चुकी थी।

(७) पञ्चाल

महाभारत में पञ्चाल राज्य का वर्णन राजतंत्र राज्य के रूप में मिलता है। कुरु राज्य ने पञ्चाल पर आक्रमण करके, उसको दो भागों में विभक्त कर दिया था, उत्तर पञ्चाल और दक्षिण पञ्चाल। महाभारत के अनुसार उत्तर पञ्चाल की राजधानी अहिछत्रा अथवा छत्रवती थी और दक्षिण पञ्चाल की राजधानी काम्पिल्य थी। जातकों में भी पञ्चाल देश को दो भागों में विभक्त बताया गया है, परन्तु कुम्भकार जातक के अनुसार उत्तर पञ्चाल में जब राजा दुम्मुख राज्य करता था तब उसकी राजधानी काम्पिल्य थी, जब कि दिव्यावदान में एक स्थान पर (पृ० ४३५) उत्तर पञ्चाल की राजधानी हस्तिनापुर उल्लिखित है। सम्भव है कि उत्तर पञ्चाल किसी समय कुरु राज्य की संरक्षकता में रहा हो, तब उसकी राजधानी कुरु-राजधानी हस्तिनापुर ही मानी जाती थी। जातक ४–४४४ में भी उल्लेख है कि उत्तर पञ्चाल कुरु राज्य में सम्मिलित हो गया था। जातकों में पञ्चाल के अन्य तीन राजाओं के नाम भी मिलते हैं। जातक ५–९८ से विदित होता है कि पञ्चालनरेश ब्रह्मदत्त अत्यन्त कठोर और स्वच्छन्द था, जिसते प्रतीत होता है कि बौद्ध काल में भी यहां राजतंत्रात्मक राज्य था। परन्तु कौटिल्य ने इसको संघराज्य माना है। इससे प्रतीत होता है कि इस राज्य ने नृपतंत्र का रूप बदलकर कौटिल्य के समय में सामन्तशाही संघ का रूप ले लिया था। कौटिल्य का यह उदाहरण उसके द्वारा उल्लिखित संघराज्य के स्वस्थ रूप को अधिक स्पष्ट कर देता है कि वास्तव में वे समन्तपर्यायी संघराज्य थे।

इस प्रकार कौटिल्य ने संघ राज्यों का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया है और वह भी राजतंत्र से सम्बन्धित विवरण में ही। परन्तु अन्य ग्रन्थों की सहायता से उसके पारिभाषिक शब्दों का भाव तत्कालीन गणराज्यों की अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

अध्याय ११

यूनानी साहित्य में हिन्दू जनतंत्र

यूनान के राजा सिकन्दर ने ३२७ ईसवी पूर्व भारत के पश्चिमी भाग पर आक्रमण किया था। सिन्कदर के साथ कुछ यूनानी विद्वान् लेखक थे और सिकन्दर ने उनको इस देश का वर्णन लेखनीबद्ध करने की आज्ञा दी थी।[1] परन्तु वे मूल लेख सर्वथा नष्ट हो गये। उन मूल लेखों के आधार पर प्रथम शताब्दी ई० पू० और प्रथम शताब्दी के कुछ लेखकों ने भारतीय वर्णन को पुन: लेखनीबद्ध किया, परन्तु यह वर्णन बहुधा कहानियों के रूप में किया गया था और कहीं-कहीं विभिन्न लेखकों के लेखों में विरोधी वर्णन भी मिलता है।[2] इसलिए इन लेखों को सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता। सत्य की खोज करने के लिए हमको निम्न बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—

(१) मूल लेखों से लगभग तीन सौ वर्ष तक यह वर्णन अधिकांशत: जनश्रुति के आधार पर चलता रहा, जिसमें स्वभावत: बहुत-सी बातें घटायी और बढ़ायी गयी होंगी।

(२) जनश्रुतियों में यूनान के निवासियों की प्रथाओं और विचारों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

(३) लेखकों की लेखनी पर भी अपने देश और सभ्यता के प्रति प्रेम की

---

१. स्ट्रेबो, ४
मेक क्रिण्डल, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृष्ठ ९५

२. एरियन प्रथम शताब्दी के अन्त में था।
स्ट्रेबो सम्राट आगस्टस के समय में था (२७ बी० सी०—ए० डी० २७)।
डायोडोरस जूलियस सीजर और आगस्टस के समय में था
(४९ बी० सी०—ए० डी० १४)
करटियस प्रथम शताब्दी के अन्तिम काल में था।
प्लूटार्क और प्लिनी भी प्रथम शताब्दी के मध्यकाल में थे।

भावना का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। मेक क्रिन्डल इसे स्वीकार करता है।[1]

अतः उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हम यूनानी लेखों के आधार पर भारतीय जनतंत्रों का विवेचन करने का प्रयास करते हैं।

(अ) पाश्चात्य तथा भारतीय राजनीतिज्ञों की अनुचित धारणाएं

यूनानियों ने भारतीय सभ्यता और राजनीतिक अवस्था का वर्णन बड़ी प्रशंसा के साथ किया है और तत्कालीन भारतीयों में उच्च राजनीतिक ज्ञान बताया है। किन्तु उसको कुछ पाश्चात्य विद्वान् असम्भव समझते हैं। स्ट्रेबो के विचार से यूनानी लेख झूठ से भरे पड़े हैं।[२] मेक क्रिन्डल भी यह समझता है कि यूनानियों ने जिन राज्यों को स्वतंत्र प्रजातंत्रीय राज्य लिखा है, वे वास्तव में ग्रामीण संस्थाएँ थीं।[3] परन्तु मेगस्थनीज, जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में बहुत समय तक रहा था, स्वयं स्वशासित शहरों का उल्लेख करता है।[४] इसके अतिरिक्त सिकन्दर को इन राज्यों के साथ युद्ध, सन्धि आदि करनी पड़ी थी, जिसमें उसने हजारों सैनिकों तथा राज्योचित ठाट का वर्णन किया है। यूनानी विद्वानों का राजनीति का ज्ञान उच्च कोटि का था, यह बात प्रायः सभी यूरोपीय विद्वान् मानते हैं। इसलिए यह कहना कि यूनानियों ने उनके समझने में गलती की थी, भूल है।

परन्तु कुछ कारण ऐसे अवश्य हैं, जिनके प्रभाव से यूनानी लेखों में कुछ भ्रमात्मक बातें आ जाना सम्भव हो गया। यूनानी लोग भारत में सिकन्दर के साथ आक्रमणकारी बनकर आये थे, इसलिए उनके हृदय में भारतवासियों के प्रति शत्रुता की भावना अवश्य होगी। विजय की आशा रखकर आक्रमण करने वाले अपने शत्रुओं के प्रति हीन भावना को जाग्रत करते हैं, जिससे उनके हृदय में उत्साह बढ़ता रहे। इस हीन भावना के प्रभाव से यूनानी लेखकों की दृष्टि में भारतवासियों के कुछ गुण भी अवगुण के रूप में दिखाई दिये होंगे। इसलिए वे भारतवासियों की संस्कृति और ज्ञान का सही मूल्यांकन करने में असमर्थ रहे होंगे।

सिकन्दर के साथी यूनानी लेखकों ने भारत के जिन राज्यों का वर्णन किया था, उन राज्यों की उन्होंने युद्धकालीन अवस्था देखी थी। किसी भी राज्य की युद्धकालीन अवस्था उसकी शान्तिकालीन अवस्था से भिन्न होती है। इसलिए यूनानी लेखकों की

---

१. मेक क्रिण्डल, इनवेजन आफ इण्डिया बाई एलेग्जेण्डर, पृष्ठ २२३
२. डा० बेनीप्रसाद, दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १६७
३. इनवेजन आफ इण्डिया बाई एलेग्जेण्डर, पृष्ठ ११५ नोट
४. मेक क्रिण्डल, मेगस्थनीज

दृष्टि से भारत की वास्तविक संस्कृति और सभ्यता बहुत कुछ अदृश्य रही होगी।

यूनानी आक्रमणकारी भारत में अल्प काल के लिए ठहरे थे। इतने अल्प काल में भारतीय धर्म और प्रथाओं को समझना अत्यन्त कठिन था। इसलिए उनको समझने में कुछ त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक था। हमारे विचार से यूनानियों के लेखों में जो भूलें दिखाई देती हैं, वे निम्नांकित हैं।

(१) यूनानियों ने लिखा है कि सौभूतियों और कथों में यह प्रथा थी कि वे शिशुओं को एक चिकित्सा अधिकारी के निरीक्षण के लिए जन्म के दूसरे मास में भेजते थे, और जिन शिशुओं को अधिकारी शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अयोग्य समझता था, उनको मार दिया जाता था। स्ट्रेबो यह भी लिखता है कि यह राजाज्ञा थी जो कि विधियों के अनुसार ही प्रसारित की गयी थी।[1]

भारतीय धर्म और संस्कृति के आधार पर उपर्युक्त प्रथा का अस्तित्व असम्भव प्रतीत होता है। यदि ऐसी प्रथा होती तो उसका संकेत भारतीय साहित्य में कहीं न कहीं अवश्य मिलता। सिकन्दर के समय के कुछ समय बाद ही अशोक का साम्राज्य भारत के पश्चिमी भाग तक विस्तृत हो गया था। यदि यह प्रथा सिकन्दर के समय में थी, तो अशोक के समय में भी होनी चाहिए थी, और यदि ऐसा होता तो अशोक अपने किसी न किसी शिलालेख में उसका उल्लेख अवश्य करता, क्योंकि अशोक के शिलालेख राजनीति के साथ ही धर्म-प्रचार से भी व्याप्त थे। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रथा का सम्बन्ध धर्म और संस्कृति से है, जिसके विषय में भारतीय साहित्य में विपुल सामग्री मिलती है। परन्तु उपर्युक्त प्रथा का कोई उल्लेख नहीं, इसलिए हमको मानना पड़ता है कि यूनानियों पर भारतीय वीरता का प्रभाव इतना पड़ गया था कि उन्होंने स्पार्टा-निवासियों की भांति ही, वीरता का स्रोत इस प्रथा में मान लिया था और इसलिए वे समझते थे कि भारत की वीर जातियों में ऐसी ही प्रथा अवश्य होगी।

(२) स्ट्रेबो लिखता है कि मुसिकनि लोगों में सब एक साथ बैठकर भोजन करते थे, उनमें दास-प्रथा नहीं थी।[2] उनमें दास-प्रथा नहीं थी, यह बात माननीय है। परन्तु वे सदैव एक साथ बैठकर भोजन करते थे—इस बात में सन्देह है। भारत में आदि काल से ही कुटुम्बप्रथा समाज में आ चुकी थी और प्रत्येक कुटुम्ब पृथक्-पृथक् अपनी व्यवस्था करता था। वास्तव में युद्ध काल में सब लोग एक साथ ही भोजन करते थे, यह स्वाभाविक है। इसी युद्धकालीन अवस्था को यूनानियों ने देखा था, जिसके आधार पर उन्होंने स्पार्टा-वासियों की प्रथा का प्रसार यहाँ पर भी घोषित कर दिया। डा०

---

१. स्ट्रेबो, १५–३०
२. स्ट्रेबो, १५–३४

काशीप्रसाद जायसवाल ने इस प्रथा के प्रमाण में अथर्ववेद का मंत्र प्रस्तुत किया है जिसमें लिखा है कि 'तुम लोगों का पान समान होगा, अन्न का भाग भी समान होगा, मैं तुम सब को एक ही मार्ग में युक्त करता हूँ।'[१] अथर्ववेद के उपर्युक्त मंत्र का भाव केवल इतना ही है कि सब लोगों का खान-पान एक सा ही होता था, यह नहीं कि सब लोग एक स्थान पर एकत्र होकर सदैव एक साथ भोजन करते थे।

(३) यूनानियों ने लिखा है कि भारत में इस प्रकार की जनश्रुति थी कि अनेकों पीढ़ियाँ बीत जाने के बाद शहरों में राजतंत्र प्रणाली का अन्त हो गया और प्रजातंत्र शासन-प्रणाली स्थापित की गयी।[२] साथ ही यह भी लिखा है कि अधिकतम शहरों ने प्रजातंत्र शासन स्थापित कर लिया था परन्तु कुछ में सिकन्दर के आक्रमण-काल तक राजतंत्रीय रूप ही था।[३] यूनानी लेखनी पर यूनान का प्रभाव यहां पर स्पष्ट हो जाता है कि वे ग्राम-प्रधान भारत का वर्णन भी यूनानी नगर-राज्यों की भाषा में करते हैं। हम सिद्ध कर चुके हैं कि भारत में राज्य की उत्पत्ति सर्वप्रथम जनतंत्र शासन के रूप में हुई थी, और राजतंत्र का रूप कालान्तर में प्रकट हुआ था। महाभारत-काल में भी हमको गणराज्यों का उल्लेख ही नहीं, अपितु शासन का सिद्धान्त भी मिलता है। महाभारत में पंजाब और कश्मीर के प्रदेशों में अनेक गणराज्यों का अस्तित्व बताया गया है।[४] इसलिए यूनानियों का यह कहना कि भारत में पीढ़ियों तक राजतंत्र रहने के बाद जनतंत्र की स्थापना हुई थी, भारत के सम्बन्ध में उनके अल्प ज्ञान का द्योतक है।

(४) यूनानियों ने एक पाण्डेई राज्य का उल्लेख किया है जिसमें ३०० नगर थे। उनके कथनानुसार यह राज्य स्त्रियों द्वारा शासित था।[४] सम्भव है कि उस समय इस राज्य का प्रबन्ध वहां की रानी के हाथ में हो, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें सब पदाधिकारी स्त्रियां ही होती थीं।

(५) इसी प्रकार यूनानियों ने सिकन्दर की कीर्ति बढ़ाने के लिए अन्य स्थलों पर भी अतिशयोक्ति की है, बहुधा भारतीय सैनिकों की संख्या कई गुनी बढ़ाकर लिखी है। एरियन के मतानुसार सिकन्दर ने भारत की सीमा में सात राष्ट्रों और २००० नगरों पर विजय प्राप्त की थी। प्लिनी ने इन अंकों को और भी बढ़ाकर लिख दिया है। उसके मतानुसार सिकन्दर ने नौ राष्ट्रों और ५००० नगरों को जीता था, इन

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६५
२. डायोडोरस, ३–३८
३. उपर्युक्त ३–३९
४. मेक क्रिण्डल, इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन। पृष्ठ १४७, १९४–९५, २००–२०२

नगरों में से प्रत्येक एक कोस अथवा दो मील से कम विस्तृत न था। इन अंकोंकी असत्यता उपर्युक्त विरोधी कथनों से स्वयं सिद्ध हो जाती है।

(आ) जनतंत्र राज्यों का सर्वेक्षण

(१) कथ

यूनानी लेखकों ने कथ लोगों को भारत की वीरतम जातियों में से एक माना है। कथ राज्य उस समय रावी नदी (हाइड्राओट्स) के पूर्व में था। इसकी राजधानी संकल थी। इन्होंने कुछ अन्य जनतंत्र राज्यों की सहायता से पुरु और अभिसार के राजा को सिकन्दर के आक्रमण से कुछ काल पहले हराया था। सिकन्दर के विरुद्ध इन्होंने शकट-व्यूह की रचना की थी। उनमें स्वयंवर और सती की प्रथा थी। स्ट्रेबो के अनुसार उनमें सबसे अधिक सुन्दर पुरुष को राजा बनाया जाता था।[१] परन्तु यह बात भी यूनानियों की कल्पना की उत्पत्ति है। यह ठीक है कि भारतीय साहित्य में अनेक स्थानों पर राजा के अन्य गुणों के साथ ही, उसका सुन्दर होना भी वांछित गुण था। परन्तु स्ट्रेबो के कथन से प्रतीत होता है कि राजा के चुनाव का आधार केवल सौन्दर्य था। भारतीय साहित्य में राजा के लिए सौन्दर्य से अधिक महत्ता उसकी वीरता और सच्चरित्रता को दी गयी है। कथ लोगों की वीरता की प्रशंसा स्वयं यूनानियों ने की है, अतः वीरता को अवश्य वे प्रथम स्थान देते होंगे।

(२) अद्रेस्तई

ये लोग रावी नदी के पास ही बसे हुए थे। यूनानियों ने इनकी राजधानी को पिप्रम लिखा है। पाश्चात्य विद्वान् इनको अरट्ट मानते हैं, परन्तु डा० के० पी० जायसवाल ने इनको अरिष्ट माना है, जिनका उल्लेख पाणिनि में मिलता है।[२]

(३) सौभूति

यह राज्य कथ-राज्य के पास था, जिसको यूनानियों ने सोफाइटस लिखा है। इसको एम० सिलवेन लेबी ने सौभूति सिद्ध किया है।[३] डायोडोरस के मतानुसार इसकी शासन-व्यवस्था प्रशंसनीय थी। इसमें भी सौन्दर्य को उच्च स्थान प्राप्त था। इसके नागरिक अधिक सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे।[४] इन लोगों में स्वयंवर की प्रथा थी और दहेज की प्रथा नहीं थी।[५] डा० जायसवाल ने लिखा है कि यह स्पष्ट नहीं

---

१. स्ट्रेबो, १५–३०
२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ५५, ५६
३. जर्नल एशियाटिक, ८–१५ पृष्ठ २३७
४. डायोडोरस, १७–९१
५. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ५६

होता कि इस राज्य का राजा निर्वाचित होता था अथवा यह राजतंत्रीय राज्य था। उन्होंने इसको जनतंत्र मानने का कारण यह दिया है कि सौभूति का नाम पाणिनि के गणपाठ में कठों की राजधानी संकल के साथ मिलता हैं, इसलिए कठों की भांति इसका भी जनतंत्रीय राज्य होना सम्भव है।[१] परन्तु डा० यू० एन० घोषाल के मतानुसार इसके राजा का वर्णन यूनानियों द्वारा एक राजतंत्रीय राजा के योग्य किया गया है, इसलिए यह राजतंत्रीय राज्य था।[२] सम्भव है कि यह राज्य पाणिनि के समय में जनतंत्रीय हो और सिकन्दर के समय राजतंत्रीय, क्योंकि इस प्रकार के परिवर्तन भारतीय इतिहास में अन्य राज्यों के सम्बन्ध में भी मिलते हैं।

(४) कुछ जनतंत्र राज्य, जिनका नाम नहीं दिया गया

सिकन्दर जब व्यास नदी पर पहुँचा तो उसने सुना कि नदी पार का देश बड़ा उपजाऊ है और वहां के निवासी अच्छे कृषक और योद्धा हैं। उनका शासन बहुत से सामन्तों द्वारा होता है और सामन्तगण अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करते हैं।[३]

स्ट्रेबो के कथनानुसार इन सामन्तों की संख्या पाँच हजार थी जिनमें से प्रत्येक सामन्त राज्य को एक हाथी देता था।[४] यूनानियों ने इस राज्य का नाम नहीं लिखा है। ऐसा माना जाता है कि यह राज्य यौधेयों का था, जिनके बहुत से सिक्के इस स्थान पर मिले हैं। इन लोगों की बहादुरी की बातें सुनकर सिकन्दर के सैनिकों ने अपना साहस छोड़ दिया था और उन्होंने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया था।

इनके अतिरिक्त सिकन्दर को रावी के तट पर भी अनेक छोटे-छोटे जनतंत्र राज्य मिले थे जिनके नाम यूनानी लेखकों ने नहीं दिये।[५]

(५) क्षुद्रक-मालव

क्षुद्रक और मालव दो जनतंत्र राज्य थे और उन्होंने मिलकर एक संघ बना लिया था। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार यह संघ कात्यायन के समय में था।[६] सिकन्दर ने पहले मल्लोई जाति का सामना किया। यहीं पर किसी एक नगर के घेरे में सिकन्दर बुरी तरह घायल हो गया था। कर्टियस के अनुसार क्षुद्रक-मालव सेना की संख्या एक लाख थी। इस सेना ने सिकन्दर के सैनिकों के छक्के छुड़ा दिये और

---

१. हिन्दू पालटी, पृष्ठ ५६
२. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर, पृष्ठ ४०२
३. एरियन, ५–२५
४. स्ट्रेबो, १५–३७
५. एरियन, ५—२१
६. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ५८

वे पुनः अपने राजा की निन्दा करने लगे थे।[1] यही कारण है कि यूनानियों ने क्षुद्रक-मालव लोगों की बड़ी प्रशंसा की है, परन्तु वे यही प्रकट करते हैं कि इस युद्ध में भी सिकन्दर की जीत हुई थी। कहा जाता है कि मल्लोई लोगों ने घोषणा कर दी थी कि वे सिकन्दर को आत्मसमर्पण करने के लिए तैयार हैं। यूनानी लेखक क्षुद्रकों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कहते। पतंजलि ने इस युद्ध का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने लिखा है कि अकेले क्षुद्रकों ने ही सिकन्दर को जीत लिया था।[2] यूनानी लेखों से भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है। क्षुद्रकों ने एक सौ राजदूत सिकन्दर के पास भेजे थे, जो कि रथों पर आरूढ और बहुमूल्य वस्त्रों से सुसज्जित भव्य वीर थे। सिकन्दर ने इन वीरों के स्वागत में बड़ी शानदार दावत दी। उनको सुनहरी चौकियों पर बैठाया और उनकी दावत में शराब की नदी बहा दी। सिकन्दर से इस प्रकार का सम्मान पाकर ये वीर लोग वापिस लौट गये। यूनानियों द्वारा उक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि क्षुद्रकों को परास्त नहीं किया जा सका था, क्योंकि सिकन्दर हारे हुए लोगों का इस प्रकार सम्मान कभी नहीं करता। ऐसा प्रतीत होता है कि सिकन्दर ने उनसे सन्धि कर ली थी।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने सिद्ध किया है कि क्षुद्रकों-मालवों का यह संघ मौर्य साम्राज्य के बाद तक जीवित रहा था।[3]

(६) अग्रश्रेणी

यूनानी इतिहास लेखकों ने इनको अगसिनेई अथवा अगलरस्वेन लिखा है। यूरोपियन विद्वानों ने इनको अर्जुनायन कहा है परन्तु डा० काशीप्रसाद जायसवाल इनको अग्रश्रेणी कहते हैं।[4] ये लोग क्षुद्रकों के पड़ोस में ही थे और डायोडोरस के कथनानुसार इन्होंने चालीस हजार पैदल व तीन हजार घुड़सवारों से सिकन्दर का सामना किया था।[5] कर्टियस के अनुसार इन्होंने बड़ी वीरता से आक्रमणकारियों का सामना किया था और जब वे उनको न रोक सके तब अपने घरों में आग लगाकर अपने स्त्री-बच्चों को उन्हीं मकानों में जला दिया।[6]

उपर्युक्त घटना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्हें मालूम था कि सिकन्दर के सैनिक विजय-प्राप्ति के बाद लूट-मार और बलात्कार करते थे, क्योंकि

---

१. मेक क्रिण्डल, इनवेजन आफ इण्डिया बाई एलेग्ज़ेण्डर, पृष्ठ २३४
२. एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्।—पतंजलि कृत पाणिनि का भाष्य ५–३–५२
३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६१ नोट
४. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६२, ६३
५. डायोडोरस १७–९६, मेक क्रिन्डल, अलेग्ज़ेण्डर २८५
६. कर्टियस ९–४, मेक क्रिण्डल, अलेग्ज़ेण्डर, पृष्ठ २३२

लोगों की एक सभा को प्राप्त होता है।[1] कर्टियस ने इसको राजतंत्रीय राज्य माना है और इसके राजा का नाम मोरिस लिखा है।[2] यदि हम डायोडोरस और कर्टियस के उपर्युक्त कथनों का समन्वय कर दें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि पटल एक ऐसा राजतंत्रीय राज्य था जिसके दो राजा थे और एक मंत्रिपरिषद्। कौटिल्य ने ऐसे ही राज्य को द्वैराज्य लिखा है। कौटिल्य ने द्वैराज्य के वर्णन में मंत्रिपरिषद् को अधिक महत्व दिया है, क्योंकि उसके मतानुसार दोनों राजाओं में परस्पर विरोध होने पर मंत्रियों द्वारा विरोध दूर किया जाता था। इसी आधार पर पटल राज्य में मंत्रिपरिषद् का महत्व अधिक होगा, जिसको डायोडोरस ने कौंसिल आफ एल्डर्स लिखा है। कौटिल्य के मतानुसार द्वैराज्य में दोनों राजा प्राय: निकट सम्बन्धी होते थे, जैसे कि भाई-भाई अथवा पिता-पुत्र, परन्तु पटल में हमको एक ऐसा उदाहरण मिलता है, जहां द्वैराज्य का शासन दो भिन्न-भिन्न वंशों के राजाओं द्वारा चलाया जा रहा था। सम्भवत: आरम्भ में इस राज्य के दोनों शासक निकट सम्बन्धी होंगे और उनकी संतति पैतृक आधार पर राजपद प्राप्त करती रही होगी।

डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार पटल एक कुलीन गणराज्य था और उसके नागरिक वीर योद्धा थे।[3] डा० यू० एन० घोषाल इसको राजतंत्र और समन्तपर्यायी का मिश्रण बताते हैं। डा० के० पी० जायसवाल का विवरण इसके विषय में अस्पष्ट है। परन्तु हमारे विचार से कर्टियस का इसको राजतंत्र कहना और डायोडोरस का इसमें दो राजाओं और एक कौंसिल आफ एल्डर्स का अस्तित्व बताना, इसको द्वैराज्य सिद्ध करता है।

सिकन्दर के आने से पहले ही पटल के नागरिक सपरिवार अन्यत्र चले गये थे।[4] इस घटना से विदित होता है कि सिकन्दर के सैनिकों के अत्याचार की कहानियाँ वे लोग भली प्रकार सुन चुके थे।

उपर्युक्त राज्यों के अतिरिक्त यूनानियों द्वारा कुछ अन्य जनतंत्र राज्यों का भी उल्लेख किया गया है। इनमें ब्रचमनोई का नाम विशेष उल्लेखनीय है। डायोडोरस ने इसको ब्रचमन का देश कहा है। इस आधार पर डा० जायसवाल ने इसको ब्राह्मणों का देश माना है और पतंजलि के 'ब्राह्मणको नाम जनपद:' कथन से इसकी पुष्टि की है। इस छोटे से प्रजातंत्र ने बहुत अधिक उत्साह और देश प्रेम प्रकट किया था। प्लूटार्क

---

१. मेक क्रिण्डल, एलेग्जेण्डर, पृष्ठ २९६
२. मेकक्रिण्डल, एलेग्जेण्डर, पृष्ठ २५६
३. दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १६९
४. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६६

है सिकन्दर के जीवन-चरित्र में ब्राह्मणों के नगर का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इन दार्शनिकों ने उसे (सिकन्दर को) बहुत कष्ट दिया था, क्योंकि जो राजा लोग सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर लेते थे, उन राजाओं की ये लोग बहुत निन्दा करते थे और स्वतंत्र राज्यों को सिकन्दर के विरुद्ध लड़ाई करने के लिए उकसाते थे।

डा० जायसवाल के मतानुसार फेगलों का राज्य भी जनतंत्र राज्य था।[१] यूनानियों के इस शब्द को कुछ विद्वानों ने संस्कृत का 'भगल' शब्द माना है। पाणिनि के गणपाठ ४–२–८० में त्रैगर्तों के साथ भगल जाति का उल्लेख है। यूनानियों ने जिस स्थान पर फेगलों का संकेत किया है, भारतीय साहित्य में भगल का स्थान भी वहीं बताया गया है। इसी प्रकार का एक राज्य ग्लोकनिकोई अथवा ग्लौसई था।[२] जायसवाल के मतानुसार ये लोग वे ही हैं जिनको काशिका में ग्लौचुकायनक कहा गया है।[३] यूनानियों ने निसियन जनतंत्र राज्य का भी उल्लेख किया है। सिकन्दर ने इनसे एक सौ वीरों को अपने साथ धरोहर के रूप में रखने के लिए माँगा था।

(इ) राज्यों के स्थानों के सम्बन्ध में मतभेद

यूनानी लेखकों द्वारा उल्लिखित राज्यों की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ शंकाएं और मतभेद भी हैं, जिनका यहां पर उल्लेख कर देना उचित जान पड़ता है।

महाभारत में क्षुद्रकों का स्थान पश्चिमी राजपूताने में बताया गया है, जहां सरस्वती नदी का लोप होना लिखा है—यत्र नष्टा सरस्वती।[४] परन्तु यूनानियों ने इनको रावी और चिनाव नदियों के पास बताया है जहां कि वर्तमान माण्ट्‌गुमरी है। सम्भव है कि उन्होंने स्थानान्तरण कर लिया हो।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार यूनानियों के कथित सबरकाई अथवा सवग्रइ[५] लोगों को पाणिनिसूत्र ४–१–१२३ में उल्लिखित शौभ्रेय संघ मानना उचित है।[६]

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६७
२. मेक क्रिण्डल, एलेग्जेण्डर—पृष्ठ १११
३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ६७
४. डा० बी० सी० ला, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनज्म—पृष्ठ ६८–६९
५. मेक क्रिण्डल, एलेग्जेण्डर, पृष्ठ २५२
६. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ४६२

यूनानियों ने स्त्रियों द्वारा शासित जिस पण्डेई राज्य का उल्लेख किया है,[१] उसका कुछ पता नहीं चलता। दक्षिण-भारत में एक पाण्ड्य राज्य का नाम मिलता है परन्तु उसका सम्बन्ध यूनानियों के पण्डेई राज्य से करना उपयुक्त नहीं।

(ई) जनतंत्र राज्यों के शासन और संगठन का मूल्यांकन

यूनानियों के लेखों से किसी राज्य का पूर्ण विवरण नहीं मिलता। उन्होंने कोई बात किसी राज्य के विषय में लिख दी है और कोई अन्य किसी राज्य के विषय में। साथ ही, जैसा कि हम लिख चुके हैं, यूनानियों के सभी लेख शत-प्रतिशत सत्य नहीं हैं। अतः हमको उनके लेखों का निष्कर्ष निकालने पर ही जनतंत्र राज्यों का तत्कालीन संगठन और शासन ज्ञात हो सकता है।

यूनानियों के वर्णन से ज्ञात होता है कि पश्चिमोत्तर भारत में उस समय विभिन्न जनतंत्र राज्यों में तीन प्रकार का संगठन था—(१) जनतंत्र, जिसको यूनानियों ने डिमाक्रेसी कहा है। इन राज्यों में राज्यसभा के सदस्य नागरिकों के प्रत्यक्ष मतों द्वारा निर्वाचित होते थे। (२) कुलीन गणतंत्र, जिसको यूनानियों ने आलीगर्की कहा है। इन राज्यों में राज्यसभा के सभासद् कुलों के आधार पर चुने जाते थे। (३) समन्त-पर्यायी संघ, जिसको यूनानियों ने एरिस्टीक्रेसी कहा है। इन राज्यों में शासन का अधिकार सामन्तों की एक सभा के हाथ में होता था।

एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि यूनानी लोग भारतीय राजा शब्द का सही तात्पर्य नहीं समझते थे। जैसा कि हम सिद्ध कर चुके हैं, भारत में राजा शब्द की उत्पत्ति ही जनतंत्र शासन के साथ सम्बन्धित है। वैदिक काल से गुप्त काल तक यह बात बराबर प्रमाणित होती है कि जनतंत्र राज्यों के प्रधान अध्यक्ष के लिए प्रायः राजा शब्द ही प्रयुक्त किया गया है। साथ ही राजतंत्र राज्य के प्रधान के लिए भी यही राजा शब्द प्रयुक्त होता है। इसलिए केवल राजा शब्द का प्रयोग होने मात्र से ही हम किसी राज्य को राजतंत्र की गणना में नहीं रख सकते। यूनानी लेखकों ने इस शब्द का सही तात्पर्य न समझने के कारण, राजा शब्द का अर्थ अपने देश के किंग अथवा मोनार्क के ही रूप में लिया है, जो कि उनके लिए स्वाभाविक था। उदाहरण के लिए मुसिकनि राज्य के राजा का उल्लेख मिलता है जिसको यूनानियों ने सावरेन लिखा है, परन्तु स्ट्रेबो ने उस राज्य का संगठन जनतंत्र के समान बताया है। इसलिए हमको सावरेन शब्द की अवहेलना करके मुसिकिन को जनतंत्र राज्य ही मानना उचित है। अतः

१. मेक क्रिण्डल, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, पृष्ठ १९४–२००–२०२

इस बात को ध्यान में रखते हुए यूनानी लेखों के आधार पर उपर्युक्त तीनों प्रकार के संगठनों पर विचार करना उचित है।

(१) जनतंत्र

अम्बष्ठ, जिनको यूनानियों ने सम्बस्तई अथवा अवस्तनोई लिखा है उनके मतानुसार जनतंत्र शासन रखते थे, क्योंकि उन्होंने इसको डिमाक्रेसी बताया है।[१] यूनानियों की परिभाषा में डिमाक्रेसी वह राज्य है जहां के प्रत्येक नागरिक को शासन में प्रत्यक्ष मत देने का अधिकार होता है। इससे स्पष्ट है कि वह पूर्णतः जनतंत्र राज्य था। डायोडोरस ने उल्लेख किया है कि उन्होंने अपने वृद्धों की सम्मति मानकर ही सन्धि करने का विचार किया था। इससे डा० जायसवाल जी ने यह मान लिया है कि उनके यहां राज्यसभा के अतिरिक्त दूसरा सदन वृद्धों का था।[२] परन्तु हम उनके विचार से सहमत नहीं, क्योंकि उपर्युक्त कथन का तात्पर्य केवल यह निकलता है कि राज्यसभा के वृद्ध सदस्यों के विचार को उन लोगों ने स्वीकार किया था। राज्यसभा में सामान्यतः वृद्ध और युवक, सभी अवस्थाओं के सदस्य होते थे, जैसा कि लिच्छवियों की सभा के सम्बन्ध में ललितविस्तर के और शाक्यों की सभा के सम्बन्ध में हेरिस डेविड्स के लेखों से प्रमाणित होता है।

मुसिकनि के सम्बन्ध में डा० जायसवाल ने सन्देह प्रकट किया है कि यह नहीं कहा जा सकता कि वह राजतंत्र था अथवा जनतंत्र।[३] डा० यू० एन० घोषाल ने लिखा है कि यूनानी लेखों के आधार पर मुसिकनि के राजा ने पहले अपने को तथा अपने देश को समर्पण करने में असहमति प्रकट की थी, परन्तु दोनों को समर्पण करने के बाद सिकन्दर ने उसको पुनः उसके राज्य पर स्थापित कर दिया। इसलिए स्पष्ट है कि वह राजतंत्रीय राज्य था।[४] परन्तु इस राज्य के राजतंत्रीय होने में निम्नांकित कारणों से सन्देह उत्पन्न होता है—

(क) स्ट्रेबो के कथनानुसार उस राज्य के न्यायालय में केवल वध तथा अन्य जघन्य अपराधों का न्याय किया जाता था। इसका अर्थ है कि दीवानी के झगड़ों पर विचार और न्याय करने के लिए नागरिकों का अपना पृथक्-पृथक् प्रवन्ध होगा। यह व्यवस्था उच्च कोटि के जनतंत्र शासन का लक्षण है।

(ख) स्ट्रेबो के कथनानुसार उनमें दास प्रथा नहीं थी।[५] भारतीय प्राचीन

---

१. मेक क्रिन्डल, अलेग्जेण्डर—पृष्ठ २५२
२. हिन्दू पालिटी—पृष्ठ ६३
३. उपर्युक्त—पृष्ठ ६४
४. स्टडीज इन इण्डियन हिस्टरी एण्ड कलचर, पृष्ठ ४०३
५. स्ट्रेबो, १५—३४

राजतंत्रीय राज्यों में राजा की अनेक दास-दासियों का वर्णन सर्वत्र मिलता है। यदि य राज्य राजतंत्र होता तो इसमें दास-दासियों का होना स्वाभाविक था। इसलिए दास प्रथ का न होना इसके जनतंत्र शासन का प्रमाण है, क्योंकि इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक नागरिक को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे।

(ग) स्ट्रेबो का यह कथन कि वे सब एक साथ भोजन करते थे, उनमें भ्रातृ भाव को प्रदर्शित करता है, जो कि जनतंत्र शासन का उच्च लक्षण माना जाता है।

अतः हमको मानना चाहिए कि यूनानियों ने इस राज्य के लिए राजा अथवा सावरेन शब्द का प्रयोग, राजा शब्द के भारतीय अर्थ को न समझने के कारण ही किया है। हमारे विचार से यह जनतंत्रीय राज्य ही होना चाहिए।

कथ लोगों के वर्णन से पता चलता है कि उनमें भी जनतंत्र-प्रणाली का शासन था। स्ट्रेबो ने लिखा है कि उनमें सबसे सुन्दर व्यक्ति को राजा चुना जाता था। यद्यपि हम उसके इस कथन से सहमत नहीं तथापि इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि उनमें राजा निर्वाचित होता था।

परन्तु यूनानियों द्वारा उल्लिखित डिमाक्रेसी, वास्तव में वैदिक कालीन जनतंत्र का विकृत स्वरूप था। हम देख चुके हैं कि वैदिक कालीन जनतंत्र में जनता को राजनीतिक दृष्टि से पांच भागों में विभक्त माना जाता था—(१) प्रयाजाः, (२) अनुयाजाः, (३) हुतभागाः, (४) अहुतादः और (५) पंचप्रदिशः। इनमें से प्रत्येक भाग अपने वर्ग और क्षेत्र से प्रतिनिधि चुनकर राज्यसभा में भेजता था, और राजा की नियुक्ति जनता द्वारा निर्वाचन तथा राज्यसभा के सदस्यों की स्वीकृति पर होती थी। इस प्रकार शासन में अयोग्य व्यक्ति का पहुँचना कठिन हो जाता था। यूनानियों द्वारा वर्णित जनतंत्र में हमको शासन का यह स्वरूप नहीं मिलता। यद्यपि अम्बष्ठों की सभा में वृद्धों का उल्लेख मिलता है तथापि यूनानियों के डिमाक्रेसी शब्द से विदित होता है कि उनका निर्वाचन जनता द्वारा प्रत्यक्ष मत से ही होता था। सम्भवतः व्यक्ति के गुणों और अवस्था पर विशेष ध्यान दिया जाता होगा।

(२) कुलीन गणतंत्र

क्षुद्रकों और मल्लोइयों का वर्णन यूनानियों ने जिस प्रकार किया है, उससे स्पष्ट है कि उनमें राज्य और शासन का सर्वोच्च अधिकार राज्यसभा को प्राप्त था। इस आधार पर इन राज्यों को लगभग सभी विद्वानों ने गणराज्य माना है। परन्तु डा० जायसवाल का यह कथन कि इनमें राजा नाम का कोई पदाधिकारी नहीं होता था, अनुचित प्रतीत होता है। जब दोनों राज्यों में पृथक्-पृथक् राज्यसभाएं थीं तो उनके सभापति भी अवश्य होंगे, और प्राचीन भारतीय साहित्य में राज्यसभा के सभापति को प्रायः राजा नाम से सम्बोधित किया गया है। क्षुद्रकों और मालवों के संघ के समान

बौद्ध साहित्य में लिच्छवियों और मल्लों का संघ मिलता है, जिसमें लिच्छवियों और मल्लों, दोनों में राजा नामधारी पद थे। प्राचीन भारत के सभी जनतंत्र राज्यों में राजा का उल्लेख है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि क्षुद्रकों और मालवों में भी राजा का पद होगा। यूनानियों ने उसका उल्लेख नहीं किया, इसका कारण यह था कि सिकन्दर के पास उनके प्रतिनिधियों के रूप में सैकड़ों व्यक्ति सामूहिक रूप से गये थे। यह ठीक है कि इन राज्यों में भी अन्य जनतंत्र राजाओं के समान ही राजा के अधिकार नगण्य थे।

(३) समन्तपर्यायी संघ

यूनानियों ने हाइफेसिस अथवा व्यास नदी के पार वाले जिस राज्य का वर्णन किया है, (डा० जायसवाल के मतानुसार यह राज्य यौधेयों का था) उसमें उन्होंने राज्य की शासन-व्यवस्था को ५००० सभासदों की एक सभा के हाथ में बताया है। एरियन ने लिखा है कि इस राज्य का शासन सामन्तों (एरिस्टोकेट) द्वारा होता था, जो कि अपने अधिकारों का प्रयोग न्याय और नम्रता के साथ करते थे।[1] इनके पास बहुत से हाथी थे। स्ट्रेबो ने लिखा है कि इस समन्तपर्यायी राज्य में पाँच हजार सामन्तों की सभा थी, जिनमें से प्रत्येक ने राज्य को एक-एक हाथी दिया था।[2] इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि उस राज्य में अमीर सामन्तों के हाथ में प्रभुता थी। अतः इसको समन्तपर्यायी संघ कहना उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिकन्दर के समय में भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में अनेक जनतंत्र राज्य थे और उनमें विभिन्नता भी थी। उपर्युक्त तीनों प्रकार के जनतंत्रों का उल्लेख भारतीय साहित्य में अन्यत्र भी मिलता है। वैदिक काल के जनतंत्र राज्य पूर्ण गणतंत्र राज्य थे जिनमें प्रजा के प्रत्येक वर्ग के मनुष्यों को शासन में प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त था। महाभारत काल में अन्धक-वृष्णि, भोज, यादव, कुकुर आदि गणराज्य कुलीन गणतंत्र के उदाहरण हैं। बौद्ध साहित्य के प्रसंग में भी इसी प्रकार के अनेक गणराज्यों का विवेचन हम कर चुके हैं। समन्तपर्यायी संघराज्यों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत के विभिन्न युगों और विभिन्न प्रदेशों की भांति पश्चिमोत्तर प्रदेश में जनतंत्र राज्यों का बाहुल्य था।

---

१. एरियन, ५–२५
मेक क्रिण्डल, इनवेजन आफ इण्डिया बाई एलेग्जेण्डर, पृष्ठ १२१

२. स्ट्रेबो, १५–३७
मेक क्रिण्डल, एंशियण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, —पृष्ठ ४५

यूनानियों के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि इस प्रदेश में सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया जाता था और यहां के निवासी संगीत कला से भी विशेष प्रेम रखते थे। कुछ राज्यों में सती की प्रथा भी थी। इन लोगों में स्वतंत्रता के प्रेम के साथ ही उच्च कोटि का दार्शनिक ज्ञान भी पाया जाता था।

ये जनतंत्र राज्य राजा के अतिरिक्त सेनापतियों की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा करते थे और महत्वपूर्ण कार्यों के लिए राजदूतों की नियुक्ति भी बहुमत से की जाती थी। ये दोनों ही बातें हमको बौद्ध साहित्य में उपलब्ध जनतंत्र-राज्यों के वर्णन में भी मिलती हैं।

अध्याय १२

मौर्यकाल में जनतंत्र

मौर्य साम्राज्य पश्चिम में अफगानिस्तान तक विस्तृत था। अशोक के शिलालेख २ में लिखा है कि एण्टिओक्स उसका पड़ोसी था। इण्टिओक्स का राज्य सीरिया और फारस में था। इससे स्पष्ट है कि मौर्य साम्राज्य पश्चिमोत्तर में अफ़गानिस्तान तक विस्तृत था। दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, सातियपुत्र और केरल-पुत्र धुर दक्षिण के राज्यों को छोड़कर शेष सब भाग अशोक के साम्राज्य में था। इतना बड़ा साम्राज्य जितनी शीघ्रता से बना था, उतनी ही शीघ्रता से छिन्न-भिन्न हो गया। इसका कारण है कि इस साम्राज्य का समस्त भाग केन्द्रीय सरकार के अधीन पूर्णतः न था। साम्राज्य के संरक्षण में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे जिनको मौर्य राजाओं ने जीतकर केवल अपना करद बना लिया था, उनका शासन पूर्ववत् ही छोड़ दिया था। इसलिए केन्द्रीय शक्ति का पतन होते ही ये राज्य पुनः स्वतंत्र होकर मौर्य साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर बैठे।

अशोक के शिलालेखों में साम्राज्य के अन्तर्गत ही अनेक राज्यों के नाम दिये गये हैं, जिनसे उपर्युक्त बात सिद्ध हो जाती है कि इन राज्यों का संगठन और शासन पूर्ववत् ही होता रहा था। यूनानी लेखों से भी प्रतीत होता है कि मौर्य काल में अनेक जनतंत्र राज्य थे। डायोडोरस के अनुसार मौर्यकाल में निरीक्षक लोग अपनी रिपोर्ट राजा को देते थे, और जिन राज्यों में राजा नहीं था, उनमें मजिस्ट्रेट को देते थे।[1] एरियन ने भी लिखा है कि कृषक लोग राजा को अथवा स्वतंत्र राज्यों को कर देते थे।[2] अतः इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मौर्यकाल में भी भारत में बहुत से जनतंत्रीय राज्य थे।

(अ) अशोक के समय में जनतंत्र

अशोक के समय के जनतंत्र राज्यों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

---

१. डायोडोरस, २–४०, ४

२. एरियन, इण्डिका, ११, १२

एक में वे जो अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत ही थे, और दूसरे में वे जो उसके साम्राज्य से बाहर थे। प्रथम प्रकार के राज्य पूर्ण स्वतंत्र नहीं थे। वे अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्र थे परन्तु बाह्य सम्बन्ध में वे मौर्य साम्राज्य के संरक्षण में थे और साम्राज्य को कर भी देते थे। अशोक के शिलालेख ५ और १३ के आधार पर इन राज्यों के नाम योन (यवन), कम्बोज, गन्धार, राष्ट्रिक, पितिनिक, भोज, आन्ध्र, पारद और नाभक थे, जो कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में थे। सम्भव है कि इनके अतिरिक्त अन्य प्रदेशों में भी कुछ इस प्रकार के राज्य हों, जैसा कि अशोक के रूपनाथ और सारनाथ के शिलालेखों के 'आहाल' शब्द से प्रतीत होता है।

साम्राज्य के बाहर के जनतंत्र राज्यो में दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अकिति जातक में कबीरपतन का उल्लेख है जो कि काबेरी नदी के तट पर था।.बुद्धदत्त के अनुसार यह शहर चोल राज्य में था।[१] अशोक ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि चोल उसके साम्राज्य के बाहर स्वतंत्र राज्य था।[२] कावेरी नदी के दक्षिण में पाण्ड्य राज्य था। इसकी राजधानी मदुरा का नाम बुद्धघोष ने सुत्त-पतन लिखा है, जिससे विदित होता है कि यहाँ से वस्त्र और सूत का निर्यात होता होगा।.अशोक के समय में यह राज्य भी स्वतंत्र था।[३] केरल का राज्य दक्षिण भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर था। अशोक के समय में यह भी एक स्वतंत्र राज्य था।[४]

(आ) अशोक के शिलालेखों में उल्लिखित जनतंत्र राज्यों की स्थिति

अशोक के शिलालेख ५ में कुछ राज्यों के नाम निम्न प्रकार हैं— (१) योन, (२) कम्बोज, (३) गन्धार, (४) राष्ट्रिक, (५) पितिनिक, (६) अन्य अपरान्त। अपरान्त शब्द का अर्थ पश्चिम सीमावर्ती होता है, जिससे विदित होता है कि उपर्युक्त राज्य अशोक के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पर थे।

अशोक के शिलालेख १३ में कुछ राज्यों के नाम इस प्रकार दिये हुए हैं— (१) योन, (२) कम्बोज, (३) नाभक और नाभपंक्ति, (४) भोज, (५) पितनिक, (६) आन्ध्र, (७) पारद। इस शिलालेख में इनको अपरान्त न कहते हुए इध राजविसयभूहि कहा गया है, जिसका अर्थ होता है—यहाँ राज-विषय

---

१. डा० बी० सी० ला, इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृष्ठ ११४
२. उपर्युक्त, पृष्ठ ११५
३. उपर्युक्त, पृष्ठ ११५
४. उपर्युक्त, पृष्ठ ११५

के अन्तर्गत। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त राज्य अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत ही थे।[1]

शिलालेख १३ में शिलालेख ५ की अपेक्षा नाभक और नाभपंक्ति, भोजक, आन्ध्र, पारद नाम अधिक लिखे हैं, जब कि गन्धार और राष्ट्रिक का उल्लेख शिलालेख १३ में नहीं है। अतः दोनों शिलालेखों को मिलाकर ये नाम नौ हो जाते हैं—(१) योन, (२) कम्बोज, (३) गन्धार, (४) राष्ट्रिक, (५) पितिनिक, (६) नाभक और नाभपंक्ति, (७) भोज, (८) आन्ध्र और (९) पारद।

यवनों का उल्लेख मार्कण्डेयपुराण और महाभारत में भी अनेक स्थलों पर मिलता है। पालि में इनको योन कहा गया है। आरम्भ में आयोनिया से आने वाले लोगों को यवन कहा जाता था, परन्तु मेसिडोनिया और बेक्टिरिया के यूनानियों को भी भारतीय साहित्य में यवन ही कहा गया है।[1] अशोक के शिलालेखों में यवनों का उल्लेख कम्बोजों और गान्धारों के साथ ही किया गया है। महाभारत में भी यवनों का उल्लेख कम्बोजों, गान्धारों, किरातों और बर्बरों के साथ उत्तरापथ के मनुष्यों के रूप में किया गया है।[2] मज्झिम निकाय में भी इसी प्रकार यवनों, कम्बोजों और गान्धारों का साथ-साथ उल्लेख है।[3] इसलिए यह निश्चित हो जाता है कि यवन और कम्बोज भी गन्धार के पास ही भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित थे।

मज्झिम निकाय के अनुसार यवनों और कम्बोजों की समान सभ्यता थी।[4] सिकन्दर के यूनानी लेखकों ने निसियन जनतंत्र का उल्लेख किया था। डा० जायसवाल के अनुसार इसी को अशोक के शिलालेखों में योन राज्य लिखा गया है। इस राज्य के यवन लोग वास्तव में यूनानी थे जो सिकन्दर से बहुत पहले यहाँ आकर बस गये थे। इन्होंने सिकन्दर को अपन यूनानी होने के सन्तोषजनक प्रमाण दिये थे। इनके अध्यक्ष का अकौभी नाम था जो कि काबुल नदी के वैदिक नाम (कुभा) से पड़ा था। इसलिए यवन राज्य कम्बोजों के साथ काबुल नदी के पास में स्थित था।[5]

महाभारत के अनुसार कम्बोजों की राजधानी राजपुर थी जिसको चीनी यात्री ह्वेनसांग ने पून्छ के दक्षिण अथवा दक्षिणपूर्व में बताया है। डा० राय चौधरी के अनुसार कम्बोजों की पश्चिमी सीमा काफिरिस्तान के जिले तक पहुँची होगी जहाँ

---

१. डा० बी० सी० ला, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म—पृष्ठ ८३
२. महाभारत, १२–२०७–४३
३. मज्झिम निकाय, २–१४९
४. उपर्युक्त, २–१४९
५. हिन्दू पालिटी–पृष्ठ १२०–१२१

पर कमोजी अथवा कौमीजी लोग पाये जाते हैं।[१] मज्झिम निकाय के अनुसार यवन और कम्बोजों के समाज में केवल दो ही वर्ग माने जाते थे—स्वामी और दास। उनमें हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था नहीं थी।[२] डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है कि यवनों और गान्धारों के बीच में कम्बोज राज्य स्थित था।[3] एरियन के अनुसार अस्सकेनोई लोग निसियन और पुष्कलावती के बीच में काबुल नदी के तटवासी थे। पुष्कलावती नगर गन्धार राज्य में था। इस प्रकार यूनानी लेखकों ने कम्बोजों को ही अस्सकेनोई कहा है।[४] यह राज्य अच्छे घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।

गान्धारों का नाम भारतीय साहित्य में वैदिक काल से मिलता है। ऋग्वेद १–१२६–७ और अथर्ववेद ५–२२–१४ में गान्धारियों का उल्लेख है। जातकों और महाभारत में गन्धार राज्य की राजधानी तक्षशिला बतायी गयी है, और पुष्कलावती उसका दूसरा बड़ा नगर था।[५] कुम्भकार जातक में गन्धार के राजा नग्गाजी का उल्लेख है। जातकों में अन्य स्थलों पर भी गन्धार के राजाओं को गन्धार-राज कहा गया है। बुद्धघोष के अनुसार मगध के राजा बिम्बिसार के समय में गन्धार का राजा पुक्कुसाति था और बिम्बिसार तथा पुक्कुसाति में मित्रता थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय गन्धार का राजा तक्षशिल था जिसके बाद उसका पुत्र आम्भी सिंहासनारूढ हुआ। दिव्यावदान पृष्ठ ६१ से और अशोक के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि गन्धार मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया था और यवन तथा कम्बोजों के साथ ही उसको भी आन्तरिक प्रशासन की स्वाधीनता मिली हुई थी।[६]

अंगुत्तर निकाय खण्ड ३ में कहा गया है कि कुलपुत्त उन्नति करके राजा, रट्ठिक, पैतनिक, सेनापति, ग्रामगामणिक अथवा पूगगामणिक बन सकता है। इससे विदित होता है कि राज्य में इन नामों के पद होते थे और उन पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति होती थी। डा० जायसवाल ने भी यहाँ पर यही मत प्रकट किया है।[७] इसके अनुसार राष्ट्रिक और पैतनिक राज्य के उच्च पद थे। डा० बी० सी० ला ने भी

---

१. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृष्ठ ८५
२. उपर्युक्त, पृष्ठ १४१–१४२
३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १३९
४. उपर्युक्त, पृष्ठ १४०
५. डा० बी० सी० ला, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, पृष्ठ ८६–८७
६. उपर्युक्त, पृष्ठ ८७–८८
७. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ९८

रट्ठिक, पैतनिक और भोजक को राज्य के तीन विभिन्न उच्च पद माना है।[1] परन्तु अशोक के शिलालेख ५ और १३ में राष्ट्रिक, भोज और पितिनिक शब्द स्वतंत्र अथवा अर्ध-स्वतंत्र राज्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। खारवेल के हाथीगुम्फा लेख में राष्ट्रिकों और भोजकों को विद्याधर के शासकों के रूप में वर्णित किया गया है।[2] इससे निश्चय हो जाता है कि वे स्वतंत्र अथवा अर्ध-स्वतंत्र राज्य थे। जम्बुदीव-पन्नति के अनुसार विद्याधरों की अठारह बस्तियाँ थीं जो विन्ध्याचल की श्रेणियों तक चली गयी थीं।[3] जातकों में सोलह भोजपुत्रों का उल्लेख है, जिसमें सम्भवतः विन्ध्याचल के पार्श्व में इन विद्याधरों की बस्तियों की ओर संकेत है।[4]

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने महाभारत और टोलेमी के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि अहमदाबाद से लगभग चालीस मील दक्षिण-पूर्व में वर्तमान पेटलाद शहर के आसपास पितिनिकों की स्थिति थी।[5] उनके मतानुसार भोजों का राज्य वर्तमान कच्छ के स्थान पर और राष्ट्रिकों का राज्य भोजों और पितिनिकों के मध्य में स्थित था।[6] हमारे विचार से डा० जायसवाल सही स्थान खोजने में समर्थ हुए हैं।

अशोक के शिलालेख ५ में गन्धार शब्द उल्लिखित है, परन्तु शिलालेख १३ में गन्धार के स्थान पर नाभक और नाभपंक्ति लिखा है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इससे यह तात्पर्य निकाला है कि नाभक और नाभपंक्ति गन्धार के पास में ही होना चाहिए।[7] एरियन ने अस्तकेनोई का उल्लेख किया है जिसको डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पाणिनि द्वारा उल्लिखित हास्तिनायन (सूत्र ६-४-१७४) बताया है और उसकी स्थिति स्वात और कुभा नदियों के संगम पर पुष्कलावती के समीप लिखी है।[8] डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने अस्तकेनोई का अर्थ अष्टक-राज्य अर्थात् आठ राज्यों का संघ माना है जिसको अशोक वाला नाभपंक्ति कहा है। इसकी स्थिति जायसवाल ने भी पुष्कलावती के समीप स्वात की घाटी में लिखी है।[9]

---

१. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म—पृष्ठ १७३
२. डा० बी० सी० ला, इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म—पृष्ठ १०६.
३. उपर्युक्त, पृष्ठ १०७
४. उपर्युक्त, पृष्ठ १०७
५. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १३५-१३६
६. उपर्युक्त, पृष्ठ १३६
७. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ११९
८. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ८५
९. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १४०-१४१

अतः डा० जायसवाल के अनुसार गन्धार राज्य का कुछ भाग पृथक् होकर नाभक अथवा नाभपंक्ति के नाम से सम्बोधित होने लगा था।

डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने टोलेमी और पुराणों के आधार पर पारदों की स्थिति वर्तमान अफगानिस्तान में मानी है।[१] इस सम्बन्ध में उनकी खोज सन्तोषप्रद प्रतीत होती है। मत्स्यपुराण में पारद को वक्षु नदी के तट पर बताया गया है। जायसवाल के मतानुसार यह वक्षु नदी ही आक्सस नदी है जिसको चीनी यात्री ह्वेनसांग ने फोत्सु नदी लिखा है।[२] अशोक के शिलालेख १३ में आन्ध्र और पारद साथ साथ लिखे हैं। इस आधार पर डा० जायसवाल आन्ध्र के पारद के पास ही होने का अनुमान करते हैं।[३] अशोक के शिलालेख १३ में जिन राज्यों के नाम उल्लिखित हैं वे सभी भारत के उत्तरपश्चिमी भाग में मिलते हैं, इसलिए उनके साथ ही आन्ध्र का भी इसी दिशा में होना उचित प्रतीत होता है। पुनश्च दक्षिणापथ का आन्ध्र-राज्य तो अशोक के साम्राज्य में लीन हो गया था, अतः उपर्युक्त आन्ध्र दक्षिणी आन्ध्र से भिन्न, उत्तर-पश्चिम में पारदों के पास ही स्थित था, जो कि पड़ोसी राज्यों की भाँति जनतंत्र शासन रखता था।[४] अफगानिस्तान के उत्तरी भाग में वर्तमान अन्दरसुई ही अशोक का उत्तरी आन्ध्र था।[५]

इस प्रकार अशोक के शिलालेख ५ और १३ में उल्लिखित राज्य वर्तमान गुजरात से अफगानिस्तान तक फैले हुए थे।

(इ) उक्त राज्यों के विधान और शासन का विवेचन

अशोक के शिलालेखों से इस बात का कोई पता नहीं चलता कि शिलालेखों में उल्लिखित राज्यों का शासन किस प्रकार का था। सिकन्दर के आक्रमण के समय गन्धार राजतंत्रात्मक राज्य था। बुद्धघोष के अनुसार मगध के राजा बिम्बिसार के समय में गन्धार का राजा पुक्कुसाति था। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने इन सब राज्यों को जनतंत्रात्मक माना है, परन्तु इस प्रकार का कोई माननीय प्रमाण उन्होंने प्रस्तुत नहीं किया। अशोक के शिलालेख १३ में इध-राजविसपम्हि वाक्य का अर्थ स्वयं डा० जायसवाल ने इधर साम्राज्य के अन्तर्गत किया है, फिर उपर्युक्त राज्यों को

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १२३
२. उपर्युक्त, पृष्ठ १२७
३. उपर्युक्त, पृष्ठ १२६
४. उपर्युक्त, पृष्ठ १२६
५. उपर्युक्त, पृष्ठ १३०

अराज-विषय मानकर उनको जनतंत्रात्मक कहा है ।[1] हमारे विचार से तो यह विदित होता है कि मौर्य साम्राज्य में आने से पहले जो राज्य जिस प्रकार का शासन चला रहा था, वह मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत भी उसी प्रकार का शासन चलाता रहा होगा ।

यवन और कम्बोज राज्यों के समाज में दो ही वर्ग थे—स्वामी और दास । इससे विदित होता है कि दास वर्ग राजनीतिक अधिकारों से वंचित होगा और केवल स्वामी वर्ग के लोग शासनाधिकार रखते होंगे ।

डा० जायसवाल ने राष्ट्रिक और भोज शासन-प्रणालियों का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने केवल यही सिद्ध किया है कि उनमें राजा नहीं होता था। वास्तव में उन्होंने राजा शब्द को ही अधिक महत्व दिया है, जब कि हम देख चुके हैं कि भारतीय शासन में जनतंत्र के अध्यक्ष को भी राजा ही कहते थे। इसलिए राजा शब्द के मिलने, न मिलने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, जब तक कि यह प्रकट न हो जाय कि राजा पैतृक आधार पर होता था, अथवा निर्वाचन द्वारा, और उसको क्या-क्या अधिकार प्राप्त थे ।

भोजक, राष्ट्रिक और पैतिनिक नामक राज्य के पद भी थे और पृथक्-पृथक् राज्य भी। अवश्य ही इन शब्दों का प्रयोग पदों और तत्सम्बन्धी राज्यों से कुछ सम्बन्ध रखता होगा। इसलिए इन पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है ।

भुज शब्द की व्याख्या अमरकोश के अनुसार 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' है, जिसका अर्थ है—भोजन और व्यवस्था करना । इससे विदित होता है कि राज्य में भोजक पदाधिकारी का कार्य जनता की आजीविका और आन्तरिक व्यवस्था का प्रबन्ध करना था। इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि भोज राज्य में शासनाधिकारियों के सीमित कर्तव्य होते थे—जनता की आजीविका और आन्तरिक व्यवस्था का प्रबन्ध रखना । जनता के सामाजिक कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। इस सीमा से बाहर के कार्यों से सम्बन्धित समस्याओं को जनता के सभी वर्गों के लोग एकत्र होकर सुलझाते थे। इसी लिए भोज राज्य छोटे-छोटे होते थे ।

इस प्रकार की शासन-प्रणाली पर हम अध्याय ९ में विचार कर चुके हैं । उससे हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि भोज राज्य जनतंत्रीय शासनप्रणाली थी जिसमें शासन के अधिकार बहुत सीमित थे और जनता को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी ।

राष्ट्रिक शब्द भी राज्य के पदाधिकारी और स्वतंत्र राज्य के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। रुद्रदामन के जूनागढ़ के शिलालेख में लिखा हुआ है कि सुदर्शन झील को चन्द्र—

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १३०

गुप्त मौर्य के राष्ट्रिय पुष्पगुप्त ने बनवाया था। यहाँ पर राष्ट्रिय शब्द राज्य के पदाधिकारी के रूप में मिलता है। डा० बेनीप्रसाद और डा० डी० आर० भण्डारकर के अनुसार पुष्पगुप्त सौराष्ट्र का गवर्नर था, अतः इस के पद को राष्ट्रिय कहा गया है। डा० राय चौधरी के अनुसार पुष्पगुप्त का पद मौर्य साम्राज्य के हाई कमिश्नर के समान था, जो कि सौराष्ट्र के संरक्षित राज्यों के ऊपर नियुक्त था। डा० बी० एम० बरुआ के अनुसार पुष्पगुप्त गिरिनार का मेयर, श्रेष्ठ व्यापारी और प्रभावशाली सामन्त था।[1]

डा० यू० एन० घोषाल ने उपर्युक्त सब मतों का आलोचनात्मक विवेचन किया है। उन्होंने डा० बरुआ के मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि डा० बरुआ द्वारा उल्लिखित जातक ५ पृ० १७८ गद्यांश में रट्ठिक को नैगमों के साथ ही गिना गया है जो धनिक वर्ग और सामन्तों का बोधक है, जब कि बुद्धघोष के अनुसार राष्ट्रिय शब्द राज्य के एक उच्च पद का बोधक है।[2] डा० राय चौधरी के मत का खण्डन इस आधार पर किया जाता है कि तत्कालीन सौराष्ट्र में अनेक संरक्षित जनतंत्र राज्य नहीं थे। अशोक के शिलालेखों में जो राज्य उल्लिखित हैं, वे भारत के पश्चिमोत्तर भाग में थे। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य का उपर्युक्त राष्ट्रिय पदाधिकारी गुजरात के किसी जिले का जिलाधीश होगा, जो कि मौर्य साम्राज्य के पश्चिमी भारत के वाइसराय के अधीन होगा जिसका मुख्य स्थान उज्जैन में था।[3]

जातक ५ पृष्ठ १७८ के गद्यांश में 'रट्ठिक नेगमादयो' से विदित होता है कि रट्ठिक शब्द निगम आदि व्यावसायिक, औद्योगिक अथवा आर्थिक संघों से सम्बन्धित था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि निगम आदि आर्थिक संघों के प्रबन्ध के लिए राष्ट्रिक और महाराष्ट्रिक पदाधिकारी होते थे। बुद्धघोष के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पदाधिकारी राज्य की ओर से नियुक्त होते थे, जिनका कर्तव्य राज्य के अन्तर्गत आर्थिक संघों का प्रबन्ध और व्यवस्था करना था। सम्भवतः इनकी नियुक्ति राज्य के धनिक वर्ग के व्यक्तियों में से होती थी जो कि इन आर्थिक संघों के कार्यों का अनुभव रखते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के राष्ट्रिय अथवा राष्ट्रिक पुष्पगुप्त ने सुदर्शन झील के बनवाने में अपना निजी धन भी पर्याप्त मात्रा में व्यय किया था, जिससे उसका धनी व्यक्ति होना सिद्ध होता है। साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि

---

१. डा० यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर—पृष्ठ ४३९–४४०

२. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर—पृष्ठ ४४०–४४१

३. उपर्युक्त, पृष्ठ ४४२–४४३

कृषक वर्ग के हित राष्ट्रिक से सम्बद्ध थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कृषकों के भी संगठन आर्थिक संघों के रूप में होते थे।

राष्ट्रिक पदाधिकारी के उपर्युक्त कार्यों को जानकर, हम राष्ट्रिक राज्य के सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगा सकते हैं। हमारे अनुमान से राष्ट्रिक राज्य में शासनाधिकार आर्थिक संघों के आधार पर होता होगा। प्रत्येक आर्थिक संघ का एक निर्वाचित पदाधिकारी राष्ट्रिक कहलाता होगा और इस प्रकार के सब राष्ट्रिक मिलकर राज्यसभा के रूप में संगठित होते होंगे। इस प्रकार हमारे विचार से यह ऐसा जनतंत्र शासन था जिसमें आर्थिक संघों अथवा गिल्डों को प्रधानता दी जाती थी।

पैतनिक शब्द के अर्थ में डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर विरोधी भाव प्रकट किये हैं। हिन्दू पालिटी अध्याय १२ पृष्ठ ९८ पर उन्होंने मूर्धाभिषिक्त राजा, राष्ट्रिक, पैतनिक, सेनाध्यक्ष, ग्रामग्रामणी और पूगग्रामणी—इन सभी पदों को निर्वाचित पद बताया है, जब कि उसी ग्रन्थ में अध्याय १० पृष्ठ ७५ पर पैतनिक शब्द का अर्थ पैतृक अथवा वंशानुक्रमिक बताया गया है। राष्ट्रिक के समान पैतनिक शब्द भी दो भिन्न-भिन्न भावों में प्रयुक्त पाया जाता है—राज्य के उच्च-पदाधिकारी के अर्थ में और पैतनिक अथवा पितिनिक राज्य के रूप में।

अंगुत्तर निकाय ३–७६ में रट्ठिक और पैतनिक पृथक्-पृथक् पद नहीं लिखे गये हैं।[1] उसके अनुसार कुलपुत्र के पांच धर्म बताये गये हैं—(१) मूर्द्धाभिषिक्त राजा होना, (२) पैतनिक रट्ठिक होना, (३) सेनापति होना, (४) गामग्रामणिक होना और (५) पूगग्रामणिक होना। प्रत्येक पद को 'यदि वा' शब्द से पृथक् किया गया है। यदि हम रट्ठिक और पैतनिक नामक दो भिन्न-भिन्न पद मान लें तो पदों की संख्या छः हो जाती है, जब कि प्रथम ही उनको पांच पद बताया गया है। इसलिए यहाँ पर रट्ठिक और पैतनिक पृथक्-पृथक् पद मानकर डा० जायसवाल ने भूल की है। यहाँ पर 'यदि वा रट्ठिकस्स पैतनिकस्स' का अर्थ होगा अथवा पैतृक रट्ठिक का पद। पैतनिक शब्द रट्ठिक का विशेषण है। इससे सिद्ध होता है कि रट्ठिक के पद पर पैतृक आधार पर नियुक्ति होती थी। अंगुत्तर निकाय का उपर्युक्त पद लिच्छवियों से सम्बन्धित है। लिच्छवियों में निर्वाचित पदों पर भी नियुक्ति करते समय पैतृक अधिकार को मान्यता दी जाती थी। चीरवस्तु में लिखा है कि लिच्छवियों के सेनापति

---

१. येस्सा कस्सचि महानाम कुलपुत्तस्स पंच धम्म सम्बिज्जन्ति, यदि वा रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धाभिसित्तस्स यदि वा रट्ठिकस्स पेतनिकस्स यदि वा सेनाया सेनापतिकस्स यदि वा गामगामनिकस्स यदि वा पूगगामनिकस्स ये वा पन कुलेसु पच्चेकाधिपच्चम कारेन्ति। अंगुत्तर निकाय ३–७६

खण्ड की मृत्यु के उपरान्त लिच्छवि लोग इस रिक्त पद के निर्वाचन के लिए सभा में एकत्र हुए। कुछ लोगों ने खण्ड के बड़े पुत्र को सेनापति बनाने का प्रस्ताव रखा। अन्य सभासदों ने खण्ड के प्रथम पुत्र की अपेक्षा उसके छोटे पुत्र सिंह को अधिक उपयुक्त बताया। इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने पर खण्ड के छोटे पुत्र सिंह को सेनापति बना दिया गया।[1]

अतः यह अस्वाभाविक नहीं था कि रट्ठिक के पद पर पैतृक आधार को अपनाया जाता था। डा० बी० सी० ला ने भी पैतनिक को राज्य का एक उच्च पद माना है परन्तु उन्होंने इसका कोई कारण नहीं दिया है।[2]

वास्तव में बौद्ध काल में अधिकांश गणराज्यों में राज्य के सभासद् पद पर पैतृक अधिकार माना जाने लगा था और इस प्रकार वे कुलीन गणतंत्र से समन्तपर्यायी रूप में परिवर्तित होते जा रहे थे। पैतनिक राज्य में भी शासनाधिकार राज्य के संस्थापक कुलों अथवा सामन्तों को प्राप्त होता था, जो कि पैतृक आधार पर उनके उत्तराधिकारियों को मिलता था। पैतनिक शब्द का अर्थ पैतृक अथवा वंशानुक्रमिक होता है। इस आधार पर पैतनिक राज्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त अनुमान उचित जान पड़ता है, अतः पैतनिक राज्य समन्तपर्यायी संघराज्य थे। यहाँ पर हम डा० जायसवाल से सहमत हैं।

(ई) दक्षिणापथ में जनतंत्र

अशोक के समय में दक्षिण के कुछ राज्य उसकी सीमा से बाहर थे, जिनमें केरल, चोल, पाण्ड्य के सम्बन्ध में उनके जनतंत्र होने के कुछ प्रमाण मिलते हैं। मलयालम भाषा में केरलोत्पत्ति नामक ग्रन्थ और संस्कृत भाषा में केरलमाहात्म्य नामक ग्रन्थ में इनका वर्णन प्राप्त होता है। केरलोत्पत्ति के अनुसार परशुरामजी ने यह देश जीतकर ६४ गाँवों के ब्राह्मणों को दे दिया था। चार गाँवों के ब्राह्मणों को उन्होंने ६४ गाँवों का प्रतिनिधित्व दिया था। कालान्तर में जब इस प्रकार शासन चलने में बाधा हुई, तब सब गाँवों के ब्राह्मणों ने मिलकर यह निश्चय किया कि प्रति चार गाँव मिलकर एक संरक्षक चुनें। कालान्तर में ये अधिकारी भी अत्याचार करने लगे, तब ब्राह्मणों ने फिर सभा की और उन चार गाँव के लोगों को राजा चुनने के लिए कहा। इसके अनुसार उन्होंने केय पेरुमाल नामक एक प्रसिद्ध पहाड़ी को राजा चुना। यह घटना सन् २१६ ई० के लगभग की है। अपने चुने हुए राजा को गद्दी पर बैठाने से पूर्व उससे कुछ प्रतिज्ञाएं करायी गयीं जिनके अनुसार न्याय-व्यवस्था ब्राह्मणों के ही हाथों में रही। केय पेरुमाल का

---

१. डा० यू० एन० घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर, पृष्ठ ३७१
२. इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म—पृष्ठ १७३

राज्यकाल बारह वर्ष निश्चित किया गया था परन्तु उसने आठ वर्ष ही राज्य किया। केय पेरुमाल के बाद ब्राह्मणों ने चोल मण्डल से चोय पेरुमाल को राजा चुना। इसने दस वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद पाण्ड्य पेरुमाल राजा चुना गया। इस प्रकार प्रत्येक राजा निर्वाचन द्वारा नियुक्त किया जाता रहा और समय-समय पर ग्राम-संस्थाओं का पुनर्गठन करके राजा के कार्यों की देखभाल का कार्य उनको दिया गया। निर्वाचित राजा का कार्यकाल १२ वर्ष रहता था, परन्तु प्रजा और राजा की इच्छा से यह अवधि घट-बढ़ भी सकती थी। केरलमाहात्म्य में लिखा है कि आनागोंदी कृष्णराय नामक राजा की अवधि १२ वर्ष बीत जाने पर पुनः १२ वर्ष के लिए बढ़ा दी गयी थी।[1]

उपर्युक्त ग्रन्थों का ऐतिहासिक महत्व क्या है, यह जानना इतिहास का विषय है। इनसे इतना अवश्य विदित होता है कि भारत के दक्षिणी भाग के राज्यों में जनतंत्रात्मक शासन बहुत समय तक रहा। मि० डब्लू० लोगन ने मलाबार नामक पुस्तक में महामल उत्सव का उल्लेख किया है जो पुन्नानी नदी के उत्तर में तिरुणाबाई मन्दिर में सन् १७४३ तक मनाया जाता था। इस उत्सव का मूल भी यह बताया जाता है कि १२ वर्ष तक राज्य करने के बाद राजा एक टीले पर खड़ा होता था और जनता के योद्धा उसको युद्ध में मार देते थे। उसके बाद नये राजा का निर्वाचन १२ वर्ष की अवधि के लिए होता था।[2]

अतः मौर्यकाल में जनतंत्र के विभिन्न रूपों का अनुमान भोज, राष्ट्रिक, पैतनिक आदि राज्यों के शासन से किया जा सकता है। इनकी शासन-पद्धति के लिए विशेषतः अनुमान से ही काम लेना पड़ता है, क्योंकि इसके प्रमाणस्वरूप कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है।

---

१. हिन्दू राज्यशास्त्र, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी कृत—पृष्ठ ६५–६६
२. अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी कृत हिन्दू राज्यशास्त्र—पृष्ठ ६७

अध्याय १३

शुंगकाल में जनतंत्र-राज्य और उनका अन्त

मौर्यकाल में अधिकांश प्राचीन जनतंत्र-राज्य समाप्त हो गये थे। उनमें से कुछ शक्तिशाली राज्य बच गये थे जो शुंगकाल में भी दिखाई देते हैं। इस काल में कुछ नये जनतंत्र-राज्य भी उत्पन्न हो गये थे जो कि कुछ समय बाद ही विलीन हो गये प्रतीत होते हैं। परन्तु साक्षी रूप में वे अपने सिक्के छोड़ गये हैं जिनसे भारतीय इतिहास में उनका अस्तित्व प्रकट होता है।

इतिहासकारों का मत है कि मौर्यकाल के बाद उत्तर-पश्चिम दिशा से विदेशियों के निरन्तर आक्रमण और आगमन के कारण पंजाब की स्वातंत्र्यप्रिय जातियों ने राजपूताने की ओर स्थानान्तरण किया था। परन्तु महाभारत में इसके विपरीत प्रमाण मिलते हैं। सभापर्व के मत से अर्जुन ने त्रिगर्तों को दार्व और कोकनदों के साथ उत्तर-पश्चिम दिशा में जीता था।[1] इसी उद्देश्य से प्रस्थान करके पश्चिम दिशा में जाने वाले नकुल ने, सभापर्व के अनुसार त्रिगर्तों को शिबि, अम्बष्ठ, मालव आदि के साथ जीता था।[2] इससे स्पष्ट है कि त्रिगर्त नाम के दो राज्य भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही समय में वर्तमान थे, जिनमें से एक को अर्जुन और दूसरे को नकुल ने जीता था। अध्याय ३२ में शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, पञ्चकर्पट, माध्यमिक, वाटधान और पुष्कलवनवासी आदि को मरुभूमि और सिन्धु नदी के बीच में बताया गया है, क्योंकि (सभापर्व ३२–५) नकुल मरुभूमि को जीतकर (सभापर्व ३२–७, ८) उपर्युक्त राज्यों को जीतते हैं और फिर (३२–९) सिन्धु नदी के तट पर पहुँच जाते हैं,। परन्तु (अध्याय ५२) शिबियों, त्रिगर्तों, यौधेयों, राजन्यों और मद्रों का उल्लेख कश्मीर और केकय देश के लोगों के साथ हुआ है, तथा अम्बष्ठों को क्षुद्रक-मालव लोगों के साथ रखा गया है।[3]

---

१. ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा।
   क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः॥ सभापर्व २७–१८

२. तान्दशार्णान्स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः।
   शिबीं स्त्रिगर्तानम्बष्ठान्मालयान् पंचकर्पटान्॥ सभापर्व २३–७

३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १४८–१४९

एक ही पर्व में शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव आदि का भिन्न-भिन्न स्थानों पर अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि ये जातियां आरम्भ से ही विविध स्थानों पर बस गयी थीं, और जहाँ जो जाति बस गयी, वहीं उस जाति के नाम से राज्य का नाम पड़ गया। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इनका स्थानांतरण पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण नहीं हुआ, अपितु स्वेच्छा से ही ये लोग विविध स्थानों पर बस गये थे।

शुंगकाल और उसके पश्चात् हमको बहुधा जनतंत्र राज्यों का अस्तित्व राजपूताने और उसके आसपास के भूभागों में ही मिलता हैं, इससे विदित होता है कि पंजाब के जनतंत्र राज्य मौर्य साम्राज्य के बाद विलुप्त हो गये थे। इस अध्याय में हम शेष जनतंत्र राज्यों की अन्तिम झांकी पर विचार करेंगे।

(१) यौधेय

यौधेयों की अदमनीय वीरता का उल्लेख रुद्रदामन के द्वितीय शताब्दी ईसवी के शिलालेख में मिलता है।[१] चतुर्थ शताब्दी ईसवी के समुद्रगुप्त के शिलालेख में भी उनका उल्लेख है।[२] इससे सिद्ध होता है कि यौधेयों के स्वतंत्र राज्य का अस्तित्व चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक रहा था। उनके सिक्के भी चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक के, यमुना और सतलज मध्य के भूभाग में मिलते हैं। देहली के पास सोनीपत में उनके सिक्के बड़ी संख्या में मिले हैं।[३]

सिकन्दर के आक्रमण के समय यौधेयों के अस्तित्व का अनुमान व्यास नदी के पूर्व में लगाया गया था। रुद्रदामन का सामना यौधेयों के साथ पश्चिमी राजस्थान में हुआ था।[४] इससे विदित होता है कि वे लोग पूर्व में यमुना नदी तक और दक्षिण में पश्चिमी राजपूताने तक फैल गये थे। इनके कुछ सिक्कों पर 'द्वि' और कुछ पर 'त्रि' लिखा हुआ मिलता है।[५] इससे प्रतीत होता है कि इनके तीन राज्यों का एक संघ था। डा० अलटेकर के मतानुसार एक राज्य की राजधानी रोहतक थी, दूसरा राज्य उत्तर पंचाल प्रदेश में था जिसको बहुधान्यक कहते थे, और तीसरे राज्य में राजपूताने का उत्तरी भाग था।[६]

यौधेयों के सिक्कों पर विविध प्रकार के लक्षण और चिह्न मिलते हैं। शुंगकाल

---

१. एपिग्राफिया इण्डिका, ८–४४
२. फ्लीट, गुप्त इस्क्रिप्शंस–पृष्ठ ८
३. वी० स्मिथ, सी० सी० आई० एम०, १–१६५, १८१
४. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १४४
५. कनिंघम, सी० ए० आई०, १–७५ ७९
६. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११९

अध्याय १३

शुंगकाल में जनतंत्र-राज्य और उनका अन्त

मौर्यकाल में अधिकांश प्राचीन जनतंत्र-राज्य समाप्त हो गये थे। उनमें से कुछ शक्तिशाली राज्य बच गये थे जो शुंगकाल में भी दिखाई देते हैं। इस काल में कुछ नये जनतंत्र-राज्य भी उत्पन्न हो गये थे जो कि कुछ समय बाद ही विलीन हो गये प्रतीत होते हैं। परन्तु साक्षी रूप में वे अपने सिक्के छोड़ गये हैं जिनसे भारतीय इतिहास में उनका अस्तित्व प्रकट होता है।

इतिहासकारों का मत है कि मौर्यकाल के बाद उत्तर-पश्चिम दिशा से विदेशियों के निरन्तर आक्रमण और आगमन के कारण पंजाब की स्वातंत्र्यप्रिय जातियों ने राजपूताने की ओर स्थानान्तरण किया था। परन्तु महाभारत में इसके विपरीत प्रमाण मिलते हैं। सभापर्व के मत से अर्जुन ने त्रिगर्तों को दार्व और कोकनदों के साथ उत्तर-पश्चिम दिशा में जीता था।[1] इसी उद्देश्य से प्रस्थान करके पश्चिम दिशा में जाने वाले नकुल ने, सभापर्व के अनुसार त्रिगर्तों को शिबि, अम्बष्ठ, मालव आदि के साथ जीता था।[2] इससे स्पष्ट है कि त्रिगर्त नाम के दो राज्य भिन्न-भिन्न स्थानों में एक ही समय में वर्तमान थे, जिनमें से एक को अर्जुन और दूसरे को नकुल ने जीता था। अध्याय ३२ में शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, पञ्चकर्पट, माध्यमिक, वाटधान और पुष्कलवनवासी आदि को मरुभूमि और सिन्धु नदी के बीच में बताया गया है, क्योंकि (सभापर्व ३२–५) नकुल मरुभूमि को जीतकर (सभापर्व ३२–७, ८) उपर्युक्त राज्यों को जीतते हैं और फिर (३२–९) सिन्धु नदी के तट पर पहुँच जाते हैं,। परन्तु (अध्याय ५२) शिबियों, त्रिगर्तों, यौधेयों, राजन्यों और मद्रों का उल्लेख कश्मीर और केकय देश के लोगों के साथ हुआ है, तथा अम्बष्ठों को क्षुद्रक-मालव लोगों के साथ रखा गया है।[3]

---

१. ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ सभापर्व २७–१८

२. तान्दशार्णान्स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः ।
शिबीं स्त्रिगर्तानम्बष्ठान्मालवान् पंचकर्पटान् ॥ सभापर्व २३–७

३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १४८–१४९

एक ही पर्व में शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव आदि का भिन्न-भिन्न स्थानों पर अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि ये जातियां आरम्भ से ही विविध स्थानों पर बस गयी थीं, और जहां जो जाति बस गयी, वहीं उस जाति के नाम से राज्य का नाम पड़ गया। इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इनका स्थानांतरण पश्चिम से होने वाले आक्रमणों के कारण नहीं हुआ, अपितु स्वेच्छा से ही ये लोग विविध स्थानों पर बस गये थे।

शुंगकाल और उसके पश्चात् हमको बहुधा जनतंत्र राज्यों का अस्तित्व राजपूताने और उसके आसपास के भूभागों में ही मिलता हैं, इससे विदित होता है कि पंजाब के जनतंत्र राज्य मौर्य साम्राज्य के बाद विलुप्त हो गये थे। इस अध्याय में हम शेष जनतंत्र राज्यों की अन्तिम झांकी पर विचार करेंगे।

(१) यौधेय

यौधेयों की अदमनीय वीरता का उल्लेख रुद्रदामन के द्वितीय शताब्दी ईसवी के शिलालेख में मिलता है।[१] चतुर्थ शताब्दी ईसवी के समुद्रगुप्त के शिलालेख में भी उनका उल्लेख है।[२] इससे सिद्ध होता है कि यौधेयों के स्वतंत्र राज्य का अस्तित्व चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक रहा था। उनके सिक्के भी चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक के, यमुना और सतलज मध्य के भूभाग में मिलते हैं। देहली के पास सोनीपत में उनके सिक्के बड़ी संख्या में मिले हैं।[३]

सिकन्दर के आक्रमण के समय यौधेयों के अस्तित्व का अनुमान व्यास नदी के पूर्व में लगाया गया था। रुद्रदामन का सामना यौधेयों के साथ पश्चिमी राजस्थान में हुआ था।[४] इससे विदित होता है कि वे लोग पूर्व में यमुना नदी तक और दक्षिण में पश्चिमी राजपूताने तक फैल गये थे। इनके कुछ सिक्कों पर 'द्वि' और कुछ पर 'त्रि' लिखा हुआ मिलता है।[५] इससे प्रतीत होता है कि इनके तीन राज्यों का एक संघ था। डा० अलटेकर के मतानुसार एक राज्य की राजधानी रोहतक थी, दूसरा राज्य उत्तर पंचाल प्रदेश में था जिसको बहुधान्यक कहते थे, और तीसरे राज्य में राजपूताने का उत्तरी भाग था।[६]

यौधेयों के सिक्कों पर विविध प्रकार के लक्षण और चिह्न मिलते हैं। शुंगकाल

---

१. एपिग्राफिया इण्डिका, ८–४४
२. फ्लीट, गुप्त इस्क्रिप्शंस–पृष्ठ ८
३. वी० स्मिथ, सी० सी० आई० एम०, १–१६५, १८१
४. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १४४
५. कनिंघम, सी० ए० आई०, १–७५ ७९
६. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११९

के सिक्कों पर हाथी और सांड़ के चित्र हैं तथा 'यौधेयानाम्' लिखा हुआ है। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर कार्तिकेय देवता का चित्र है और उनका नाम भी अंकित है। कार्तिकेय का वाहन मयूर माना जाता है, इसलिए यौधेयों को महाभारत में मयूरक कहा गया है।[१] तीसरे प्रकार के सिक्कों पर 'यौधेयगणस्य जय' लिखा हुआ है।

यौधेयों में राज्य के अध्यक्ष को महाराज कहते थे और वह ही सेनापति भी होता था। भरतपुर के एक लेख में, जो चतुर्थ शताब्दी का माना जाता है, उनके महाराज और महासेनापति के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है।[२] एक लेख में उनकी विज्ञप्ति मिलती है, जिसमें लिखा हुआ है—'यौधेयगण पुरस्कृत महाराज महासेनापते—'[३] होशियारपुर में मिली मुद्राओं पर 'यौधेयानाम् जय मंत्रधरा नाम्' लिखा है,[४] जिससे प्रतीत होता है कि राज्यसभा के सदस्यों को अथवा राजा के मंत्रिमण्डल के मंत्रियों को मंत्रधर कहते थे।

यौधेय लोग अपनी वीरता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। परन्तु चौथी शताब्दी के बाद उनके लोप हो जाने का कोई कारण अवश्य होना चाहिए, जो अब तक अज्ञात है। बहावलपुर के पास सतलज के तटवासी जेहिया राजपूत यौधेयों के वंशज माने जाते हैं।[५]

(२) मद्र

सिकन्दर के आक्रमण के समय कठ लोगों ने बड़ी बहादुरी के साथ सिकन्दर का सामना किया था। इनकी राजधानी शाकल थी जिसको वर्तमान सियालकोट माना जाता है। इन्हीं कठ लोगों को कालान्तर में मद्र कहा गया है—ऐसा इतिहासकारों का मत है।[६] मद्र देश झेलम और रावी नदियों के मध्य का मैदान था,[७] जो किसी समय ब्यास नदी तक फैल गया था।[८] समुद्रगुप्त ने इनका भी उल्लेख किया है।[९] इससे सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी ईसवी तक इनका महत्वपूर्ण स्थान था। परन्तु

---

१. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट०, पृष्ठ ११९
२. फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शंस—पृष्ठ २५१
३. विजयगढ़ शिलालेख, फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शंस पृष्ठ २५२.
४. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १४५
५. उपर्युक्त पृष्ठ १४५
६. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२०
७. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १६०
८. उपर्युक्त, पृष्ठ १६०
९. फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ ८

उसके बाद इनका कोई संकेत नहीं मिलता। यौधेयों की भाँति ये भी सदा के लिए लुप्त हो गये।

(३) मालव और क्षुद्रक

मालवों और क्षुद्रकों ने सिकन्दर का बड़ी बहादुरी से सामना किया था और मालवों के युद्ध में सिकन्दर बुरी तरह आहत भी हो गया था। उस समय मालव लोग रावी और चिनाव नदियों के मध्य के भूभाग में थे और क्षुद्रक उनके दक्षिण में थे।[१] महाभारत में भी मालव और क्षुद्रकों का उल्लेख साथ-साथ मिलता है।[२] पाणिनि ने भी मालव और क्षुद्रक का उल्लेख किया है। परन्तु बाद में क्षुद्रकों का लोप हो जाता है और केवल मालव ही ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग आधुनिक अजमेर के आस-पास दिखाई देते हैं। इससे अनुमान लगाया जाता है कि क्षुद्रक लोग पूर्णतः मालवों में विलीन हो गये थे। डा० के० पी० जायसवाल के मतानुसार ५८ ई० सन् से पहले मालवों ने अजमेर के पश्चिम में उत्तर मद्रों पर घेरा डाला था और नहपान की सेना ने वह घेरा हटाया था।[३] डा० ए० एस० अलटेकर के मतानुसार मालव लोग आधुनिक मालवा के स्थान पर लगभग तीसरी शताब्दी ईसवी में आये थे।[४] डा० जायसवाल के मतानुसार उन्होंने समुद्रगुप्त के समय में गुप्त-साम्राज्य का संरक्षण स्वीकार कर लिया था।[५] चतुर्थ शताब्दी ईसवी के बाद स्वतंत्र राज्य के रूप में उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता।

मालवों के उपलब्ध सिक्कों से पता चलता है कि उनमें गणतंत्र-राज्य था। उनके सिक्कों पर 'मालवानाम्' जय' 'मालवजय' और 'मालवगणस्य' लिखा हुआ मिलता है।[६]

(४) आर्जुनायन

आर्जुनायन जनतंत्र राज्य का उल्लेख शुंगकाल से पहले नहीं मिलता। इससे पता चलता है कि इस राज्य की उत्पत्ति संभवतः शुंगकाल में लगभग २०० ई० पूर्व में हुई थी। डा० अलटेकर के अनुसार यह राज्य आगरा-जयपुर के भूभाग पर ई० पूर्व २०० से ४०० ई० के लगभग तक रहा।[७] उसके सिक्के प्रथम शताब्दी पूर्व के मिलते

---

१. मेक क्रिन्डल, इनवेजन आफ एलेग्ज़ेण्डर दि ग्रेट, पृष्ठ १३८
२. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२०
३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १४६
४. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १२०–१२१
५. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १५९
६. केटेलाग आफ काइन्स इन इण्डियन म्यूज़ियम, पृष्ठ १७०–१७४
७. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ११९

है, जिन पर 'आर्जुनायनान्' और 'आर्जुनायनानाम् जय' लिखा हुआ मिलता है।[१] इससे सिद्ध होता है कि यह जनतंत्र-राज्य था। समुद्रगुप्त ने मालव, यौधेय, मद्रक, आभीर आदि के साथ ही आर्जुनायनों का भी उल्लेख किया है।

(५) कुकुर

कुकुर जनतंत्र राज्य महाभारत के प्रसिद्ध अन्धक-वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज संघ में सम्मिलित था। इससे सिद्ध होता है कि यह आधुनिक गुजरात प्रदेश में एक जनतंत्रात्मक राज्य था। कौटिल्य ने भी कुकुर राज्य का उल्लेख राजशब्दोपजीवी संघों की श्रेणी में किया है। बलश्री के शिलालेख में इनका उल्लेख मिलता है,[२] जो कि डा० के० पी० जायसवाल के मतानुसार ५८ ई० पूर्व का है।[3] रुद्रदामन के जूनागढ़ वाले शिलालेख में भी कुकुरों का उल्लेख मिलता है जो कि द्वितीय शताब्दी ईसवी का है।[४] ऐसा विदित होता है कि इनका लोप रुद्रदामन के शासनकाल में ही हो गया था।

(६) वृष्णि

यह महाभारत काल का प्रसिद्ध गणराज्य था जिसने अन्धकों के साथ मिलकर अन्धक-वृष्णि संघ बनाया था। पाणिनि ने भी सूत्र ६–२–३४ में अन्धक-वृष्णि संघ का उल्लेख किया है। पतंजलि ने इस संघ के अक्रूर और वासुदेव के दो दलों का उल्लेख किया है। वृष्णि गणराज्य के सिक्के उपलब्ध हैं जिन पर ब्राह्मी भाषा तथा खरोष्ठी लिपि में 'वृष्णि-राजन्य-गणय-त्रातस्य' लिखा हुआ है। इस लिपि से इन सिक्कों का समय लगभग १०० ईसवी पूर्व माना जाता है।[५] इन सिक्कों पर 'चक्र' का चिह्न बना हुआ है जो श्री कृष्ण के चक्र की ओर संकेत करता है। ऐसा विदित होता है कि शक-बर्बरों के द्वारा इस राज्य का अन्त कर दिया गया था।

(७) राजन्य

कुछ सिक्के ऐसे मिले हैं जिन पर केवल 'राजन्य जनपदस' लिखा हुआ है।[६] यद्यपि राजन्य शब्द को पाणिनि ने मूर्धाभिषिक्त राजा के वंशजों के लिए प्रयुक्त किया है, जैसा कि पाणिनिसूत्र ४–१–१३७ 'राजश्वशुराद्यत्' से विदित होता है, परन्तु

---

१. बी० स्मिथ, सी० सी० आई० एम०, १–१६६ एवं रेप्सन, इण्डियन काइन्स प्लेट ३–२०

२. एपिग्राफिया इण्डिका, ८–६०

३. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ ५२

४. एपिग्राफिया इण्डिका, ८—४४

५. कनिंघम, काइन्स आफ एंशियण्ट इण्डिया—पृष्ठ ७०, प्लेट ४–१५

६. उपर्युक्त, पृष्ठ ६९

कात्यायन उसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि 'राजन्यो भवति क्षत्रियश्चेत्', राजन्य शब्द से केवल क्षत्रिय अपत्य का ही बोध होता है। इसका भाव यह है कि राजा अथवा मूर्धाभिषिक्त राजा, जिनको शासन में भाग लेने का अधिकार होता था, अन्य वर्णों के भी होते थे, इसलिए कात्यायन ने स्पष्ट किया था कि अन्य वर्णों के राजाओं की सन्तान को राजन्य नहीं कह सकते, केवल क्षत्रिय अपत्य के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग होगा। इसी को काशिका ने भी स्पष्ट किया है कि 'राजन्यग्रहणं हि अभिषिक्त-वंश्यानां क्षत्रियाणां ग्रहणार्थम्', राजन्य शब्द अभिषिक्त वंशों के क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होता है। इस व्याख्या की आवश्यकता ही सिद्ध करती है कि अभिषिक्त वंश के राजा अन्य वर्णों के भी थे। अतः राजन्य शब्द से सिद्ध होता है कि उपर्युक्त राजन्य-जनपद क्षत्रियों का जनतंत्र राज्य था, उसमें अन्य वर्णों को शासनाधिकार प्राप्त नहीं था। पाणिनि के सूत्र ४–२–५३ 'राजन्यादिभ्यो वुञ्' से विदित होता है कि यह सूत्र राजन्य नामक जनपद की ओर संकेत करता है। यह जनपद आधुनिक होशियारपुर जिले में था क्योंकि इसके सिक्के होशियारपुर जिले में और मथुरा के आस-पास पाये गये हैं। इन सिक्कों की लिपि खरोष्ठी है जिससे विदित होता है कि ये सिक्के ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी के हैं। सम्भवतः उसके बाद यह राज्य भी लुप्त हो गया।

वि० स्मिथ ने इन सिक्कों के विषय में क्षत्रिय वर्ण के सिक्के होने का मत प्रकट किया है।[1] परन्तु सिक्के किसी वर्ण विशेष के नहीं हो सकते, इनका सम्बन्ध तो राज्य से ही होता है। इसलिए इन सिक्कों से क्षत्रियों के एक राजन्य जनपद नामक राज्य का अस्तित्व स्पष्ट होता है। सिक्कों पर किसी का व्यक्तिगत नाम न होने से यह भी सिद्ध होता है कि यह जनतंत्र राज्य था और इसका शासन क्षत्रिय राजन्यों द्वारा चलाया जाता होगा। काँगड़ा जिले के पहाड़ी भाग में रहने वाले क्षत्रिय अब भी अपने को राणा कहते हैं।

(८) नाग और मालव

डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार राजपूताने के मालव लोग नाग वंश से विशेषतः सम्बन्धित थे। नाग वंश के सम्राटों का शासनकाल १५० ई० से २८४ ई० तक रहा था। एरन सिक्कों पर नाग का चित्र बना हुआ है। माल्वों ने जयपुर के पास करकोट नगर को अपनी राजधानी बनाया था जिसका नाम करकोटक नामक नाग के नाम पर रखा गया था। डा० जायसवाल के मतानुसार नाग लोगों और मालवों की भाषा भी एक ही है।[2] नाग वंश के लोग भी पहले पंजाब के जनतंत्र राज्यों के

---

१. वी० स्मिथ, सी० सी० आई० एम०, १–१६४

२. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १५५

निवासी थे और मालव लोगों के साथ उनका घनिष्ठता का सम्बन्ध था।[१] डा० वि० स्मिथ के अनुसार नाग वंश के सिक्के मालव सिक्कों से बहुत मिलते-जुलते हैं।[२] नागकाल में मालव, यौधेय, कुनिन्द सबने अपने-अपने सिक्के ढाले थे, इससे सिद्ध होता है कि नाग लोगों की सहायता से उपर्युक्त जनतंत्र पुनः स्वतंत्र हो गये थे। पद्मावती के नाग सिक्कों के समय के ही मालव सिक्के द्वितीय शताब्दी ई० के मिलते हैं।[३] यौधेयों के सिक्के भी द्वितीय शताब्दी ई० के मिलते हैं[४] और कुनिन्द सिक्के तृतीय शताब्दी ई० के मिलते हैं।[५] मालव राज्य के दक्षिण में उनसे मिला हुआ ही नाग राज्य था।[६]

(९) जनतंत्र राज्यों का अन्तिम इतिहास

द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व से चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक का समय भारतीय इतिहास में जनतंत्र राज्यों के अन्तिम उत्थान का समय था। इस काल में बहुधा जनतंत्र राज्य राजपूताने में और उसके आस-पास दिखाई देते हैं। उपलब्ध सिक्कों और शिलालेखों से इस काल में अनेक नये जनतंत्रात्मक राज्यों के नाम प्राप्त होते हैं। समुद्रगुप्त के शिलालेख में प्रार्जुन, काक, आभीर, खरपरिक और सनकानिक नामों का उल्लेख है। शिबि, महाराज जनपद, राजन्य महमित, औदुम्बर आदि के उपलब्ध सिक्के अधिकांशतः इसी काल के हैं। शिबि लोगों के सिक्के चित्तौर के पास राजपूताने में मिले हैं जिन पर 'मझिमिकाय शिवि जनपदस'[७] लिखा है, जो कि प्रथम शताब्दी ई० पूर्व के माने जाते हैं। कुछ सिक्कों पर ब्राह्मी और खरोष्ठी में 'महाराज जनपदस' लिखा हुआ मिला है।[८] इन पर साँड़ और बालचन्द्र का चित्र है। कुछ सिक्कों पर ब्राह्मी और खरोष्ठी में 'राजन्यमहमितस' लिखा हुआ है।[९] औदुम्बरों के सिक्के उत्तरी पंजाब के भागों में मिले हैं जिन पर ब्राह्मी और खरोष्ठी में 'महदेवस रणघरघोषस औदुंबरिस'

---

१. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १५५
२. सी० सी० आई० एस०, पृष्ठ १६४
३. रेप्सन, इण्डियन काइन्स, १२–१३
सी० सी० आई० एम०, पृष्ठ १६७–१७७
४. उपर्युक्त, पृष्ठ १६५
५. रेप्सन, इण्डियन काइन्स, पृष्ठ १२
६. हिन्दू पालिटी, पृष्ठ १५९
७. कनिंघम, ए० एस० आर०—१४–१४६
८. कनिंघम, सी० ए० आई०, पृष्ठ ६९
९. उपर्युक्त, पृष्ठ ६९

लिखा हुआ मिलता है।[1] इन पर एक वृक्ष, एक कुटिया, एक ऋषि और ध्वजा का चित्र है तथा विश्वमित्र लिखा हुआ है।

इस वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपर्युक्त राज्य जनतंत्रात्मक थे। परन्तु उनकी शासन-प्रणाली पर इससे कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

गुप्तकाल के कुछ पहले मालवा में तीन जनतंत्र राज्यों का एक संघ के रूप में उदय हुआ जिनके नाम विष्णुपुराण में पुष्यमित्र, मधुमित्र और पद्ममित्र मिलते हैं। ब्रह्माण्डपुराण में इनको 'त्रिमित्राः' कहा गया है, जिससे विदित होता है कि इन तीनो का एक संघ होगा। भागवत में पुष्यमित्र को राजन्य कहा गया है जिससे विदित होता है कि ये क्षत्रिय वंशज थे। स्कन्दगुप्त के शिलालेख में पुष्यमित्र शब्द बहुबचन में 'पुष्यमित्रान्' प्रयुक्त हुआ है,[2] जिससे विदित होता है कि यह राज्य गणराज्य था। यह शिलालेख गाज़ीपुर जिले के भीतरी नामक स्थान पर है, जिसमें समुद्रगुप्त और पुष्यमित्रों के युद्ध का वर्णन है। इस लेख से प्रतीत होता है कि पुष्यमित्रों ने गुप्त साम्राज्य की जड़ हिला दी थी और वह अत्यन्त शक्तिहीन हो गया। सम्भवतः उसके पतन का यही कारण बन गया था।

पाँचवीं शताब्दी ईसवी में हमको लिच्छवियों और पुष्यमित्रों के दो ही जनतंत्र-राज्य दिखाई देते हैं। लिच्छवियों ने गुप्त साम्राज्य के उत्थान में सहायता की थी और चन्द्रगुप्त प्रथम से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया था। गुप्त साम्राज्य के सिक्कों पर चन्द्रगुप्त प्रथम के नाम से साथ-साथ लिच्छवियों का नाम भी अंकित है। सम्भवतः गुप्तसाम्राज्य के साथ ही लिच्छवियों का राज्य भी लुप्त हो गया, और पाँचवीं शताब्दी के बाद पुष्यमित्रों का भी इतिहास में कोई संकेत नहीं मिलता। इस प्रकार छठी शताब्दी ईसवी से भारत के इतिहास में जनतंत्र राज्यों का अस्तित्व ईसवी सन् १९४७ तक के लिए लुप्तप्राय हो जाता है।

(१०) जनतंत्र राज्यों के लोप के कारण

हम देख चुके हैं कि शासन की प्रसिद्ध जनतंत्र प्रणाली, जिसका जन्म भारत में 'आदि काल में' हुआ था, और जिसने समय के प्रभाव से अनेक विभिन्न स्वरूप धारण किये, पाँचवीं शताब्दी ईसवी के बाद भारतीय प्राचीन इतिहास से सर्वथा लुप्त हो गयी। हमारे विचार से इसके इस प्रकार लुप्त हो जाने के कारण भी दीर्घकालीन और अनेक

---

१. कनिंघम, सी० ए० आई०, पृष्ठ ६६–६८
रेप्सन, इण्डियन काइन्स, प्लेट ३–८

२. स्कन्दगुप्त का भीतरी का शिलालेख,
फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शंस पृष्ठ ५३–५४

थे, इसलिए उन कारणों पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है। इन कारणों को हम दो भागों में विभाजित करना उचित समझते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष कारणों में हम कह सकते हैं कि बौद्धकालीन उत्तर-प्रदेश और बिहार के जनतंत्रीय राज्य मगध और कोसल राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा के कारण नष्ट हो गये। पंजाब के जनतंत्रीय राज्यों की शक्ति को सिकन्दर के आक्रमण ने अत्यन्त क्षीण कर दिया था, और मौर्य साम्राज्य ने उनको अपने संरक्षण में रखकर उनके स्वातन्त्र्य प्रेम की भावना को दबा दिया था। इसलिए शक और हूणों के आक्रमणों से वे न संभल सके और अपनी स्वतंत्रता सदैव के लिए खो बैंठे। इसी प्रकार राजपूताने और गुजरात के जनतंत्रीय राज्यों को शुंग, कलिंग और आन्ध्र राज्यों ने शक्तिहीन कर दिया था और गुप्त साम्राज्य ने उनका, तथा साथ ही अपना भी, अन्त कर दिया।

परन्तु जनतंत्र के अन्त होने के उपर्युक्त कारण ही वास्तविक कारण न थे। उनके गर्भ में कुछ महत्वपूर्ण परोक्ष कारण थे जिन्होंने भारत में जनतंत्र राज्यों की जड़ खोखली कर रखी थी। उन पर विस्तृत रूप से विचार करना आवश्यक है।

भारतीय विद्वान् पैतृक गुणों को बहुत महत्व देते थे। महाभारत और धर्मशास्त्रों में यह सिद्धान्त सर्वत्र मिलता है। इसलिए जिन पदों पर निर्वाचन द्वारा नियुक्ति होती थी, उन पर भी बहुधा गत पदाधिकारियों के पुत्रों की ही नियुक्ति की जाती थी। इसका ऐतिहासिक प्रमाण लिच्छवियों के सेनापति खण्ड की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र सिंह को सेनापति निर्वाचित करने की घटना से स्पष्टतः मिलता है। वास्तव में सर्वप्रथम यही कारण गणतंत्र राज्यों को राजतंत्र के रूप में परिवर्तित करने का था। इसके परिणामस्वरूप शनै-शनैः यह प्रथा पड़ गयी कि राजा का पद गत राजा के पुत्रों में से ही किसी को दिया जाय और यथासम्भव प्रथम पुत्र को ही दिया जाय। इस प्रथा से राजपद वंशानुक्रमिक बन गया, जिसने जनतंत्र का रूप राजतंत्र में परिणत कर दिया और उसका कार्यकाल आजीवन बना दिया। वैधानिक रूप से अब भी अत्याचारी और अयोग्य राजा को पदच्युत करने का अधिकार प्रजा को था, परन्तु साधारण जनता अपने इस अधिकार के प्रति सचेत नहीं थी। मुख्यतः यह कार्य मंत्रियों और राजपुरोहित पर छोड़ा गया था। आवश्यकता पड़ने पर प्रायः कोई वीर नेता जनता में अपने उपर्युक्त अधिकार की स्मृति और चेतना जाग्रत करता था, तब जनता उस पर अमल करती थी। इस कथन की पुष्टि जातकों की अनेक कथाओं से होती है।

आरम्भ में मंत्रियों की नियुक्ति का कार्य राजा के अधिकार में नहीं था। वैदिककालीन जनतंत्र में जनता ही राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन करती थी और राज्यसभा ही मंत्रियों की नियुक्ति करती थी। परन्तु राजा का पद वंशानुक्रमिक और आजीवन

हो जाने से, शनैः-शनैः मंत्रियों की नियुक्ति का कार्य राजा के हाथ में आ गया। इससे राजा की शक्ति बहुत बढ़ गयी, क्योंकि राजा अपने अनुकूल मंत्रियो की नियुक्ति करने लगा तथा पदलोलुपता वश मंत्रियों की प्रवृत्ति प्रायः राजा की हाँ में हाँ मिलाने की होने लगी। इस प्रकार राजा को कुमार्ग पर जाने से रोकने का कर्तव्य मंत्रियों ने त्याग दिया। परिणामस्वरूप राजा की शक्ति बहुत बढ़ गयी और उसमें स्वच्छन्दता आने लगी।

जब मंत्रियों ने राजा को सन्मार्ग पर लाने का कार्य छोड़ दिया, तब विद्वान् ब्राह्मणों ने राजा और जनता का पथ-प्रदर्शन करने के लिए धर्मशास्त्रों की रचना की, जिसमें राजा और प्रजा के कर्तव्यों का विस्तृत विवेचन किया गया। परन्तु स्मृतियों और धर्मशास्त्रों की विधियाँ किसी राज्य विशेष के लिए नहीं बनायी गयीं, इसलिए देश-काल के प्रभाव का उनमें कोई ध्यान नहीं रखा गया। अतः वे आदर्श राज्य के चित्र को केवल सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत करती थीं। फिर भी लोकमत को जाग्रत करने के लिए किसी भी नेता द्वारा उनका प्रयोग सफल रूप से किया जा सकता था।

विधि-निर्माण का कार्य राज्य के क्षेत्र से बाहर होने के कारण, राजा की स्वच्छन्दता में वह अतिरेक नहीं आ पाया, जो यूरोपीय इतिहास में पाया जाता है। व्यक्तिगत रूप में स्वच्छन्द होने पर भी, वह बहुधा जनता पर अत्याचार करने का साहस बहुत कम करता था। भारतीय प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि राजा के अत्याचारी सिद्ध हो जाने पर, लोकमत के प्रभाव से या तो उसको पदच्युत होना पड़ा या उसका वध कर दिया गया। इसलिए प्राचीन भारत में बहुत काल तक प्रायः धर्म-मर्यादित राजतंत्र ही पाया जाता है। इस धर्म-मर्यादित राजतंत्र में स्थानीय, धार्मिक और आर्थिक संस्थाओं को बहुत स्वतंत्रता प्राप्त होती थी। वे अपनी विधियाँ बनाने और उनके अनुकूल अपनी आन्तरिक व्यवस्था रखने में पर्याप्त स्वतंत्र रहती थीं। अपनी संस्थाओं के आन्तरिक विवादों को निपटाने के लिए उनकी निजी न्याय-व्यवस्था भी होती थी और राज्य उसको मान्यता देता था। इसलिए धर्म-मर्यादित राजतंत्र में भी जनसाधारण पर्याप्त स्वतंत्रता का अनुभव करता था। फलतः जन-साधारण राज्य के जनतंत्रीय स्वरूप के लिए चिन्तित दिखाई नहीं देता।

जनतंत्र के लोप हो जाने का दूसरा बड़ा कारण सामन्ततंत्र है। किसी नये राज्य की स्थापना में प्रायः एक वंश के व्यक्ति एक स्थान पर बसकर उसके आस-पास की भूमि पर स्वामित्व प्राप्त कर लेते थे। जन-संख्या अधिक न होने के कारण, बहुत से जंगली प्रदेशों में खाली भूमि की कमी न थी। अतः जो कुटुम्ब जितनी भूमि कृषियोग्य बना लेता था, उतनी भूमि का स्वामी वह समझा जाता था। इस नयी आबादी की शासन-व्यवस्था प्रायः उन गृहपतियों द्वारा मिलकर की जाती थी, और इस नये राज्य का नाम उनके वंशीय नाम पर पड़ जाता था। इस प्रकार नये राज्य जनतंत्र के रूप में

उत्पन्न होते थे । शनैः-शनैः इन राज्यों की आबादी बढ़ती जाती थी और भूमिपति श्रमिकों द्वारा कृषिकार्य कराने लगते थे तथा स्वयं सामन्त का रूप प्राप्त कर लेते थे। इस प्रकार प्रथम जनतंत्र शनैः-शनैः सामन्ततंत्र का रूप ग्रहण करने लगता था।

प्राचीन भारत में उच्च पदाधिकारियों को नकद धनराशि के रूप में वेतन देने की प्रथा न थी। उनको उनके वेतन के अनुसार भूमि दे दी जाती थी, जिसके कारण वे सामन्त का रूप ले लेते थे। जब कोई बड़ा राज्य किसी छोटे राज्य पर विजय प्राप्त करता था, तो बहुधा वह पराजित राज्य को अपना करदायी बनाकर अपने संरक्षण में ले लेता था। इस प्रकार वह पराजित राज्य भी एक बड़े सामन्तीय रूप को ग्रहण कर लेता था।

राजतंत्र में उत्तराधिकार का नियम भी सामन्तों की उत्पत्ति में सहायक होता था। प्रायः राजा के ज्येष्ठ पुत्र को राजपद मिल जाता था, परन्तु अन्य पुत्रों को कुछ ग्रामों की सामन्तता मिलती थी। इस प्रकार राज्य सामन्तों में विभाजित होता रहता था।

अतः जनतंत्र और राजतंत्र दोनों प्रकार के राज्य प्रायः सामन्तों में विभाजित रहने लगे। डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार गुप्तकाल के लेखों से यह बात स्पष्टतम रूप में प्रतीत होती है कि तत्कालीन साम्राज्य सामन्तों में विभाजित था और राज्य का रूप सामन्तों का संघ हो गया था। राजा अथवा महाराज भी अब सामन्तों का सरदार मात्र था। सामन्त अथवा महासामन्त का भी यही अर्थ था। बड़े सामन्तों के अधीन छोटे-छोटे सामन्त होते थे।[१]

बौद्धकाल में गणतंत्र राज्यों का स्वरूप प्रायः समन्तपर्यायी हो चुका था। इसी लिए कौटिल्य ने भी उनको सामन्तों का संघ ही माना है। शुंग और गुप्त काल के जनतंत्र राज्य भी वास्तव में समन्तपर्यायी राज्य थे। समन्तपर्यायी गणतंत्र में और राजतंत्र में अधिक अन्तर नहीं रहता। क्योंकि गुप्तकाल में दोनों ही प्रकार के राज्य सामन्तों में विभाजित थे, इसलिए साधारण जनता के लिए दोनो समान रूप में थे। अपितु बड़े और शक्तिशाली राज्य की जनता अपेक्षाकृत अधिक सुखी रहती थी, क्योंकि छोटे-छोटे राज्य बहुधा आपस में लड़ते रहते थे। इसलिए जनता की रुचि गणतंत्र से हटकर राजतंत्र की ओर झुकने लगी। जनता का समर्थन प्राप्त न कर सकने के कारण गण-तंत्र का लोप हो जाना स्वाभाविक हो गया था।

गणराज्यों की शक्ति क्षीण होने का एक कारण जाति-प्रथा भी थी। गणराज्य की शक्ति उसके सामन्तों में विभाजित रहती थी। जाति-प्रथा सामन्तों में बहुधा उच्च-

---

१. दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ २८५

नीच की भावना उत्पन्न कर देती थी, इसलिए उनमें स्वच्छन्दता के साथ-साथ पारस्परिक भेद-भाव भी बढ़ जाता था जो कि उनकी आन्तरिक शक्ति के लिए घातक सिद्ध होता था ।

यही जातिप्रथा छोटे-छोटे गणराज्यों के संघरूप में संगठित होने में बाधक सिद्ध होती थी। भारतवासी गणराज्यों को संघरूप में संगठित करना जानते थे, जैसा कि महाभारत काल के अन्धक-वृष्णि, यादव, कुकुर-भोजसंघ से और बौद्धकाल के लिच्छवि-विदेह संघ से प्रमाणित होता है। सिकन्दर के समय में भी क्षुद्रक—मालव संघ मिलता है। परन्तु जाति-प्रथा बहुधा उनमें उच्च-नीच की भावना उत्पन्न कर देती थी, इसलिए वे संगठित होकर भी अपने को एक दूसरे से भिन्न मानते थे। शत्रु उनमें सरलता से भेदभाव उत्पन्न करने में सफल हो जाता था। इसलिए वे संघ अधिक समय तक संगठित नहीं रह सकते थे। सिकन्दर के समय में पंजाब में अनेक छोटे-छोटे जनतंत्र राज्य दिखाई देते हैं। सिकन्दर का पुरु से युद्ध होने पर पंजाब के सभी राज्यों को यूनानियों के भारत-प्रवेश का पता अवश्य चल गया होगा। यदि वे चाहते तो सभी जनतंत्र राज्यों की सेना को संगठित करके एक स्थान पर ही सिकन्दर का सामना कर सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। महाभारत के युद्ध में लगभग सभी राज्यों की सेनाएं एक स्थान पर एकत्र हो सकी थीं, तब सिकन्दर के समय में भी ऐसा हो सकता था। ऐसा न होने का कारण यही विदित होता है कि जाति प्रथा के कारण उनमें उच्च नीच की भावना, द्वेष और स्वार्थ प्रबल रूप में व्याप्त हो चुका था।

उपर्युक्त वर्णन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल में जनता की रुचि गणतंत्र की अपेक्षा राजतंत्र की ओर अधिक थी। गणतंत्र स्थापित करने में केवल सामन्तों का स्वार्थ निहित था, क्योंकि राजतंत्र के सामन्तों की अपेक्षा गणतंत्र के सामन्त अधिक स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता का अनुभव करते थे। राजतंत्र में सामन्तों पर केन्द्र का नियंत्रण रहता था इसलिए वे अधिक स्वतंत्र और स्वच्छन्द नहीं हो सकते थे। गणतंत्र में सामन्त लोग स्वयं एकत्रित होकर केन्द्र का शासन चलाते थे। केन्द्रीय शासन में प्रत्येक सामन्त का प्रतिनिधित्व था। इसलिए गणतंत्र के सामन्त अधिक स्वतंत्र और स्वशासित थे। परन्तु उनकी स्वच्छन्दता और प्रभुता का मद ही उनमें ईर्ष्या और द्वेष के भाव उत्पन्न करके पारस्परिक भेदभाव और कलह का कारण बन जाता था। इसलिए बहुधा उनकी शक्ति आपस में टकराकर ही क्षीण हो जाती थी। भारतीय इतिहास में बहुत समय तक यह स्थिति रही कि जब कोई साम्राज्य प्रबल हो जाता था तो ये सामन्त उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते थे, और उस साम्राज्य की शक्ति क्षीण होते ही अपने स्वतंत्र गणराज्य बना लेते थे। इस प्रकार बहुत से नये गणराज्य बनते-बिगड़ते रहते थे। परन्तु यह स्थिति दीर्घ काल तक सम्भव न हो सकी, क्योंकि इस स्थिति में सामन्तों

को भी शान्ति नहीं मिलती थी और शासन-व्यवस्था अस्थिर तथा स्वच्छन्द रहती थी। जनता भी इस स्थिति के विरुद्ध रुचि रखती थी। इसलिए सामन्तों को अपनी नीति बदलनी पड़ी और उन्होंने अल्प शक्ति के छोटे-छोटे गणराज्य बनाने-बिगाड़ने की नीति छोड़कर बड़े साम्राज्य के संरक्षण में रहना ही अधिक श्रेयस्कर समझा।

इस प्रकार भारतीय इतिहास से प्राचीन गणतंत्र के लोप होने के परोक्ष कारण ही अधिक महत्वपूर्ण थे। कुछ विद्वान् यह मानते रहे हैं कि स्मृतियों, पुराणों आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों में राजतंत्र की ही सराहना और प्रचार किया गया है, इसलिए ब्राह्मण-धर्म जनतंत्र के विरुद्ध था और वही उसको नष्ट करने का मुख्य कारण बन गया। परन्तु हम लिख चुके हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में आवश्यकता पड़ने पर राजतंत्र को धर्म-मर्यादित बनाये रखने के लिए ही राजतंत्र की विधियों की विस्तृत व्याख्या की गयी थी। डा० यू० एन० घोषाल का मत है कि ऐतिहासिक तथ्य यह सिद्ध नहीं करते कि प्राचीन भारतीय राजनीति में जनतंत्रीय राज्यों और जनतंत्रीय संस्थाओं की अवहेलना करते हुए ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखे गये थे।[1] गुप्तकाल के शताब्दियों बाद तक के लेखों में उत्तरी पश्चिमी भारत में पौर-जानपदों तथा दक्षिणी भारत में ग्राम-सभाओं का अस्तित्व मिलता है जिनका संगठन सभी जातियों और वर्गों के मनुष्यों द्वारा होता था और जिनको स्थानीय शासन के अनेक अधिकार मिले हुए थे।[2] इसलिए गणतंत्र के लोप होने का कारण ब्राह्मणों का विरोध नहीं, अपितु जनता की अरुचि ही थी, क्योंकि गणतंत्र के विकृत रूप समन्तपर्यायी संघ की अपेक्षा धर्म-मर्यादित राजतंत्र में जनता को अधिक स्वतंत्रता और सुख का अनुभव होता था।

१. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर, पृष्ठ २९८
२. उपर्युक्त, पृष्ठ २९९

अध्याय १४

जनतंत्र राज्यों की शासन-व्यवस्था का सर्वेक्षण

प्रत्येक देश की राजनीति और इतिहास पर वहाँ की भौगोलिक स्थिति का प्रभाव बहुत पड़ता है। यह प्रभाव, आवागमन के साधनों की कमी के कारण प्राचीन काल में अपेक्षाकृत अधिक पड़ता था। यूनान देश की भौगोलिक अवस्था के प्रभाव से ही वहाँ नगरराज्यों की उत्पत्ति हुई थी। परन्तु भारत की भौगोलिक अवस्था यूनान से सर्वथा भिन्न है। इसी कारण यहाँ की राजनीतिक विचारधारा और इतिहास भी भिन्न होना स्वाभाविक था। अतः भारतीय राजनीतिक विचारों में और यहाँ की राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक संस्थाओं के रूपों में यूरोपीय विचारों और संस्थाओं से बहुत कम समता मिलती है। भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विचारों का उद्‌गम वेदों से होता है। वास्तव में वैदिक विचारधारा ही विकसित होकर विभिन्न संस्थाओं में, विभिन्न युगों में, विभिन्न रूप धारण करती रही है।

डा० बेनीप्रसाद के मतानुसार उत्तरी भारत की समतल भूमि ने आरम्भिक काल से ही राजतंत्रीय विस्तृत राज्यों को उत्पन्न किया था, क्योंकि विस्तृत समतल भागों में स्थित प्रत्येक राज्य अपने अधिकाधिक विस्तार की इच्छा रखता था और तदनुसार प्रयास भी करता था। आवागमन के साधनों की कमी के कारण विस्तृत राज्यों में प्रत्यक्ष जनतंत्र शासन चलना असम्भव था, इसलिए यहाँ राजतंत्र से ही राज्य का आरम्भ हुआ।[1] परन्तु हमारे विचार इसके विपरीत हैं। यह तो माननीय है कि उत्तरी भारत के समतल भूभागों में प्राकृतिक विभाजन का अभाव था, परन्तु आरम्भिक काल में जन-संख्या की कमी के कारण अधिकांश भाग जंगलों से आच्छादित होगा। जिस स्थान पर कुछ मनुष्य बस जाते थे उसके आसपास की भूमि को कृषियोग्य बनाकर अपनी छोटी सी प्रशासकीय इकाई बना लेते थे। इस प्रकार वैदिक काल में राज्य विस्तृत नहीं थे और इसलिए उनमें जनतंत्रीय शासन सम्भव था। परन्तु फिर भी हम मान सकते हैं कि वे राज्य यूनानी नगरराज्यों की अपेक्षा बड़े होंगे, क्योंकि वैदिककालीन

---

१. दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ४, ५ और ८

शासन में जनतंत्र की प्रतिनिधि प्रणाली ही अपनायी गयी विदित होती है। इसका विवेचन हम अध्याय पाँच में कर चुके हैं।

डा० बेनीप्रसाद ने हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था को भी जनतंत्र में बाधक और राजतंत्र में सहायक माना है। उनके मतानुसार वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति की स्वतंत्रता के मूल पर प्रहार करती थी और उसके कारण वैयक्तिक गुणों का उचित मूल्यांकन नहीं होता था। इस लिए शासन में केवल क्षत्रियों का ही अधिकार हो गया था और मंत्रिपद तथा विधि पर ब्राह्मणों का अधिकार था।[1] परन्तु उपर्युक्त विचार वर्ण-व्यवस्था के केवल विकृत रूप के सम्बन्ध में ही उचित प्रतीत होते हैं। वर्ण-व्यवस्था का यह विकृत रूप बहुत काल बाद के धर्मशास्त्रों में मिलता है। वैदिक काल की वर्ण-व्यवस्था का रूप इसके विपरीत था। वैदिक काल में वर्ण का निश्चय व्यक्ति के कर्मों के अनुसार ही होता था, वर्णों की उत्पत्ति रक्षात्मक और आर्थिक कारणों से ही हुई थी, जिसका विवेचन हम अध्याय पाँच में कर चुके हैं। महाभारत में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि आरम्भ में वर्णों का निश्चय कर्मानुसार ही किया गया था। यह सिद्धान्त व्यवहार में भी लाया जाता था, इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यदुवंशी पशुपालन का कार्य करते थे इसलिए वैश्य वर्ण के थे। इस बात का उल्लेख भागवत पुराण में किया गया है। परन्तु महाभारत में हम यदुवंशियों को शासन-कार्य करते हुए पाते हैं और साथ ही उनका वैवाहिक सम्बन्ध भी क्षत्रियों के साथ पाते हैं। प्राचीन इतिहास से हम इस विषय के कुछ अन्य उदाहरण उद्धृत करते हैं––धृष्ट के धार्ष्ट नामक क्षत्रिय हुए और अन्त में वे इस शरीर से ही ब्राह्मण बन गये।[2] दिष्ट का पुत्र नाभाग अपने कर्म के कारण वैश्य हो गया था।[3] पूरु वंश में बहुत से राजर्षि और ब्रह्मर्षि भी हुए।[4] यद्यपि गार्ग्य क्षत्रिय था, तथापि उससे ब्राह्मण वंश चला।[5]

त्रैयारुणि, कवि और पुष्करारुणि, ये तीनों क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये।[6] मुद्गल क्षत्रिय से मौद्गल्य नामक ब्राह्मण गोत्र की प्रवृत्ति हुई।[7] इन परिवर्तनों का

---

१. दि स्टेट इन एंशियन्ट इण्डिया, पृष्ठ ११, १२
२. धृष्टाद् धार्ष्टमभूत् क्षत्रं ब्रह्मभूयं गतं क्षितौ। भागवत ९–२–१७
३. नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः। भागवत ९–२–२३
४. पूरोर्वंशं प्रवक्ष्यामि यत्र जातोऽसि भारत।
यत्र राजर्षयो वंश्या ब्रह्मवंश्याश्च जज्ञिरे॥ भागवत ९–२०–१
५. गर्गाच्छिनिस्ततो गार्ग्यः क्षत्राद् ब्रह्मवर्तत। भागवत ९–२१–१९
६. पुष्करारुणिरित्यत्र ये ब्राह्मणगतिं गताः। भागवत ९–२१–२०
७. मुद्गलाद् ब्रह्म निर्वृत्तं गोत्रं मौद्गल्यसंज्ञितम्। भागवत ९–२१–३३

एक निश्चित नियम था कि जिस वर्ण को बतलाने वाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि अन्य वर्ण वाले में मिले, तो उसको भी उसके लक्षणों के अनुकूल वर्ण का ही समझना चाहिए।[१] कालान्तर में वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप दिखाई देता है। आरम्भ में कर्मों के अनुसार व्यक्ति का वर्ण निश्चित होता था, परन्तु धर्मशास्त्रों के काल में वर्ण के अनुसार व्यक्ति के कर्मों का निश्चय होने लगा। अतः अब वर्णों का आधार कर्म के स्थान पर जन्म माना जाने लगा।[२] इसका कुप्रभाव यह पड़ा कि व्यक्ति अपने वर्णोचित कर्तव्यों की अवहेलना करने लगे, क्योंकि उनको कर्तव्यच्युत होने पर भी जातिच्युत होने का भय न रहा। जब इस प्रकार समाज का पतन होने लगा, तब वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए ब्राह्मणों ने जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि में नियम बनाये[३] और उनकी कर्म-वृत्ति में भी बहुत कुछ ढील कर दी, जिसको आपद्धर्म का सहारा लेकर प्रस्तुत किया गया। इसके अनुसार ब्राह्मण अन्य वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य) के कार्य भी कर सकता था। यहाँ तक कि कुछ परिस्थितियों में ब्राह्मण के लिए शूद्रों के कार्य भी वर्जित नहीं माने गये।[४]

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था किसी प्रकार भी वैयक्तिक गुणों की अवहेलना नहीं करती थी। बहुत काल तक वर्ण व्यक्ति के कर्मानुसार ही माना जाता रहा। इसलिए यह कहना कि वर्ण-व्यवस्था जनतंत्र में बाधक सिद्ध हुई, उचित प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत प्रमाण इस बात के भी मिलते हैं कि राजतंत्रीय राज्य की मंत्रिपरिषद् में भी चारों वर्णों के प्रतिनिधि मंत्रिपद प्राप्त करते थे। महाभारत के अनुसार मंत्रिपरिषद् में ४ ब्राह्मण, ८ क्षत्रिय, २१ वैश्य, ३ शूद्र और १ सूत होना चाहिए। अतः हम देखते हैं कि प्राचीन भारत के राजतंत्रीय राज्यों में भी बहुधा जनतंत्र के अधिकांश गुण पाये जाते हैं, क्योंकि भारत में राजतंत्र की उत्पत्ति जनतंत्र से ही हुई थी, जैसा कि हम अध्याय पांच और छः में सिद्ध कर चुके हैं।

जनतंत्र-शासन का विस्तृत विवरण हमको प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता,

---

१. यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
तदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत् ।। भागवत ७–११–३५

२. उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। मनुस्मृति १–९८

३. अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत् ।
प्रणीतश्च प्रणीतश्च यथाग्निः दैवतं महत् ।। मनुस्मृति ९–३१७

४. गौतम ७–१–२४

जनतंत्र-शासन के विभिन्न नाम अवश्य मिलते हैं। वैदिक ग्रन्थों में इसको जनराज्य और स्वराज्य कहा गया है।[१] ब्राह्मण ग्रन्थों में जनराज्य, स्वराज्य, पारमेष्ठ्य, वैराज्य समन्तपर्यायी आदि नाम मिलते हैं। महाभारत में वैराज्य, पारमेष्ठ्य और गणराज्य का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। जैन साहित्य में अराज्य, वैराज्य, गणराज्य और विरुद्ध-राज्य आदि नाम मिलते हैं। बौद्धसाहित्य में इनको गणराज्य और कौटिलीय अर्थशास्त्र में संघ कहा गया है। इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों को जनतंत्र-शासन के विभिन्न रूपों का ज्ञान था। तब क्या कारण था कि इस प्रकार के शासनों का विस्तृत वर्णन किसी ने नहीं किया ? हमारे विचार से इसके कारण निम्नांकित हो सकते हैं—

(१) भारत में सर्वप्रथम राज्य का जनतंत्रीय रूप ही प्रचलित हुआ था। कालान्तर में जनतंत्र में ही कुछ परिवर्तनों के साथ राजतंत्र की उत्पत्ति हुई थी। इसलिए भारतीय विद्वान् राजतंत्र को जनतंत्र से सिद्धान्त रूप में बहुत भिन्न नहीं मानते थे।

(२) भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम जनतंत्रीय शासन के अध्यक्ष को ही राजा कहा गया था। कालान्तर में यही शब्द राजतंत्र के शासक के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। इसलिए प्रायः जनतंत्र और राजतंत्र दोनों प्रकार के शासकों को राजा ही कहा जाता था। अतः राजा और प्रजा के पारस्परिक कर्तव्यों का वर्णन करने से राजतंत्र और जनतंत्र दोनों प्रकार के शासकों का वर्णन मान लिया जाता था।

(३) धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रों में राज्यशास्त्र का जो वर्णन मिलता है वह किसी राज्य विशेष के लिए नहीं किया गया था, अपितु उसमें राज्य का कार्य-क्षेत्र और राजा तथा प्रजा के पारस्परिक कर्तव्यों का विवरण है, जो कुछ अंशों को छोड़कर अधिकांश प्रत्येक प्रकार के राज्य पर समान रूप से लागू होता है।

उपर्युक्त वर्णन से हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि जनतंत्रीय शासन की व्यवस्था राजतंत्रीय शासन से अधिक भिन्न नहीं थी। इन दोनों प्रकार के शासकों में जो भिन्नता थी, वह मुख्यतः राज्यो के संगठन से ही सम्बन्धित थी, जिसका विवेचन हमने अध्याय छः में विस्तृत रूप से किया है।

(अ) शासन व्यवस्था की प्रकृति

प्राचीन भारत में समाज का संगठन इस प्रकार का था कि राज्य के रूपान्तर

---

१. या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णामदान्ति शोभते वस्वोरनु स्वराज्यम्।
अथर्ववेद २०-१०९-१

का उस पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता था। सामाजिक स्तर पर कुल और जाति अपनी आन्तरिक व्यवस्था करने में लगभग स्वतंत्र सी ही थीं। प्रत्येक कुल और जाति की अपनी निजी विधियाँ होती थीं जिनको कुलधर्म और जातिधर्म कहा जाता था, और राज्य चाहे जनतंत्रात्मक हो अथवा राजतंत्रात्मक, उन विधियों को मान्यता देता था तथा उनकी आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करता था। रामायण, महाभारत तथा स्मृतियों में कुलधर्म और जातिधर्म का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।

इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी श्रेणी, निगम आदि संस्थाएं थीं जो अपनी व्यवस्था करने में पर्याप्त रूप से स्वतंत्र थीं। राज्य इनको भी मान्यता देता था। श्रेणी-धर्म का उल्लेख भी कुलधर्म और जातिधर्म के साथ ही अनेकों स्थानों पर मिलता है।

क्षेत्रीय दृष्टि से ग्राम की एक अलग संस्था थी, जो कि ग्राम की व्यवस्था रखने और न्याय करने में बहुत कुछ स्वतंत्र थी। ग्राम की संस्था जिस राजधर्म के अनुसार ग्राम की व्यवस्था और न्याय अर्थात् शासन करती थी, वह राजधर्म राज्य के द्वारा नहीं बनाया गया था, अपितु उसको धर्मग्रन्थों से लिया जाता था। इसलिए राज्य का स्वरूप चाहे राजतंत्रात्मक हो अथवा जनतंत्रात्मक, ग्राम की व्यवस्था में कोई विशेष अन्तर नहीं आता था।

क्षेत्रीय व्यवस्था की दृष्टि से दो और महत्वपूर्ण संस्थाएं थीं—जानपद तथा पौर। ये दोनों संस्थाएं भी व्यवस्था तथा न्याय का कार्य करने में बहुत कुछ राज्य के हस्तक्षेप से रहित थीं। परन्तु इनका विवरण बहुधा राजतंत्रात्मक राज्यों के साथ ही मिलता है जिसका कारण यह हो सकता है कि ये संस्थाएं केवल बड़े-बड़े राज्यों में बनायी जाती हों। प्राचीन भारत के जनतंत्र राज्य छोटे-छोटे थे, इसलिए सम्भवतः उनमें इनके निर्माण की आवश्यकता प्रतीत न होती थीं।

समाज का उपर्युक्त ढंग से संगठन होने के कारण ही राज्य के रूपान्तर का साधारण जनता पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था और इसी लिए जनसाधारण को राज्य के रूपान्तर की चिन्ता न थी।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में राज्य की नीति शक्ति के विकेन्द्रीकरण की थी और राजतंत्रात्मक तथा जनतंत्रात्मक दोनों प्रकार के राज्य इस नीति में कोई परिवर्तन करने का साहस नहीं करते थे। उपर्युक्त संस्थाएं अपने-अपने क्षेत्र में व्यवस्था और न्याय करने में अधिकांशतः स्वतंत्र थीं। उनके व्यवस्थापक और न्यायाधीश उन्हीं संस्थाओं द्वारा चुने और बनाये जाते थे। राज्य को इनके आन्तरिक कार्यों में हस्तक्षेप करने का बहुत कम अवसर होता था।

वैदिक काल में हमको आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं का संकेत भी मिलता है।

राजा राजपद पर आरूढ होने के बाद रथकार, कर्मकार, सूत आदि आर्थिक संस्थाओं और ग्राम आदि क्षेत्रीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों को अपने सामने एकत्रित देखने की अभिलाषा प्रकट करता है। इससे स्पष्ट है कि राजनीति में इन संस्थाओं का महत्वपूर्ण हाथ था और ये अपनी आन्तरिक व्यवस्था और शासन में बहुत कुछ स्वतंत्र थीं ।

महाभारत काल में गणराज्यों से सम्बन्धित वर्णन में केवल कुल और जाति का ही संकेत मिलता है, परन्तु यह स्पष्ट है कि महाभारत में गणराज्यों का बहुत संक्षिप्त सा वर्णन करते हुए उनकी केवल सामान्य नीति और विशेष गुणावगुणों का ही विवरण दिया गया है। इसलिए यह मानना भूल होगी कि तत्कालीन गणराज्यों में सामाजिक संस्थाओं, कुल और जाति के अतिरिक्त आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं का अस्तित्व ही नहीं था ।

बौद्धकाल और उसके बाद के जनतंत्रात्मक राज्यों में राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रीकरण करने वाली एक संस्था सर्वत्र दिखाई देती है, वह है सामन्तता। बौद्धकालीन गणराज्यों में सामन्तता का इतना प्रभाव दिखाई देता है कि कौटिल्य ने इन राज्यों को सामन्तों का संघ ही मान लिया था, क्योंकि ये सामन्त अपने-अपने क्षेत्र में शासन करने में लगभग स्वतंत्र होते थे और केन्द्र में ये सब सामूहिक रूप में एकत्रित होकर शासन चलाते थे। इस प्रकार बौद्धकाल और उसके बाद के जनतंत्रात्मक राज्यों का रूप बहुधा समन्तपर्यायी ही मिलता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जनतंत्र राज्यों के शासन में शासन-शक्ति वितरित और विभाजित रहती थी। वैदिक काल में यह शक्ति केन्द्र और आर्थिक तथा क्षेत्रीय संस्थाओं में विभाजित थी, महाभारत काल में यह केन्द्र और कुलों में विभक्त पायी जाती है और बौद्ध काल में तथा उसके बाद शक्ति केन्द्र तथा सामन्तों में विभाजित रहती थी। इस शक्ति-विभाजन का आधार धर्म अर्थात् विधियाँ थीं। इसलिए जनतंत्र शासन के इस रूप को हम आधुनिक भाषा में बहुलवादी (प्लूरलिस्टिक) शासन कह सकते हैं ।

अब हमको इन राज्यों के संविधान के विषय में विचार करना आवश्यक है। प्राचीन भारत के किसी राज्य में पृथक् कोई ऐसा संविधान नहीं था जिसको हम आधुनिक अर्थ में लिखित संविधान कहते हैं। सूत्रों, धर्मशास्त्रों, नीतिशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में जो राज्य, राजा तथा प्रजा से सम्बन्धित विधियाँ मिलती हैं वे किसी एक राज्य के लिए नहीं बनायी गयी थीं। वास्तव में उन विधियों के द्वारा प्राचीन विद्वानों ने धर्मानुकूल राज्य से सम्बन्धित विधियों की व्याख्या करके एक आदर्श संविधान तैयार कर दिया था। समय के प्रभाव से परिवर्तित परिस्थितियों में इन विधियों में

कुछ परिवर्तन करने की जब आवश्यकता प्रतीत होती थी, तभी कोई विद्वान् तत्कालीन परिस्थितियों के अनुकूल इन विधियों की पुनः व्याख्या कर देता था। इस प्रकार इन विधियों पर समय-समय पर ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं और उनमें परस्पर कुछ भिन्न विचार भी मिलते हैं। परन्तु वे सब अपना आधार धर्म को ही मानते हैं। धर्म शब्द की व्याख्या भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। हेरिस डेविड्स ने अपने विचार धर्म के सम्बन्ध में व्यक्त करते हुए लिखा है कि धर्म शब्द का सही अनुवाद करना अत्यन्त कठिन है, जिसको सत्य अथवा पवित्रता कहा जा सकता है। उसके मतानुसार विधि ही धर्म नहीं है, अपितु विधियों का आधार धर्म है।[1] महाभारत में भी प्रजा को धारण करनेवाला धर्म कहा गया है।[2] इसका अर्थ बृहदारण्यक उपनिषद् के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है कि चारों वर्णों में व्यवस्था बनाये रखने के लिए ही धर्म की उत्पत्ति की गयी थी। इसलिए समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए उच्च कोटि के मनीषियों द्वारा सनातन विधियों में जो परिवर्तन समयानुकूल किये जाते थे, उनको धर्मानुकूल ही माना जाता था। यदि किसी समय किसी विशेष विषय पर धर्म-ग्रन्थों में विधि स्पष्ट नहीं पायी जाती थी, अथवा विभिन्न ग्रन्थों में विरोधी मत प्राप्त होते थे, तब उन पर विचार करने का अधिकार उन धर्मग्रन्थों द्वारा ही विद्वानों की सभा को दिया गया था।

इस प्रकार सभी प्रकार के राज्यों के लिए आदर्श संविधान धर्म-ग्रन्थों में प्राप्त था। इसलिए किसी राज्य को पृथक् संविधान बनाने की आवश्यकता ही प्रतीत नह होती थी। उक्त आदर्श संविधान लिखित तो था, परन्तु किसी एक राज्य के लिए पृथक् नही बनाया गया था।

डा० यू० एन० घोषाल के मतानुसार स्मृतियों में अनेक स्थानीय, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं को अपने लिए विधियों के निर्माण आदि का अधिकार तथा उन विधियों के अनुसार ही अपनी व्यवस्था और न्याय करने का अधिकार जो दिखाई देता है, उसमें उनको वास्तविक वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं प्रतीत होता।[3] हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि तत्कालीन राज्यों का संविधान ही उक्त स्मृतियों में निहित था, इसलिए उन ग्रन्थों द्वारा उल्लिखित अधिकार ही वैधानिक अधिकार माने जाते थे। प्रत्येक राजा का यह नैतिक कर्तव्य हो जाता था कि वह उस आदर्श संविधान के अनुसार ही शासन करे, और मंत्रियों का यह नैतिक कर्त्तव्य था कि वे

---

१. हेरिस डेविड्स, बुद्धिज्म, पृष्ठ ४५
२. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। महाभारत कर्णपर्व ६९-५८
३. स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर, पृष्ठ २९५

राजा से उस आदर्श संविधान पर चलने का आग्रह कर, यदि फिर भी कोई राजा उस संविधान के विपरीत कार्य करे तो मंत्रियों का नैतिक कर्तव्य था कि वे लोकमत को जाग्रत करके राजा को पदच्युत कर दें।

यहाँ पर हमको इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि लोकमत की विशाल शक्ति से प्ररित उपर्युक्त संविधान के होते हुए भी, भारतीय इतिहास में यदा कदा स्वच्छन्द शासकों का अस्तित्व क्योंकर सम्भव हो सका। इसका एक कारण हम पहले लिख चुके हैं कि पदलोलुप मंत्रियों ने राजा का सही पथप्रदर्शन करने का कर्त्तव्य छोड़कर राजा की हाँ में हाँ मिलाने की प्रवृत्ति अपना ली थी। परन्तु इसका एक अन्य कारण भी महत्वपूर्ण था, जो कि राज्य के कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित है। जनतंत्र-शासन को विकृत करने में यह दूसरा कारण ही अधिक महत्व रखता था।

वैदिक काल में राज्य का कार्यक्षेत्र केवल केन्द्रीय व्यवस्था, उच्च न्यायालय और रक्षा तक ही सीमित था। शासन के शेष अधिकार आर्थिक और स्थानीय संस्थाओं को प्राप्त थे। हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब वर्णव्यवस्था का आधार कर्म के स्थान पर जन्म माना जाने लगा, तब व्यक्तियों ने अपने वर्णोचित कर्त्तव्यों की अवहेलना करना आरम्भ कर दिया, क्कोंकि कर्तव्यच्युत होने पर भी उनको जाति-च्युत होने का भय न रहा। जब इस प्रकार समाज का पतन होने लगा, तब ब्राह्मणों ने वर्णव्यवस्था को स्थिर रखने के लिए जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए कर्मवृत्ति के नियमों में ढील कर दी और आपद्धर्म का सहारा लेकर ब्राह्मण को क्षत्रिय, वैश्य तथा कुछ परिस्थितियों में शूद्र के कर्म करने की आज्ञा दे दी। इस विधि के अनुसार ब्राह्मण की सन्तान क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र का कार्य करते हुए भी ब्राह्मण ही बनी रहती थी। परन्तु ब्राह्मणों के इस नियम पर समाज की श्रद्धा न जम सकी। इसलिए समाज में वर्णव्यवस्था भंग होने का भय उत्पन्न हो गया। इस स्थिति को देख-कर धर्मशास्त्रों के ग्रन्थकारों ने राज्य को, शासन-शक्ति के द्वारा समाज में वर्णाश्रम धर्म बनाये रखने का अधिकार दे दिया।[१] इस प्रकार राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ गया और साथ ही अधिकार भी बढ़ गये। अब राज्य को व्यक्ति के धर्म और दैनिक जीवन में हस्तक्षेप करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त हो गया। आरम्भ में राज्य का कर्तव्य धर्म को स्थिर रखने का था, जिसका तात्पर्य समाज में व्यवस्था रखना था, परन्तु सूत्रों के काल में राज्य का कर्तव्य वर्णाश्रम धर्म को स्थिर रखना हो गया। ब्राह्मणों के धर्म की व्याख्या में वर्णाश्रम धर्म भी आ गया, परन्तु धर्म और वर्णाश्रम धर्म में पर्याप्त अन्तर था। धर्म का तात्पर्य केवल व्यवस्था से था, परन्तु वर्णाश्रम धर्म का तात्पर्य वर्णव्यवस्था

---

१. डा० बेनीप्रसाद, दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ ६१

और आश्रमव्यवस्था था जो कि सामाजिक और वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित था। अतः ब्राह्मणों ने ही धर्म की व्याख्या वर्णाश्रम धर्म से करके राज्य को सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप का असवर दे दिया।

राज्य का हस्तक्षेप सामाजिक जीवन में हो जाने से, शनैः-शनैः राज्य ने अपना कर्तव्य जनहित का ध्यान रखना बना लिया। जनहित का सहारा लेकर राज्य को समाज की आर्थिक संस्थाओं में हस्तक्षेप करने का अवसर भी प्राप्त हो गया। इस प्रकार शनैः-शनैः राज्य ने वैयक्तिक स्वतंत्रता और सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओं पर अपना अधिकार जमा लिया। वैदिक काल में जो स्वतन्त्रता आर्थिक, सामाजिक और स्थानीय संस्थाओं को प्राप्त थी, वह रामायण और महाभारत काल में नहीं मिलती। यद्यपि स्मृतियों के समय में भी उक्त संस्थाओं को आन्तरिक व्यवस्था और अपनी विधियों को मानने का अधिकार प्राप्त था, तथापि आवश्यकता पड़ने पर राज्य को भी उनमें हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त हो चुका था। सामान्यतः राज्य उक्त संस्थाओं की विधियों को मान्यता देता था, तथापि वे राज्य के आश्रित ही मानी जाती थीं। यह स्थिति वैदिक कालीन स्थिति के विपरीत थी।

(आ) शासन-व्यवस्था

प्राचीन भारत के जनतंत्र-राज्यों की शासन-व्यवस्था का विस्तृत वर्णन किसी प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है, इसलिए यहाँ भी परोक्ष प्रमाणों के आधार पर प्रायः अनुमान से ही काम लेना पड़ता है। हमारे विचार से राजतंत्र और जनतंत्र की शासन-व्यवस्था में मुख्यतः दो अन्तर थे—

(१) जनतंत्र-राज्यों में शासन-शक्ति का विकेन्द्रीकरण होता था। राजतंत्र की अपेक्षा जनतंत्र में स्थानीय, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं को अधिक अधिकार प्राप्त होते थे।

(२) राजतंत्र की अपेक्षा जनतंत्र राज्य छोटे होते थे। इसलिए उनमें पदों और पदाधिकारियों की संख्या बहुत कम होती थी। केन्द्रीय सत्ता में लगभग सभी अधिकार राज्यसभा को प्राप्त होने के कारण, अन्य पदाधिकारियों का महत्व भी कम होता था।

अतः जनतंत्र राज्यों की शासन-व्यवस्था दो मुख्य भागों में विभाजित रहती थी; संस्थाओं की आन्तरिक व्यवस्था और केन्द्रीय व्यवस्था। इन पर पृथक्-पृथक् विचार करना उचित प्रतीत होता है।

वैदिक काल में हमको पंचप्रदिशः नामक स्थानीय संस्था मिलती है। इस संस्था का महत्व समझने के लिए हमको दो उल्लेख मिलते हैं। ये संस्थाएं राजा का निर्वाचन

इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि अपनी आन्तरिक व्यवस्था करने में ये संस्थाएं अधिकांशतः स्वतंत्र थीं। स्मृतियों में श्रेणीधर्म आदि के उल्लेखों से इसकी पुष्टि हो जाती है।

महाभारत काल में और उसके बाद गणराज्यों में आर्थिक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व न रहने का कारण यह था कि इन राज्यों का संगठन कुलों के आधार पर होने लगा था। कुल का संगठन भी एक संस्था के रूप में होने लगा था। इस प्रकार के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि अपनी आन्तरिक व्यवस्था और शासन में कुलों को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। अंगुत्तर निकाय ३–७६ में कुलपुत्र द्वारा प्राप्त होने योग्य पदों में कुल के शासकों के प्रधान पद का भी उल्लेख मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि कुल में भी पृथक् शासन-व्यवस्था रहती थी। अंगुत्तर निकाय २–२४९ में कुलों के पतन होने के सम्भावित कारणों में एक कारण यह भी बताया गया है कि वे दूषित स्त्री अथवा पुरुष को कुल का शासक बना देते थे। इससे कुल में शासक बनाने के एक ऐसे ढंग का बोध होता है जिसके द्वारा स्त्री अथवा पुरुष दोनों ही शासक का पद प्राप्त कर सकते थे। अंगुत्तर निकाय १-१३८ और १-१४२ में ज्येष्ठों के सम्मान का संकेत है और अंगुत्तर निकाय १–१५२ में कुलपति के द्वारा कुल के सदस्यों की उन्नति का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि कुल का शासन कुलज्येष्ठों द्वारा होता था और इनके प्रधान को कुलपति कहते थे। असहाय ने नारद १–७ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'कुलानि कतिचित्पुरुषगृहीतानि', कुल का शासन थोड़े से लोगों के द्वारा होता है। मनुस्मृति और महाभारत में कुलधर्म का भी उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि कुल में पृथक् शासन और न्याय-व्यवस्था होती थी। अतः गणराज्यों में कुल की शासन-व्यवस्था में केन्द्र का हस्तक्षेप बहुत कम होता था, क्योंकि उनका संगठन कुलों के प्रतिनिधियों द्वारा ही किया जाता था।

बौद्धकालीन जनतंत्र राज्यों में सामन्तता अधिक प्रबल दिखाई देती है। बौद्ध साहित्य से सिद्ध होता है कि इन सामन्तों के पास निजी सेना भी होती थी तथा भांडागारिक आदि अन्य पदाधिकारी भी होते थे। कौटिल्य ने इन सामन्तों की आन्तरिक शासन-व्यवस्था को पर्याप्त स्वतंत्र मानते हुए ही गणराज्य को सामन्तों का संघ कहा था।

इस प्रकार जनतंत्रीय राज्यों में विभिन्न काल में विभिन्न संस्थाओं का महत्व घटता-बढ़ता रहता था, परन्तु लगभग सभी संस्थाओं को अपनी आन्तरिक शासन-व्यवस्था में पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त रहती थी।

इस प्रकार शासन-शक्ति के विभाजित हो जाने पर केन्द्रीय सत्ता का कार्यक्षेत्र सीमित और संकुचित हो जाता है। वैदिक काल में केन्द्रीय सत्ता पर मुख्यतः रक्षा का

भार था। वेदों में राजा के सम्बन्ध में जितने मंत्र मिलते हैं, उनमें से अधिकांश विजय और रक्षा का ही उल्लेख करते हैं। आन्तरिक व्यवस्था में राजा पर मुख्यतः अपराधियों की खोज करने और उनको उचित दण्ड देने का ही भार था। राजा इस कार्य के लिए गुप्तचर नियुक्त करता था। गुप्तचरों के नाम स्पश, दूत, प्रहित आदि मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि उनके पदों और कार्यों में भी विभिन्नता होगी। इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि राज्य के अन्तर्गत संस्थाओं से राजा कर लेता था और कर न देनेवाली संस्था को बन्द कर देने का अधिकार राजा को था। केन्द्रीय शासन में हम 'महानग्नि' को राजा से भी अधिक शक्तिशाली पाते हैं, इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि राजा के कार्य सभा के परामर्श से ही होते थे। अथर्ववेद में राजा अपने सभासदों से प्रत्येक कार्य में परामर्श देने की प्रार्थना भी करता है। प्राप्त कर में से सभासदों को भी भाग दिया जाता था।

महाभारत काल में गणराज्यों की केन्द्रीय सत्ता में सर्वाधिक महत्व राज्यसभा का ही था। आवश्यकता पड़ने पर नगाड़ा बजाकर सभा का सत्र बुला लिया जाता था और प्रस्तुत विषय पर विचार कर लिया जाता था। सुभद्राहरण के अवसर पर सभा का सत्र इसी प्रकार बुलाकर सभा के सम्मुख यह घटना विचारार्थ रखी गयी थी। यद्यपि उस सभा में राजा उपस्थित नहीं हो सका था, तथापि राजा की अनुपस्थिति में ही सभा ने प्रस्तुत समस्या पर निर्णय कर लिया और तदनुसार ही कार्य किया गया। हमको इस बात का संकेत मिलता है कि गणराज्य में अमात्य आदि पदाधिकारी होते थे, परन्तु व्यवस्था सम्बन्धी अन्य बातों का कोई संकेत नहीं मिलता। सम्भवतः सभी कार्यों का भार सभा पर ही था।

बौद्धकालीन गणराज्यों में भी सभा का महत्व कम नहीं था। सभा के कार्य बहुमत से होते थे। इस काल के राज्यों में महामात, वोहारिक, सुत्तधार, अट्ठकुल, सेनापति, उपराजा आदि पदाधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है और सम्भवतः ये पदाधिकारी न्याय तथा प्रशासनिक दोनों कार्य करते होंगे। इनके अतिरिक्त ग्रामग्रामणी, पूगग्रामणी, राष्ट्रिक, भोजक, भांडागारिक आदि पदाधिकारियों के नाम भी मिलते हैं, परन्तु इनके कार्य आदि के विषय में कोई विवरण नहीं मिलता। हमारे विचार से इस काल के गणराज्यों में ग्राम की व्यवस्था ग्राम-सभाओं द्वारा होती थी। प्रत्येक सामन्त अपनी सामन्तता की व्यवस्था करता था और केन्द्र के पास राजधानी की व्यवस्था तथा अन्य राज्यों के सम्बन्ध आदि का कार्य ही रहता था।

यूनानी लेखकों ने भारतीय जनतंत्रीय राज्यों की शासन-व्यवस्था की प्रशंसा तो बहुत की है परन्तु उनसे प्रशासनिक विवरण अधिक नहीं मिलता। उपर्युक्त वर्णन से

हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जनतंत्रीय राज्यों की प्रशासनिक व्यवस्था केन्द्र और संस्थाओं में विभाजित थी, जिसमें अधिकांश अधिकार संस्थाओं को ही प्राप्त थे, परन्तु सर्वोच्च सत्ता केन्द्र में ही निहित थी ।

(इ) न्याय-व्यवस्था

अध्याय पाँच में हम लिख चुके हैं कि भारतीय प्राचीन विद्वानों ने शासन के एक आदर्श रूप की कल्पना की थी, जो कि देव-जगत के शासन के रूप में थी । इस आदर्श शासन में न्याय-विभाग कार्यकारिणी से सर्वथा पृथक्, वरुण के पास था और वरुण यह कार्य अपनी भारती नाम की सभा में बैठकर करते थे । इस आदर्श से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—(१) न्याय का कार्य यथासम्भव कार्यकारिणी से पृथक् रखा जाय और (२) यह कार्य अकेला व्यक्ति न करे ।

वैदिक काल में एक ही राज्य-सभा का वर्णन मिलता है जिसको महानग्नि कहते थे । अथर्ववेद २०—१३६—६ में महानग्नि की ऊखल से उपमा देकर यह भाव व्यक्त किया गया है कि जिस प्रकार काष्ठ की बनी ओखली में धान डालकर कूटते हैं, उसी प्रकार महानग्नि भी सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए, अथवा सार वस्तु को निकालने के लिए, तथ्य को खूब कूटती है । इसी प्रकार अथर्ववेद २०—१३६—५ में कहा गया है कि यह महानग्नि प्रजा को तृप्त करती है, किसी को विमुक्त करती है और किसी को रौंदती है । इस कथन से महानग्नि का न्याय-कार्य स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है । हम यह भी देख चुके हैं कि इस सभा को राजा से भी अधिक अधिकार प्राप्त थे । अतः राजा के सभा में उपस्थित होने पर भी न्यायकार्य में मुख्य हाथ सभा का ही माना जा सकता है । इस प्रकार वैदिक काल की न्याय-व्यवस्था कार्यकारिणी से सर्वथा पृथक् तो नहीं थी, परन्तु विद्वानों की सभा के हाथ में थी ।

ऋग्वेद १०—९७—१२ और अथर्ववेद ४—९—४ में मध्यमशी शब्द आया है । डा० बेनीप्रसाद इस शब्द का अर्थ आर्बिट्रेटर लेते हैं और उनके मतानुसार वैदिक काल में आर्बिट्रेशन की प्रथा थी । महाभारत में गणराज्यों की न्याय व्यवस्था का संकेत मात्र मिलता है । शान्तिपर्व में कहा गया है कि जिन गणों में धर्मशास्त्रों के अनुसार न्यायव्यवस्था होती है और उस व्यवस्था को मान्यता दी जाती है, वे गण उन्नति को प्राप्त होते हैं ।[1] इस कथन से इतना अवश्य सिद्ध हो जाता है कि जनतंत्रीय राज्यों में भी उसी न्याय व्यवस्था को मान्यता दी जाती थी, जो धर्मशास्त्रों में बतायी गयी थी,

---

१. धर्मनिष्ठान् व्यवहारान् स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ।। शा० प० अ० १०७ श्लोक १७

अर्थात् न्यायव्यवस्था के सम्बन्ध में जनतंत्र और राजतंत्र में अधिक भेद नहीं था।

शान्तिपर्व में न्याय के सम्बन्ध में कुछ बातें विशेष रूप से उल्लिखित की गयी हैं। न्याय का कार्य केवल पंडितों अर्थात् विद्वानों के द्वारा ही किया जाना चाहिए और न्याय यथासम्भव शीघ्र किया जाना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि राज्य-सभा के सभी सदस्य न्याय-कार्य नहीं करते थे, अपितु इस कार्य के लिए कुछ विद्वान् सदस्य ही नियुक्त किये जाते थे। न्याय की निष्पक्षता का महत्व बताते हुए कहा गया है कि न्याय कार्य में पुत्र और पौत्रों तक के साथ कोई पक्षपात नहीं होना चाहिए।[1] साथ ही, महाभारत में देश, जाति और कुल के धर्मों अर्थात् विधियों को मान्यता देने का भी आग्रह है।[2]

ग्राम में अपनी पृथक् न्याय-व्यवस्था होती थी, इस बात की पुष्टि कौटिल्य के उल्लेख से होती है। उसके मतानुसार स्थानीय विवादों में न्याय-कार्य ग्रामवृद्धों एवं सामन्तों द्वारा होना चाहिए। यदि ग्रामवृद्ध और सामन्त किसी विवादग्रस्त विषय के निर्णय में मतभेद रखते हों तो उस स्थान की जनता की अनुमति लेकर वहाँ के धार्मिक पुरुष उस विवादग्रस्त विषय पर निर्णय दें, अथवा मध्यस्थ को नियत कर उससे निर्णय करा लें।[3] यदि किसी विवाद में दो विभिन्न ग्रामों के व्यक्ति सम्मिलित हों तो उसका निर्णय किस प्रकार किया जाता था, इसका उदाहरण हमको ग्रामों की सीमा के विवाद से मिलता है। कौटिल्य के मतानुसार ग्रामसीमा सम्बन्धी विवादों पर निर्णय दोनों ग्रामों के सामन्त अथवा पाँच ग्रामों के मुखिया 'पंचग्रामी' या दस ग्रामों के मुखिया 'दशग्रामी' मिलकर करते थे।[4] ग्राम के न्यायालयों की अपनी पृथक् विधियाँ होती थीं, इस बात का संकेत धर्मशास्त्रों में मिलता है। बृहस्पति ने इनको ग्राम की विधियाँ

---

१. निग्रहः पंडितैः कार्य्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ॥ शा० प० अ० १०७ श्लोक २७
यथा पुत्रास्तथा पौत्रा दृष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिश्चैषां न कर्त्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥ शा० प० अ० ६९ श्लोक २७

२. देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः । शा० प० अ० ५९ श्लोक ७१
कुलधर्मः स नो वीर प्रमाणं परमं च तत् । आदिपर्व ११३–११

३. क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः ।
तेषां द्वैधीभावे यतो बहवः शुचयो अनुमता वा ततो नियच्छेयुः ।
मध्यं वा गृह्णीयुः । अर्थशास्त्र ३–९–१६–१८

४. सीमाविवादं ग्रामयोरुभयोः सामन्ताः पंचग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थापयेत् ।
कृत्रिमैर्वा कुर्यात् । अर्थशास्त्र ३–९–१

बताया है और मनु ने जानपदधर्म कहा है।[१] इससे विदित होता है कि स्थानीय प्रथाओं की विभिन्नता के कारण ग्राम की विधियों में भिन्नता उत्पन्न हो जाती थी।

आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं की भी अपनी पृथक् विधियाँ थीं और पृथक् न्यायालय भी थे। कुल, जाति, श्रेणी और गण की विधियों का उल्लेख अनेक धर्मशास्त्रों में मिलता है।[२] परन्तु बृहस्पति ने इनके न्यायालयों का क्रम भी उल्लिखित किया है। उनके मतानुसार कुल, श्रेणी और गण के अध्यक्ष ही निर्णय करते थे। कुल के न्यायालय से श्रेणी का न्यायालय उच्चतर माना जाता था और गण का न्यायालय श्रेणी के न्यायालय से उच्चतर था। कुल के न्यायालय की अपील श्रेणी के न्यायालय में और श्रेणी के न्यायालय की अपील गण के न्यायालय में हो सकती थी। इन सब के ऊपर राजा का न्यायालय था।[३]

उपर्युक्त विभिन्न संस्थाओं के पृथक्-पृथक् न्यायालयों की आवश्यकता को बताते हुए मनु ने कहा है कि अपने-अप वर्ग के प्रतिनिधियों के बिना सही न्याय नहीं हो सकता।[४] गौतम ने भी इस मत की पुष्टि करते हुए लिखा है कि कृषकों, व्यापारियों, पशुपालकों, महाजनों आदि का न्याय अपने-अपने वर्ग के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाना चाहिए।[५]

---

१. ग्रामश्रेणीगणानां च संकेतः समयक्रिया। — वीरमित्रोदय, पृष्ठ ४२४
जातिजानपदान् धर्मान् छ्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ — मनु० ८–४१

२. कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान्जानपदानपि।
स्वधर्माच्चलितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि॥ — याज्ञवल्क्य १–६०
जातिजानपदान्धर्मान् श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ — मनु० ८–४१

३. कुलश्रेणीगणाध्यक्षाः प्रोक्ता निर्णयकारिणः।
येषामग्रे निश्चितस्य प्रतिष्ठा तूत्तरोत्तरा॥
विचार्यं श्रेणिभिः कार्य्यं कुलैर्यन्न विचारितम्।
गणैश्च श्रेण्यविख्यातं गणाज्ञातनियुक्तकैः॥
कुलादिभ्योधिकाः सभ्यास्तेभ्योऽध्यक्षोधिकः कृतः।
सर्वेषामधिको राजा धर्मं यत्तेन निश्चितम्॥
वीरमित्रोदय पृष्ठ ४० पर उद्धृत बृहस्पति

४. वणिक्शिल्पिप्रभृतिषु कृषिरंगोपजीविषु।
अशक्यो निर्णयो ह्यन्यैस्तज्ज्ञैरेव तु कारयेत्॥ — मनुस्मृति ८–३९

५. कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे प्रमाणम्। — गौतमधर्मसूत्र

बौद्धकाल और उसके बाद के गणराज्यों में जो परिवर्तन सामन्तता के रूप में दिखाई देते हैं, उनसे प्रकट होता है कि इस काल में राज्य ने न्याय का कार्य सामाजिक और आर्थिक संगठनों से लेकर राजनीतिक संगठनों में स्थापित कर दिया था। महानिव्वान सुत्त के उल्लेख से पता चलता है कि तत्कालीन गणराज्यों में क्रमानुसार छोटे-बड़े सात न्यायालय होते थे—(१) विनिच्चय महामत्त, (२) वोहारिक, (३) सुत्तधर, (४) अट्ठकुल, (५) सेनापति, (६) उपराजा और (७) राजा। ग्रन्थ के वर्णन से प्रतीत होता है कि प्रत्येक अपराधी पर क्रमानुसार सातों न्यायालयों में विचार किया जाता था और प्रत्येक न्यायालय को अधिकार था कि कथित अपराधी को निर्दोष पाने पर मुक्त कर दे, परन्तु अपराधी पाने पर उसको अपने से उच्चतर न्यायालय में भेज दे। इस प्रकार अपराधी को दण्ड केवल सर्वोच्च न्यायालय अर्थात् राजा के द्वारा ही मिल सकता था। इस उल्लेख पर विद्वानों में मतभेद है। डा० जायसवाल और डा० मजूमदार ने इस न्यायव्यवस्था की सराहना की है परन्तु डा० घोषाल ने इसको अव्यावहारिक बताया है। वास्तव में यदि प्रत्येक अपराधी पर सातों न्यायालयों में पृथक्-पृथक् अनिवार्यतः विचार करने का नियम हो, तो न्याय कार्य में असाधारण विलम्ब तथा पक्षपात का भी अधिक अवसर हो जाता है। हमारे विचार से कुल, श्रेणी, गण आदि के उपर्युक्त न्यायालयों के आधार पर ही ये न्यायालय उत्तरोत्तर अपील के न्यायालय हो सकते हैं।

पुनश्च, यदि हम डा० जायसवाल के मतानुसार बौद्ध-कालीन गणराज्यों की शासन-प्रणाली को बौद्धसंघ की कार्यप्रणाली के आधार पर मान लेते हैं, तब भी उपर्युक्त सात न्यायालयों में प्रत्येक अपराधी पर अनिवार्यतः विचार करना सही नहीं बैठता, क्योंकि बौद्धसंघ में न्यायकार्य संघ की सभा के अधीन रहता था और उसका निर्णय सर्वथा मान्य होता था।

भारतीय मनीषियों ने न्याय को निष्पक्ष बनाने पर विशेष ध्यान दिया था। इसके लिए कुछ विशेष नियम भी बनाये गये थे—राजा, सभासदों अथवा पंडितों के द्वारा भी न्याय कभी एकान्त में नहीं किया जाना चाहिए।[1] जो कुछ किया जाय, सबके सामने हो। विवादों पर विचार क्रमानुसार किया जाना चाहिए। परन्तु उनको क्रमबद्ध करने में विषय के महत्व पर भी ध्यान देना आवश्यक है।[2] न्यायकार्य में विलम्ब

---

१. नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनां शृणुयाद् वचः।
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदा च न॥ शुक्रनीतिसार ४–५–६

२. क्रमागतविवादांस्तु पश्येद्वा कार्यगौरवात्। शुक्रनीतिसार ४–५–१५७

करने से महान् दोष उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए न्याय में विलम्ब नहीं होना चाहिए ।[१] न्यायाधीश के कार्य में राजा भी बाधा न डाले ।[२] न्याय करते समय विवाद का निर्णय पूर्ण होने तक न्यायाधीश भी किसी अन्य से विवाद से असम्बद्ध बात न करे ।[३] उपर्युक्त नियम न्याय को पक्षपात रहित बनाने के लिए आवश्यक समझे जाते थे। वर्तमान न्याय-व्यवस्था में अपराधी को सन्देह का लाभ दिया जाता है, यह सिद्धान्त भी भारतीय मनीषियों की लेखनी से बच न सका था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि सन्देह उत्पन्न हो जाने पर अपराधी को दण्ड नहीं देना चाहिए ।[४]

प्राचीन न्याय-व्यवस्था में वकीलों का उल्लेख भी किया गया है, जिनको नियोगी कहते थे। शुक्र ने लिखा है कि यदि वादी अथवा प्रतिवादी विधियों की अज्ञानतावश अथवा किसी कार्यविशेष के कारण स्वयं विवादकार्य में असमर्थ हो, तो वह अपने प्रतिनिधि के द्वारा विवादकार्य करा सकता है।[५] यदि वह नियोगी (वकील) लोभवश विपक्षी से मिल जाता था तो उसको दण्ड दिया जाता था।[६]

न्याय की कार्यवाही को लेखनीबद्ध किया जाता था। इस कार्य के लिए न्यायालय में लेखक नियुक्त होते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि यदि लेखक लिखने वाली बात को लेखबद्ध नहीं करता, अथवा न कही हुई बात को लिख लेता है, अथवा भली बात को बुरी या बुरी बात को भली बनाकर लिखता है, अथवा किसी विषय को विकल्प उत्पन्न करने योग्य लिखता है, तो इस प्रकार के लेखक को पूर्व-साहस दण्ड मिलना चाहिए। अथवा उसको उसके दोषों के अनुरूप दण्ड दिया जाना चाहिए ।[७] लिच्छवियों में पूर्व निर्णीत मुकदमों का लेखा भी रखा जाता था जिसका प्रयोग भविष्य के न्याय में किया जाता था।[८] सम्भवतः अन्य राज्यों में भी ऐसा ही होता होगा।

---

१. न कालहरणं कार्यं राज्ञा साधनदर्शने ।
महान्दोषो भवेत्कालाद्धर्मव्यापत्तिलक्षणाः ॥ शुक्रनीतिसार ४–५–१६७

२. नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाप्यस्य पूरुषः । मनुस्मृति ८–४३

३. अनिर्णीते तु यद्यर्थे संभाषत रहोर्थिना ।
प्राड्विवाकोऽथ दण्ड्यः स्यात्सभ्याश्चैव विशेषतः ॥ पूर्वमीमांसा ३–१–३५

४. न च संदेहे दण्डं कुर्यात् । आपस्तम्ब धर्मसूत्र २–५

५. व्यवहारानभिज्ञेन ह्यन्यकार्याकुलेन वा ।
प्रत्यर्थिनार्थिना तज्ज्ञः कार्यः प्रतिनिधिस्तथा ॥ शुक्रनीतिसार ४–५–११४

६. लोभेन त्वन्यथा कुर्वन्नियोगी दण्डमर्हति । शुक्रनीतिसार ४–५–११५

७. लेखकश्चेदुक्तं न लिखत्यनुक्तं लिखति दुरुक्तमुपलिखति सूक्तमनुल्लिखत्यर्थोत्पत्तिं विकल्पयतीति पूर्वमस्मै साहसदण्डं कुर्यात् । यथापराधं वा ।
अर्थशास्त्र ४–९–४०, ४१

८ रेरिस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ २२

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में न्याय-व्यवस्था बहुत उच्च कोटि की थी। यूनानी लेखकों ने भारतीय न्याय-व्यवस्था की अत्यन्त प्रशंसा की है। वास्तव में वह प्रशंसनीय ही थी।

(ई) सैनिक संगठन

वैदिक मंत्रों में युद्ध का संकेत बहुधा मिलता है और राजा की प्रशंसा भी सर्वत्र मिलती है, तथापि सैनिक संगठन के विषय में कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं मिलता। आर्यों ने सर्वप्रथम समाज का विभाजन ब्राह्मण और क्षत्रिय, दो ही वर्णों में किया था, इससे विदित होता है कि बौद्धिक बल से युक्त कुछ विद्वानों को छोड़कर अन्य सभी समर्थ व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर सैनिक रूप में संगठित हो जाते थे। देव-जगत् के शासन में भी हम युद्ध में इन्द्र को दो उच्च पदाधिकारियों के साथ पाते हैं,[1] जिनके नाम बहुधा मित्र और वरुण मिलते हैं। इससे विदित होता है कि आवश्यकता पड़ने पर शासनाधिकारी भी युद्ध में भाग लेते थे। सेनापति का पद भी वैदिक साहित्य में मिलता है।

कालान्तर में युद्ध-कौशल को महत्व देने के कारण ही क्षत्रिय वर्ण को, व्यापार-वाणिज्य आदि में संलग्न वैश्यों से पृथक् कर दिया गया। क्षत्रियों को युद्ध के लिए तत्पर और उत्साहित रखने के लिए क्षात्रधर्म में युद्धार्थ प्राण त्यागना महान् धर्म माना गया।[2] यद्यपि वर्णाश्रम धर्म में युद्ध करना मुख्यतः क्षत्रियों का ही धर्म माना गया है, तथापि आवश्यकता पड़ने पर सभी वर्णों को शस्त्र ग्रहण करने की आज्ञा दी गयी है।[3] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यद्यपि वर्णव्यवस्था के अनुसार युद्ध का विशेष कौशल क्षत्रिय वर्ण का कार्य था, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर सभी वर्णों के व्यक्ति युद्ध में भाग लेते थे। महाभारत में हमको श्रेणीबल का भी उल्लेख मिलता है। कौटिल्य ने

---

१. यदिन्द्रेण सरथं यायो अश्विना यद् वा वायुना भव। — अथर्ववेद २०–१४१–२
अयं वां धर्मो अश्विना स्तोकेन परिषिच्यते।
अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसु येन वृत्रं चिकेतथः॥ — अथर्ववेद २०–१३९–४

२. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ — गीता २–३१

३. ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति।
एवमेवात्मनस्त्यागान्नान्यं धर्मं विदुर्जनाः॥ — शान्तिपर्व ७८–३४
ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते। — शान्तिपर्व ७८–२७
शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते। — मनुस्मृति ८–३४८

तो श्रेणीबल को बहुत अधिक महत्व दिया है। उसके मतानुसार राजा के लिए श्रेणीबल मित्रबल से भी श्रेष्ठ है। कौटिल्य के लेख से विदित होता है कि आर्थिक संस्थाएं भी अपनी निजी सैनिक शक्ति रखती थीं, और आवश्यकता पड़ने पर राज्य भी उनका प्रयोग करता था।

महाभारत में गणराज्यों की सेना को बहुधा राज्य के नाम से ही उल्लिखित किया गया है। इससे विदित होता है कि तत्कालीन गणराज्यों में स्थायी सेना अधिक नहीं रहती थी, परन्तु युद्ध के अवसर पर राज्य के सभी नागरिक सैनिक रूप में संगठित हो जाते थे। यूनानियों ने बहुत से जनतंत्रीय राज्यों के सैनिकों को अच्छा कृषक और योद्धा कहा है। इस कथन से भी यही विदित होता है कि शान्तिमय काल में वे लोग कृषिकार्य में संलग्न रहते थे, परन्तु युद्धकाल में सैनिक के रूप में संगठित हो जाते थे। इस प्रकार का सैनिक संगठन भारतीय मध्यकालीन इतिहास में हमको मरहठा सेना में भी मिलता है।

पाणिनि के आयुद्धजीवी संघ और कौटिल्य के वार्ता-शस्त्रोपजीवी संघ से विदित होता है कि कालान्तर में युद्ध-कला को अधिक महत्व दिया जाने लगा और युद्धकाल से सम्बन्धित संस्थाएं भी आर्थिक संघों के समान संगठित होने लगीं। जनतंत्र राज्य में सामन्ततंत्र आ जाने से सैनिक संगठन में भी अन्तर आ जाना स्वाभाविक था। समन्त-पर्यायी संघराज्यों में साधारण जनता अधिकांश राजनीतिक अधिकारों से वंचित रहने लगी। इसलिए राज्य की रक्षा के हेतु जनसाधारण सैनिक सेवा के लिए तत्पर नहीं रहता था। अतः सामन्तीय गणराज्यों में प्रत्येक सामन्त अपनी निजी सेना रखता था और आवश्यकता पड़ने पर राज्य के सब सामन्तों की सेना एकत्रित रूप में गणराज्य की सेना मानी जाती थी। यद्यपि प्रत्येक सामन्त अपनी सेना में सेनापति का पद भी रखता था, तथापि गणराज्य का पृथक् सेनापति होता था और वह सर्वोच्च सेनानायक माना जाता था। एक विशेष बात यह भी देखने को मिलती है कि इन गणराज्यों में सेनापति कार्यकारिणी का भी प्रधान माना जाता था और राजाज्ञाएं सेनापति तथा गण-राज्य के नाम से निकाली जाती थीं।

इस परिवर्तन का प्रभाव यह हुआ कि राजतंत्रीय राज्यों के समान ही समन्त-पर्यायी गणराज्यों में भी स्थायी और वैतनिक सेना रखी जाने लगी। इस परिवर्तन के कारण गणराज्यों की सैनिक शक्ति पहले की अपेक्षा बहुत क्षीण हो गयी और साथ ही राज्य का व्यय बढ़ गया। गणराज्यों के पतन में यह भी एक मुख्य कारण बन गया था।

प्राचीन भारत में युद्धकला का पर्याप्त विकास और विस्तार हो चुका था। पैदल, घुड़सवार, रथ और हाथियों के पृथक्-पृथक् संगठन बनाये जाते थे जिनका

१६

विस्तृत वर्णन महाभारत में उपलब्ध होता है। बाण, माला, गदा और अनेक विषैले शस्त्रास्त्र ज्ञात हो चुके थे। भारतवासी स्वभावतः आध्यात्मिक शक्ति में अधिक विश्वास करते थे और इसी लिए युद्धकला में भी बहुधा मंत्रों का प्रयोग करते दिखाई देते थे।

धर्मपरायण भारतीयों ने युद्ध के सम्बन्ध में भी विशेष नियम बना रखे थे, जिनका पालन यथासम्भव किया जाता था। बौधायन सूत्र में कहा गया है कि किसी भी अवस्था में विषैले शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करना उचित नहीं। स्त्रियों, बच्चों, वृद्धों, ब्राह्मणों, विक्षिप्तों और शस्त्रास्त्र से रहित योद्धाओं पर भी आक्रमण करना धर्म-विरुद्ध माना जाता था। महाभारत में भी युद्ध सम्बन्धी नियमों का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार क्षत्रिय को अपने स्तर के शत्रु पर ही वार करना चाहिए, इसलिए शत्रु के रथहीन हो जाने पर आक्रमणकारी भी रथ त्याग देता था। शत्रु का धनुष कट जाने पर प्रहार नहीं किया जाता था। युद्ध से विमुख होकर भागनेवाले, युद्धभूमि में गिर जाने वाले, घायल अथवा क्षमा याचना करने वाले शत्रु पर भी प्रहार करना वर्जित था। दूतों, स्त्रियों, बच्चों, वृद्धों आदि को कोई हानि नहीं पहुँचायी जाती थी। यद्यपि इसी प्रकार के अन्य बहुत से नियम क्षात्र धर्म में निहित माने जाते थे, तथापि महाभारत के युद्ध में यत्र-तत्र इन नियमों का उल्लंघन भी दिखाई देता है।

भारतीय युद्ध के नियमों में सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह था कि युद्ध की स्थिति में भी साधारण जनता के जान-माल की सुरक्षा का ध्यान रखा जाता था। आक्रमणकारी सेना भी शत्रु की कृषि आदि को हानि पहुंचाना अनुचित समझती थी। इसका परिणाम यह होता था कि प्रायः राजाओं के युद्ध में भी जनता अधिक चिन्तित नहीं दिखाई देती थी।

(इ) आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्राचीन भारत के जनतंत्रीय राज्यों में किस प्रकार शासन, न्याय और सैनिक व्यवस्था में परिवर्तन हुए, यह बात जान लेने के पश्चात्, हमको उनके मूल्यांकन पर क्रमशः विचार करना उचित है। वैदिक काल और पौराणिक काल में प्रशासनाधिकार अनेक सामाजिक, आर्थिक और स्थानीय संस्थाओं में वितरित था। इसका सब से महत्वपूर्ण प्रभाव यह पड़ता था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र में स्वयम् को उत्तम दिखाने का प्रयत्न करता था, उस पर लोक-लाज का अधिक प्रभाव पड़ता था। यह लोक-लाज ही व्यक्ति को अनुचित मार्ग पर जाने से रोकती थी। फलस्वरूप मनुष्य का चारित्रिक पतन रुक जाता था। इस व्यवस्था का दूसरा प्रभाव यह था कि प्रशासन की दृष्टि से राज्य की इकाई व्यक्ति न होकर अनेक संस्थाएं थीं। इसलिए राज्य का प्रशासन कार्य अत्यन्त

सरल हो जाता था। साथ ही इस व्यवस्था से व्यक्ति को स्वतंत्रता और स्वशासन की अधिक अनुभूति होती थी, और व्यक्ति के क्रमशः उत्थान के कारण आर्थिक समस्याएं उसके उत्थान में बाधक न बन पाती थीं।

गणराज्यों में सामन्ततंत्र आ जाने से प्रशासनिक अधिकारों का उपर्युक्त वितरण लुप्त हो गया और शासन-व्यवस्था सामन्तों में वितरित होने लगी। इसी प्रकार सामाजिक, आर्थिक और स्थानीय संस्थाओं का महत्व कम हो गया और केवल राजनीतिक संस्थाओं के हाथ में ही शक्ति केन्द्रित हो गयी। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति के हृदय से लोक-लाज का भय कम होने लगा और यह उसके तीव्रतर चारित्रिक पतन का कारण बन गया।

सामन्तों के हाथ में शक्ति केन्द्रित होने से सामन्तों को प्रभुता का मद स्वाभाविक विलास और मिथ्या गर्व की ओर ले जाने लगा। कौटिल्य ने सामन्तीय संघों के इस दोष को भली प्रकार समझ लिया था, इसी लिए उसने उनमें भेद डालने के उपायों में व्यभिचारिणी स्त्रियों द्वारा विलास की भावना तथा गुप्तचरों द्वारा मानापमान की भावना भड़काने के उपाय बताये हैं। सामन्ततंत्र के कारण जनता स्वशासन की अनुभूति से वंचित होकर अपने को राजतंत्रीय राज्य की जनता से किसी प्रकार भी अधिक सुखी न मानने लगी। अतः जनता के लिए जनतंत्र और राजतंत्र एक समान हो गये। यही कारण भारत के इतिहास से जनतंत्रीय राज्यों के पूर्णतः लुप्त हो जाने में मुख्य था।

शासन व्यवस्था के अनुसार ही न्याय व्यवस्था में भी परिवर्तन हुए और सामन्ततंत्र के आने के बाद न्याय व्यवस्था भी पूर्णतः राजनीतिक संस्थाओं—सामन्तता और राज्य के हाथ में आ गयी। और साहित्य में हमको देखने को मिलता है कि विनिच्चयमहामत्त, वोहारिक, सुत्तधर, अट्ठकुल, सेनापति, उपराजा और राजा, ये सब पदाधिकारी न्याय कार्य करते थे। हम नहीं कह सकते कि इस परिवर्तन का न्याय पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, परन्तु इतना स्पष्ट है कि न्याय में विलम्ब अवश्य होने लगा होगा।

सैनिक संगठन में भी शासन व्यवस्था के परिवर्तन के साथ-साथ परिवर्तन होना स्वाभाविक था। वैदिक काल और पौराणिक काल के गण राज्यों में स्थायी सेना अधिक न रहने पर भी, उनकी शक्ति अधिक मानी जाती थी, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर राज्य के सभी समर्थ व्यक्ति सैनिक सेवाओं के लिए तत्पर रहते थे। परन्तु सामन्ततंत्र में जनता के हृदय से स्वराज्य शासन की भावना लुप्त होने लगी थी, इसलिए अब स्थायी, वैतनिक सेना पर अवलम्बित रहना अनिवार्य हो गया था। इसके दो कुप्रभाव स्वभावतः पड़ने चाहिए—(१) राज्य-व्यय में वृद्धि और (२) सैन्य शक्ति में कमी।

भारत के प्राचीन इतिहास से गणराज्यों के लुप्त हो जाने में यह कारण भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।

इस प्रकार प्राचीन भारत के गणराज्यों के विनाश के कारणों में मुख्य कारण आन्तरिक ही सिद्ध होते हैं । इसी लिए तो भीष्म ने शान्तिपर्व में कहा था कि गणराज्य को बाहय भय इतना नहीं होता जितना आन्तरिक भय होता है ।

अध्याय १५

जनतंत्र की हिन्दू राजनीति और राज्यदर्शन को देन

हिन्दू राजनीति और राज्यदर्शन का आरम्भ ही जनतंत्र से होता है। हिन्दू राजनीति में राजा का पद भी आरम्भ में जनतंत्रीय राज्य के प्रधान का पद था। राजा शब्द का अर्थ भी जनतंत्रीय भावना प्रकट करता है—प्रजा का रंजन करने वाला राजा होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि हिन्दू राजनीति में जो कुछ है, वह सब जनतंत्र की ही देन है, क्योंकि राजतंत्र तथा शासन के अन्य स्वरूपों की उत्पत्ति भी जनतंत्र से ही हुई थी, यह बात प्रस्तुत ग्रन्थ में सिद्ध की जा चुकी है। स्वेच्छाचारी राजा का स्थान भारतीय इतिहास में भले ही हो, परन्तु हिन्दू राज्यदर्शन में राजा की स्वच्छन्दता को सिद्धान्त रूप में कभी मान्यता नहीं मिली। अतः हम यहाँ पर केवल उन प्रश्नों पर विचार करेंगे जिनको साधारणतः हिन्दू जनतंत्र की देन माना जाता है।

(अ) सामाजिक अनुबन्ध का विचार

पाश्चात्य राजनीति में अनुबन्धवाद का बहुत महत्व माना गया है। तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् एक्वानस् का मत था कि राज्य का जन्म, अधिकार और संचालन अनुबन्धों पर ही आश्रित है। प्रथम अनुबन्ध से ईश्वर ने राज्य की स्थापना की, द्वितीय अनुबन्ध द्वारा जनता ने राज्य का वैधानिक रूप निर्धारित किया और तृतीय अनुबन्ध द्वारा राजा की सत्ता को जन-इच्छा पर आश्रित किया गया। यदि राजा इन अनुबन्धों का उल्लंघन करे तो जनता उसको पदच्युत करके दूसरा राजा बना सकती है। एक्वानस के बाद पाश्चात्य राजनीति के सभी विद्वानों के विचार किसी न किसी रूप में अनुबन्धवाद से प्रभावित होते रहे और सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के विद्वान् हाब्स, लाक और रूसो ने पुनः अनुबन्धवाद को विभिन्न दृष्टिकोणों से अपनाया। हाब्स ने निरपेक्ष राजतंत्र, लाक ने सीमित राजतंत्र और रूसो ने प्रत्यक्ष जनतंत्र का प्रतिपादन किया।

हाब्स ने राज्य का जन्म ईश्वर द्वारा न मानकर समझौते द्वारा बताया। उसने राजा और राजसत्ता को विभक्त नहीं माना। उसके अनुसार प्राकृतिक और लौकिक

विधियाँ राज्य की शक्ति के बिना शब्द-मात्र रह जाती हैं। अतः दीर्घ काल की घोषणा ही विधियाँ हैं। मनुष्य आरम्भ से ही स्वार्थी था और प्राकृतिक अवस्था सर्वत्र युद्ध तथा भय की अवस्था थी, जिससे बचने के लिए मनुष्य राज्य की शरण में गया और उसने अपने सब अधिकार राज्य को सौंप दिये।

इसके विपरीत जान लाक के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था सुख, शांति, स्वतंत्रता और सहयोग की थी। कालान्तर में मनुष्य के सुखमय जीवन में बाधायें उत्पन्न हो गयीं और मनुष्य अज्ञानी तथा पक्षपाती होने लगे। अध्ययन-शून्य हो जाने, उन्हें विधियों का ज्ञान नहीं रहा अतः सभी मनमाना नियम लागू करने लगे। इसलिए लिखित विधियों, निष्पक्ष न्यायाधीश और पुलिस की आवश्यकता पड़ी। व्यक्तियों ने अपने कुछ अधिकार सभ्य समाज को देकर सभ्य समाज की स्थापना की और उसको प्राकृतिक विधियों के अनुकूल विधि निर्माण करने, निष्पक्ष न्यायाधीश की नियुक्ति करने और निर्णय को कार्यान्वित करने के अधिकार दिये गये। लाक ने प्राकृतिक विधि को सर्वव्यापक और सर्वोपरि बताया। व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए व्यक्तियों ने सभ्य समाज की स्थापना की और उपर्युक्त अधिकारों का परित्याग कर बहुमत का निर्णय स्वीकार करने का नियम बनाया। परन्तु यह अनुभव किया गया कि समस्त मनुष्य विधि निर्माण और व्यवस्था का कार्य करने की योग्यता नहीं रखते, इसलिए विधिनिर्मात्री सभा और कार्यकारिणी सभा का निर्माण हुआ तथा न्याय-कार्य के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश की नियुक्ति हुई। इस प्रकार विधिनिर्मात्री, कार्यकारिणी और न्यायपालिका सभाओं की उत्पत्ति हुई। लाक के मतानुसार संसद्, यद्यपि राज्य का प्राण है, तथापि उसको भी प्राकृतिक विधियों के विपरीत विधि बनाने का अधिकार नहीं। अतः लाक के अनुसार सर्वोच्च सत्ता जनता में ही निहित है और राज्य तथा राज्य के अधिकार सीमित हैं।

रूसो के मत से प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य नेक, सुखी, सीधे, चिन्तारहित, शान्ति-प्रिय और सन्तुष्ट थे। उसके मतानुसार आरम्भ में मनुष्य इतने सीधे थे कि उन्हें न्याय, अन्याय और मृत्यु का भी ज्ञान नहीं था, विवेकहीन होने के कारण उन्हें सुख-दुःख ज्ञात नहीं होता था। उसके मतानुसार नैतिकता समाज की देन है, साथ ही वह यह भी मानता है कि सभ्य समाज ने ही मनुष्य को दुःखी, अनैतिक और व्यभिचारी बनाया।

रूसो के अनुबन्धवाद में हाब्स और लाक दोनों के विचारों का समन्वय है। हाब्स के अनुसार, वह व्यक्तियों द्वारा अपने सभी अधिकारों का समर्पण आवश्यक समझता था, और लाक के अनुसार, वह इन अधिकारों को एक ऐसे आदर्श संघ को दिया जाना उचित समझता था, जो व्यक्तियों की एक राशि हो। उसके अनुसार क ख ग, घ व्यक्तियों को अपने सब अधिकार क ख ग घ संघ को अनुबन्ध द्वारा समर्पण क

विधियाँ राज्य की शक्ति के बिना शब्द-मात्र रह जाती हैं। अतः दीर्घ काल की घोषणाएं ही विधियाँ हैं। मनुष्य आरम्भ से ही स्वार्थी था और प्राकृतिक अवस्था सर्वत्र युद्ध तथा भय की अवस्था थी, जिससे बचने के लिए मनुष्य राज्य की शरण में गया और उसने अपने सब अधिकार राज्य को सौंप दिये।

इसके विपरीत जान लाक के मतानुसार प्राकृतिक अवस्था सुख, शान्ति, स्वतंत्रता और सहयोग की थी। कालान्तर में मनुष्य के सुखमय जीवन में बाधाएं उत्पन्न हो गयीं और मनुष्य अज्ञानी तथा पक्षपाती होने लगे। अध्ययन-शून्य हो जाने से उन्हें विधियों का ज्ञान नहीं रहा अतः सभी मनमाना नियम लागू करने लगे। इसलिए लिखित विधियों, निष्पक्ष न्यायाधीश और पुलिस की आवश्यकता पड़ी। व्यक्तियों ने अपने कुछ अधिकार सभ्य समाज को देकर सभ्य समाज की स्थापना की और उसको प्राकृतिक विधियों के अनुकूल विधि निर्माण करने, निष्पक्ष न्यायाधीश की नियुक्ति करने और निर्णय को कार्यान्वित करने के अधिकार दिये गये। लाक ने प्राकृतिक विधियों को सर्वव्यापक और सर्वोपरि बताया। व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए ही व्यक्तियों ने सभ्य समाज की स्थापना की और उपर्युक्त अधिकारों का परित्याग करके, बहुमत का निर्णय स्वीकार करने का नियम बनाया। परन्तु यह अनुभव किया गया कि समस्त मनुष्य विधि निर्माण और व्यवस्था का कार्य करने की योग्यता नहीं रखते, इस-लिए विधिनिर्मात्री सभा और कार्यकारिणी सभा का निर्माण हुआ तथा न्याय-कार्य के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश की नियुक्ति हुई। इस प्रकार विधिनिर्मात्री, कार्यकारिणी और न्यायपालिका सभाओं की उत्पत्ति हुई। लाक के मतानुसार संसद्, यद्यपि राज्य का प्राण है, तथापि उसको भी प्राकृतिक विधियों के विपरीत विधि बनाने का अधिकार नहीं। अतः लाक के अनुसार सर्वोच्च सत्ता जनता में ही निहित है और राजा तथा राज्य के अधिकार सीमित हैं।

रूसो के मत से प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य नेक, सुखी, सीधे, चिन्तारहित, शान्ति-प्रिय और सन्तुष्ट थे। उसके मतानुसार आरम्भ में मनुष्य इतने सीधे थे कि उन्हें न्याय, अन्याय और मृत्यु का भी ज्ञान नहीं था, विवेकहीन होने के कारण उन्हें सुख-दुःख ज्ञात नहीं होता था। उसके मतानुसार नैतिकता समाज की देन है, साथ ही वह यह भी मानता है कि सभ्य समाज ने ही मनुष्य को दुःखी, अनैतिक और व्यभिचारी बनाया।

रूसो के अनुबन्धवाद में हाब्स और लाक दोनों के विचारों का समन्वय है। हाब्स के अनुसार, वह व्यक्तियों द्वारा अपने सभी अधिकारों का समर्पण आवश्यक समझता था, और लाक के अनुसार, वह इन अधिकारों को एक ऐसे आदर्श संघ को दिया जाना उचित समझता था, जो व्यक्तियों की एक राशि हो। उसके अनुसार क, ख, ग, घ व्यक्तियों को अपने सब अधिकार क ख ग घ संघ को अनुबन्ध द्वारा समर्पण कर

होने चाहिए। परन्तु हाब्स के समान, दीर्घकाय को अधिकारों का समर्पण उसकी दृष्टि से स्वतंत्रता का त्याग या मानवता का त्याग है। इसी प्रकार रूसो लाक की प्रतिनिधि सभा का भी विरोधी था। करों के रूप में धन देकर सेना द्वारा व्यक्तिगत रक्षा और प्रतिनिधियों द्वारा सुव्यवस्था का प्रबन्ध करना रूसो के मतानुसार मूर्खतापूर्ण है।

महाभारत शान्तिपर्व में भीष्म ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है, उसमें उपर्युक्त अनुबन्धवाद के बीज मिलते हैं, परन्तु भीष्म का मत उपर्युक्त किसी भी मत से पूर्णतः मेल नहीं खाता। लाक के मत से उसमें अधिक समता दिखाई देती है। भीष्म का प्राकृतिक मनुष्य न तो हाब्स के प्राकृतिक मनुष्य के समान स्वार्थी और डरपोक था, और न रूसो के प्राकृतिक मनुष्य के समान मूर्ख। उसके मनोविकार सुषुप्त अवस्था में थे, इसलिए वह शुद्ध, सत्य विचारवान्, ज्ञानी था। लाक मनुष्य के प्राकृतिक, सुखी, शान्तिमय अवस्था से पतन के स्पष्ट कारण न दे सका, परन्तु भीष्म ने स्पष्ट कर दिया था कि कौटुम्बिक अवस्था में ममता और मोह की वृद्धि स्वभावतः हुई। मोह से लोभ, लोभ से काम और काम से क्रोध की उत्पत्ति होना स्वाभाविक ही था। अतः मानव के प्राकृतिक, सुखी और शान्तिमय अवस्था से पतन का कारण उसके मनोविकार थे। भीष्म ने इस पतित अवस्था का जो चित्र दिया है, वह बहुत कुछ हाब्स की प्राकृतिक अवस्था से समता रखता है। परन्तु हाब्स की यह अवस्था प्राकृतिक थी। इसलिए सभी मनुष्य इसी प्रकृति के थे। भीष्म की यह अवस्था विकृत थी इसलिए इस अवस्था में भी समाज में कुछ व्यक्ति सद्बुद्धि वाले और ज्ञानी अवश्यमेव थे जिन्होंने समाज की इस पतित अवस्था को देखकर उसमें सुधार करने का विचार किया। इसी कारण भीष्म के मतानुसार प्रशासनिक विधियों की उत्पत्ति भी ब्रह्मा अथवा ब्रह्मज्ञ ब्राह्मणों के द्वारा हुई।

अतः भीष्म के कथित अनुबन्धवाद में जनता ने राज्य अथवा राजा को कितने और क्या-क्या अधिकार सौंपे, इसका प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि प्रशासनिक विधियों अर्थात् राजधर्म की उत्पत्ति में न राजा का हाथ था, न राज्य का। राजा से तो राजपद देने के पूर्व शपथपूर्वक उस राजधर्म को मानने और तदनुसार शासन करने की प्रतिज्ञा करायी गयी थी। इस प्रकार हिन्दू राजनीति का राजा कर्तव्यों से बँधा था, अधिकारों से नहीं। धर्मानुसार कर्तव्य पूर्ति के लिए जितने और जो अधिकार आवश्यक थे, वे अवश्य उसको प्राप्त माने गये।

(आ) व्यक्तिवाद

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों के कुछ विद्वानों ने इंग्लैण्ड में व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को अपनाया था। इस विचार के समर्थन में पूंजीपतियों का विशेष हाथ था,

क्योंकि वे व्यापार को पूर्ण स्वतंत्र रखने के पक्षपाती थे । इस विचारधारा के प्रतिपादन में उन्होंने सात नियम बनाये थे—(१) निजी स्वार्थ का नियम, जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना हित-अहित जानता है, (२) स्वतंत्र प्रतियोगिता का नियम, जिसके अनुसार मनुष्य की उत्तरोत्तर उन्नति सम्भव है, (३) जन-संख्या का नियम, जिसके अनुसार जनसंख्या की वृद्धि ज्यामितिक ढंग से २ से ४ होती है, परन्तु उपज की वृद्धि अवगणित के ढंग से २ से ३ होती है और कालान्तर में जब यह जनसंख्या और उपज का अन्तर अत्यधिक बढ़ जाता है तब अकाल, युद्ध, महामारी आदि होते हैं, (४) पूर्ति-मांग का नियम, जिसके अनुसार वस्तु का मूल्य स्वयं घटता, बढ़ता है, (५) वेतन का नियम, जिसके अनुसार पूर्ति-माँग के सिद्धान्त पर वेतन घटता, बढ़ता है, (६) भूमिकर का नियम, जिसके अनुसार भूमि या किसी वस्तु का कर स्वयं निर्धारित होता है और (७) अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का नियम, जिसके अनुसार देश के आयात-निर्यात पर कर लगाना अनुचित है। स्टुअर्ट मिल ने लिबर्टी नामक पुस्तक में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सर्वोत्कृष्ट समर्थन किया था । व्यक्ति की स्वतंत्रता और व्यक्तित्व के लिए मिल ने व्यक्तिवाद को आवश्यक बताया । उसका कहना था कि मानव-विकास के लिए विचार एवं भाषण की स्वतंत्रता आवश्यक है, यहाँ तक कि मिल सनकी लोगों की भी स्वतंत्रता का समर्थक था । मिल के अनुसार सत्य के कई पहलू होते हैं। वे एक दूसरे के बाधक नहीं किन्तु परस्पर सहायक होते हैं। तर्क द्वारा संघर्ष से सत्य बलवान् और विजयी होता है। मिल के मतानुसार समाज पर असर डालनेवाले चोरी, कलह आदि कार्यों पर तो राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए, परन्तु व्यक्तिगत कार्यों में अर्थात् जिन कार्यों का प्रभाव कर्ता तक ही सीमित रहे ऐसे कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। सरकारी कर्मचारियों द्वारा होने वाले कार्यों में उनकी इतनी तत्परता नहीं होती, जितनी व्यक्तिगत कार्य करने वाले की होती है ।

हिन्दू-दर्शन में मानव-प्रकृति को पतनशील माना गया है, मानव-हृदय में अच्छे बुरे भावों का द्वन्द्व होता है । मुख्यतः ये द्वन्द (१) सन्तोष-काम, (२) दया-क्रोध, (३) उदारता-लोभ, (४) वैराग्य-मोह, (५) नम्रता-मद और (६) प्रेम-मत्सर माने गये हैं। प्रकृति ने आरम्भ में इन द्वन्द्वों का संतुलित रूप ही मानव हृदय में उत्पन्न किया था । परन्तु मानव-प्रकृति पतनशील होने के कारण, कालान्तर में मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर की ओर अनायास ही अग्रसर होने लगा । इसके विपरीत कुछ मनीषियों ने अपने सतत प्रयास से सन्तोष, दया, उदारता, वैराग्य, नम्रता और प्रेम आदि सद्गुणों की ओर बढ़ना आरम्भ किया और फलस्वरूप आध्यात्मिक शक्ति तथा आत्मानन्द की अनुभूति की । इसलिए जन-कल्याण की भावना से प्रेरित

होकर उन्होंने पतनशील समाज को पतन से रोकने के लिए कुछ विशेष विधियाँ बनायीं। इन विधियों में समाज को पतन से रोकने की शक्ति थी, इसी लिए धारण करने की शक्ति होने के कारण इन विधियों को धर्म कहा गया।[१] अतः हिन्दू-दर्शन के अनुसार आत्मोन्नति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को मानव-धर्म का पालन करना अनिवार्य है। आरम्भ में इस मानव-धर्म में सहयोग और सहानुभूति की विधियाँ ही मुख्य थीं और जन-साधारण उन पर चलते हुए परस्पर के भय से अपने को पापकर्मों से दूर रखने का प्रयास करता था। परन्तु पतनशील प्रकृति के कारण कालान्तर में मनुष्य दूसरों से छिपकर पाप में प्रवृत्त होने लगा। तब भारतीय मनीषियों ने समाज के सामने पुनर्जन्म का सिद्धान्त रखा और इस सिद्धान्त को समझकर परलोक के भय से मनुष्य अपने को पापवृत्ति से दूर रखने लगा। परन्तु परलोक अप्रत्यक्ष होने के कारण, कालान्तर में मनुष्य अप्रत्यक्ष की अपेक्षा से प्रत्यक्ष भोग का त्याग करने में असमर्थ हो गया। तब कर्मफल का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक बुरे कर्म का दण्ड यमराज की ओर से व्यक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु कालान्तर में कुछ ऐसे उद्दण्ड व्यक्ति भी होने लगे जो प्राप्त दुःखों का सम्बन्ध पूर्ववत् बुरे कर्मों के फल से सम्बन्धित न समझते हुए, दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने लगे। ऐसे व्यक्तियों के लिए राजदण्ड आवश्यक हो गया।[२] इसलिए भारतीय राजधर्म में केवल उन व्यक्तियों पर राज्य द्वारा नियंत्रण रखना आवश्यक है, जो धर्म का नियंत्रण स्वीकार नहीं करते।

इस प्रकार हिन्दू राजनीति व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्र छोड़ने की विरोधी है, परन्तु व्यक्ति को राज्य के नियंत्रण से बहुत कुछ स्वतंत्र रखने के पक्ष में भी है। मनुष्य सामान्यतः सामाजिक और नैतिक नियंत्रण से ही सन्मार्ग पर चल सकता है, परन्तु केवल दुराचारी व्यक्ति पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए। हिन्दू व्यक्तिवाद भी धर्म द्वारा नियंत्रित है।

(इ) जनतंत्र, कुलीनतंत्र, सामन्ततंत्र और संवैधानिक राजतंत्र के सिद्धान्त

आधुनिक विद्वानों ने जनतंत्र की व्याख्याएं भी विभिन्न प्रकार से की हैं। अब्राहम लिंकन के अनुसार जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा किया जाने वाला

---

१. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। महाभारत, कर्णपर्व

२. राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥
परस्परभयादेके पापः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥ महाभारत, शान्तिपर्व १५–५, ६

शासन ही जनतंत्र है। प्रतिनिधि-जनतंत्र का आधार राष्ट्र का सामान्य हित होता है। सुशासन के लिए सामान्य हित की दृष्टि से कुछ प्रतिनिधियों का निर्वाचन होता है, यही प्रतिनिधि-जनतंत्र अथवा परोक्ष जनतंत्र है।

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत में प्रत्यक्ष जनतंत्र के रूप में वैराज्य और परोक्ष अथवा प्रतिनिधि जनतंत्र के रूप में गणराज्य शासन-प्रणालियाँ मिलती हैं। इन दोनों शासन-प्रणालियों की उत्पत्ति और विकास वैदिक काल में ही हो चुका था। इस प्रकार जनतंत्र शासन-प्रणालियों के ज्ञान और अनुभव का श्रेय सर्वप्रथम भारत को ही प्राप्त हुआ था।

आलोचकों की दृष्टि में जनतंत्र का अर्थ, मूर्खों पर उनकी अनुमति द्वारा शासन करना है। परन्तु यह बात केवल प्रत्यक्ष जनतंत्र के लिए ही कही जा सकती है। संभवतः इसी कारण भारतीय मनीषियों ने वैराज्य और पारमेष्ठ्य शासन-प्रणालियों में सुधार करके गणराज्य-शासनप्रणाली ग्रहण की थी। भारत में जिस प्रकार की गणतन्त्र प्रणाली अपनायी गयी थी, उसमें यह दोष नहीं आता, क्योंकि गणराज्य में आन्तरिक शासन के अधिकांश अधिकार सामाजिक, आर्थिक और स्थानीय संस्थाओं को प्राप्त होते थे। इसके अतिरिक्त राज्यसभा के सभासदों और राजा का निर्वाचन प्रत्यक्ष जनता द्वारा न होकर संस्थाओं द्वारा होता था, साधारण जनता केवल अपनी-अपनी संस्थाओं के कार्यकर्ताओं का ही निर्वाचन करती थी। इस प्रकार साधारण स्तर से ऊपर के व्यक्ति संस्थाओं के कार्यकर्ता के रूप में आ जाते थे और ये लोग राज्यसभा के सभासदों तथा राजा का निर्वाचन करते थे। अतः गणराज्य की निर्वाचन-प्रणाली में मूर्खों को पीछे छोड़ दिया जाता था। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद में कहा गया है कि विद्वान्, दूरदर्शी और किसी का अहित न चाहने वाले व्यक्ति ही मिलकर स्वराज्य की स्थापना करते हैं, मूर्ख और राष्ट्रघाती नहीं।[1] आधुनिक बड़े-बड़े जनतंत्र राज्यों में इस प्रणाली का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि प्रत्याशी के व्यक्तिगत गुणावगुणों से पूर्णतः परिचित हुए बिना, केवल निर्वाचन प्रचार के आधार पर मत देने वाले का निर्णय कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता।

महाभारत काल में गणराज्य का रूप कुलीनतंत्रीय हो गया था। इसमें जनता की विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का प्रतिनिधित्व न होकर, कुल और जाति के आधार पर प्रतिनिधित्व होने लगा था। परन्तु राज्य की सारी जनता कुलों और जातियों में ही विभक्त थी, इसलिए प्रतिनिधित्व समस्त जनता का हो जाता था। गुण की दृष्टि से

---

१. आयद् वामीव चक्षसा मित्रव्यं च सूरयः।
व्यचिष्टे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥ ऋग्वेद ५-६६-६

भी इसमें कोई कमी नहीं आती दिखाई देती, क्योंकि प्रत्येक कुलपति कुल का वयोवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध व्यक्ति होता था, और कुल के शासकों द्वारा निर्वाचित होता था। कुल के अन्तर्गत निर्वाचक गण जिस व्यक्ति का कुलपति के पद पर निर्वाचन करते थे उसके गुणावगुणों से वे पूर्णतः परिचित होते थे। इसलिए कुल में सर्वाधिक विद्वान् ही कुलपति का पद पाता होगा। अतः कुलपतियों का मत सर्वथा मूर्खों का मत नहीं कहा जा सकता।

अन्त में भारतीय जनतंत्र ने अपना विकृत रूप भी संसार के सामने रख दिया, और वह था सामन्त तंत्र। वास्तव में जनतंत्र का रूप सामन्तीय हो जाने के कारण ही जनतंत्र का पतन और लोप हो गया। इसके कारणों की विवेचना हम पहले कर चुके हैं। सामन्तीय जनतंत्र में साधारण जनता मताधिकार और शासनाधिकार से सर्वथा वंचित हो गयी और उसके लिए जनतंत्र तथा राजतंत्र शासन एक समान दिखाई देने लगे, क्योंकि इनके समकालीन राजतंत्र भी बहुधा सामन्ततंत्र को अपनाये हुए दिखाई देते हैं।

प्राचीन भारत के इतिहास में एक ऐसी शासन-प्रणाली मिलती है जिसका उदाहरण संसार के अन्य देशों में कठिनाई से मिलेगा। इस शासन-प्रणाली को हम संवैधानिक राजतंत्र कह सकते हैं। इसकी विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में क्रमबद्ध किया जा सकता है—

(१) राजा यद्यपि वंशानुगत होता था, तथापि उसको पदारूढ करने से पहले उसके गुणावगुणों तथा योग्यता पर विचार किया जाता था। राजपद के लिए किसी प्रकार अयोग्य सिद्ध होने पर, उसको राजपद से वंचित कर उसी वंश के अन्य योग्य उत्तराधिकारी को पदारूढ किया जाता था।

(२) सीमित एकतंत्र के समान वह राजा नाम मात्र का पदाधिकारी नहीं होता था, अपितु राजनीति में सक्रिय भाग लेता था और उसके अधिकार भी राज्य के पुरोहित को छोड़कर शेष सब पदाधिकारियों से अधिक होते थे।

(३) वह असीमित एकतंत्र भी न था, क्योंकि राजा को राजधर्म की निश्चित विधियों के अनुसार ही शासन करने का अधिकार था, स्वच्छन्दता से शासन करने का नहीं।

(४) राज्य का विशेष पृथक् संविधान न था, अपितु धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में लिखित राजधर्म ही सर्वथा मान्य होता था।

(५) इस संविधान की व्याख्या करने का अधिकार विद्वान् और राजगुरु अथवा पुरोहित को था। वैधानिक रूप से पुरोहित राजा की सत्ता से बाहर माना जाता था।

इस प्रकार के संवैधानिक राजतंत्र में जनता के अधिकारों की रक्षा की जाती थी

और सामाजिक, आर्थिक तथा क्षेत्रीय संस्थाओं और उनकी विधियों को मान्यता दी जाती थी। ये राज्य वास्तव में जनतंत्र के अधिकांश गुणों को लिये हुए थे।

इस प्रकार के राज्य वैदिक काल के बाद रामायण-काल तक अथवा महाभारत काल तक मिलते हैं। अतः जनतंत्रीय शासनों के विविध रूप भारत ने संसार के सामने अति प्राचीन काल में ही प्रस्तुत कर दिये थे।

(ई) शक्ति-पृथक्करण

भारतीय मनीषियों ने आदर्श शासन के जिस रूप की कल्पना की थी, उसके मूल में ही शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त निहित था। उनकी कल्पना के अनुसार सृष्टि का शासन ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन आदि देवों द्वारा चलाया जाता था। इन तीनों के कार्यक्षेत्र विभाजित माने गये थे। ब्रह्मा विधिनिर्माण और सृष्टि के, विष्णु पालन तथा रक्षा के और रुद्र घातक तत्वों के संहार के देवता माने गये थे।[१] इसी सिद्धान्त पर देव-जगत् के शासन में शासनशक्ति को वरुण, इन्द्र और यम, अथवा भारती, इडा और सरस्वती सभाओं में पृथक्-पृथक् विभाजित किया गया था। इस विभाजन में विधि-निर्माण और न्याय एक साथ होते थे तथा दण्ड-विभाग भी कार्यकारिणी से पृथक् था। परन्तु व्यवहार में यह शक्ति-विभाजन परिवर्तित हो गया। विधि-निर्माण का कार्य तो शासन-क्षेत्र से सर्वथा पृथक् बना रहा, न्याय-विभाग भी अधिकांश में जनता अथवा सामाजिक, आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं के हाथ में रहा जिसमें कार्यकारिणी का हस्तक्षेप बहुत कम था, परन्तु दण्डविभाग सर्वथा कार्यकारिणी के अधीन आ गया।

वैदिक काल के शासन में राज्यसभा अथवा महानग्नि के विधि निर्माण करने के अधिकारों का कोई संकेत नहीं मिलता, न्याय कार्य इसका प्रमुख कार्य प्रतीत होता है। परन्तु यह जनता द्वारा निर्वाचित जनता के प्रतिनिधियों की सभा थी, और कार्यकारिणी का अध्यक्ष राजा भी इसके प्रति उत्तरदायी था। इस प्रकार न्याय-विभाग भी सर्वथा कार्यकारिणी से पृथक् प्रतीत होता है।

विधि निर्माण का कार्य तो हिन्दू राजनीति में शासनक्षेत्र से सदैव पृथक् ही माना गया है। पौराणिक काल के गणराज्यों में न्यायविभाग अधिकांशतः सामाजिक, आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं में विभाजित या वितरित मिलता है, यद्यपि सर्वोच्च न्यायालय राजा तथा राज्यसभा बनाती थी। इस प्रकार न्यायविभाग कार्यकारिणी से

---

१. सृज्यते ब्रह्ममूर्तिस्तु रक्षते पौरुषी तनुः।
रौद्रीभावेन शमयेत् तिस्रोऽवस्थाः प्रजापतेः॥ महाभारत वनपर्व २७२–४७

सर्वथा पृथक् तो नहीं कहा जा सकता, तथापि उसको किसी सीमा तक पृथक् रखने का प्रयास किया गया है।

अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दू राजनीति में शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को आदि काल से ही माना गया था और व्यवहार में भी बहुत कुछ इसके अनुसार किया जाता था। विधि-निर्माण का कार्य जिस प्रकार हिन्दू-राजनीति में कार्यकारिणी और न्यायपालिका से सर्वथा पृथक् रखा गया, वैसा उदाहरण अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। क्योंकि हिन्दू-राज्यदर्शन विधि को ही सर्वोच्च प्रधानता देता है और विधि-निर्माण का कार्य जनसाधारण की योग्यता के बाहर समझता है। इसलिए यह कार्य केवल वीतराग दूरदर्शी मनीषियों को ही दिया गया था।

(उ) दो सदनों की कल्पना

डा० के० पी० जायसवाल ने पाणिनि के सूत्र ३–३–४२ और यूनानी लेखकों के वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला है कि भारत के अनेक गणराज्यों में दो सदन रखने की प्रथा थी। हमारे विचार में पाणिनि के सूत्र से आर्थिक और राजनीतिक संघ के गुणों का भेद प्रकट होता है। यूनानी लेखकों ने भी यह स्पष्ट नहीं किया कि शासन-कार्य दो सदनों द्वारा होता था। इसलिए हम डा० जायसवाल के मत से सहमत नहीं, और हमारे विचार से प्राचीन गणराज्य इतने छोटे थे कि उनको दो सदन रखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इस विषय पर विस्तृत विवेचन हम गत अध्याय सात में कर चुके हैं, इसलिए उसकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होती।

(ऊ) सहिष्णुता

मिल के मतानुसार मानव-प्रगति के लिए विचार एवं भाषण की स्वतंत्रता अत्यावश्यक है। यह नहीं कहा जा सकता कि जो विचारधारा एक समय में प्रचलित है, वही सत्य है। प्रचलित विचारधारा के विपरीत किसी व्यक्ति की विचारधारा का दमन नहीं करना चाहिए। सम्भव है कि यह ही विचारधारा सत्य हो। ईसा और सुकरात की विचारधाराएं प्रचलित विचारधाराओं से विपरीत थीं। सत्ताधारियों ने उनके दमन का यथासम्भव प्रयत्न किया। दोनों को प्राणदण्ड दिया गया। परन्तु संसार को मानना पड़ा कि वे सनकी नहीं थे, अपितु महापुरुष थे। इसी लिए मिल का कहना था कि आज हम जिनको सनकी कहते हैं और उनके अनोखे विचारों की उपेक्षा करते हैं, वे भविष्य में विशिष्ट बुद्धिमान् भी सिद्ध हो सकते हैं। डा० जानसन का विचार था कि दमन से सत्य छिप नहीं सकता। सत्य की दृढता के लिए दमन एक कठोर कसौटी है, परन्तु मिल ने इस प्रकार के दमन को प्रगति में बाधक बताया

है। मार्टिन लूथर के पूर्व धर्म-सुधार आन्दोलन यूरोप में अनेक बार आरम्भ हुआ था, परन्तु वह दमन द्वारा रोक दिया गया। यदि ऐसा न होता तो सम्भवतः यूरोप में सोलहवीं शताब्दी से पहले ही धर्म-सुधार आरम्भ हो गया होता। लूथर के धर्म-सुधार के फलस्वरूप कई महत्वपूर्ण विचारधाराओं का बीजारोपण हुआ। यदि उसको पूर्व दमन से न रोका गया होता तो उससे और शीघ्र प्रगति हुई होती। सत्य अवश्य ही अमर है और दमन से उसका अन्त नहीं होता, तथापि दमन से प्रचार में विलम्ब किया जा सकता है। यह विलम्ब समाज के लिए हानिकर होता है।

भारतीय राजनीति में विचार और भाषण की स्वतंत्रता का महत्व माना गया था। इस देश में चार्वाक, शून्यवादी, द्वैतवादी अद्वैतवादी आदि अनेक प्रकार के परस्पर विरोधी दार्शनिक हुए हैं। उनमें विचार संघर्ष चलता रहा, परन्तु किसी के विचार या भाषण पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था। रामराज्य में एक रजक को जनरंजक राजा राम की परम साध्वी सीता के विरुद्ध भी विचार व्यक्त करने पर प्रतिबन्ध नहीं था। राम चाहते तो उसको दण्ड दे सकते थे। परन्तु राम ने यही सोचा होगा कि दण्ड के द्वारा एक मुख बन्द किया जायगा तो हजारों मुखों से वही आवाज निकलेगी। व्यवहार द्वारा ही जनता या व्यक्ति के विचार बदले जा सकते थे, दण्ड द्वारा नहीं।

अतः हिन्दू राजनीति में सहिष्णुता का पाठ विशेष महत्व रखता है। राजपद और प्रभुत्व का लोभ स्वभावतः मनुष्य में शक्ति को केन्द्रित करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही हिन्दू-राजनीति में विधि को सर्वोच्च माना गया है। साथ ही इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि सब लोग अपने-अपने धर्म का पालन करने में स्वतंत्र हैं। हिन्दू-साहित्य में धर्म शब्द के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी प्रकार की विधियां आ जाती हैं, इसी लिए हम देख चुके हैं कि गणराज्यों में सभी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं को अपनी-अपनी व्यवस्था, विधियों और न्याय-कार्यों में अधिकतम स्वतंत्रता राज्य की ओर से दी गयी थी। राज्य को उन संस्थाओं की आन्तरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करने के बहुत कम अवसर प्राप्त होते थे। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय राजनीति में सहिष्णुता का, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों रूपों में पालन किया जाता था।

(ए) असांप्रदायिकता

वैदिक कालीन राजनीतिक संगठन यद्यपि आर्थिक और स्थानीय संस्थाओं द्वारा बनाया जाता था, तथापि उसमें पुरोहित का पद महत्वपूर्ण दिखाई देता है। इस पद

का महत्व कालान्तर में बढ़ता गया, यहाँ तक कि रामायण-काल में इस पद का महत्व राजा से कम नहीं प्रतीत होता और राजनीति में पुरोहित का महत्वपूर्ण सक्रिय भाग रहता था। परन्तु रामायण-काल के बाद इस पद का महत्व कम होता दिखाई देता है और महाभारत कालीन राजतंत्र में भी पुरोहित का महत्व केवल धार्मिक कार्यों तक ही सीमित हो जाता है।

अतः हमको यह विचार करना आवश्यक है कि पुरोहित के पद की राजनीति में क्या आवश्यकता थी। वास्तव में हिन्दू राजनीति में प्रत्येक राज्य का पृथक् संविधान नहीं बनाया जाता था। धर्म का ही एक अंग राजधर्म भी था और वही राजधर्म सभी राज्यों का समान संविधान माना जाता था। इस संविधान की व्याख्या करने के लिए एक धर्मज्ञ विद्वान् की आवश्यकता होती थी। अतः हमारे विचार से पुरोहित की आवश्यकता मुख्यतः इसी कार्य के लिए थी। पुरोहित धर्मग्रन्थों में निहित संविधान के अनुसार ही राजा का पथ-प्रदर्शन करता था।

वैदिक कालीन राज्यों में धर्म का स्वरूप मानवधर्म का ही था। अतः धर्मानुकूल शासन में भी साम्प्रदायिकता की भावना आने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था। परन्तु सूत्रों और स्मृतियों में धर्म का विकास वर्णाश्रम धर्म के रूप में किया गया। वर्णाश्रम धर्म में विभिन्न वर्णों की विधियों और कर्मों में भेद उत्पन्न हो जाता है। अतः तदनुसार ही तत्कालीन राजतंत्र में विभिन्न वर्णों के लिए शासन और न्याय में विभिन्नता आ जाना स्वाभाविक था।

परन्तु गणतन्त्र में स्थिति इसके विपरीत दिखाई देती है। वैदिक कालीन जनतंत्रीय राज्यों में पुरोहित का पद होते हुए भी साम्प्रदायिकता के आने का प्रश्न नहीं था, परन्तु जब राजतंत्र में वर्णाश्रम धर्म के आ जाने से साम्प्रदायिकता आने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी, तब जनतंत्र से पुरोहित का पद लुप्त होता दिखाई देता है। महाभारत कालीन और उसके बाद के गणराज्यों में हमको पुरोहित-पद का उल्लेख राजनीति से सम्बन्धित नहीं मिलता। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गणराज्यों में साम्प्रदायिकता का प्रभाव नहीं पड़ सका।

महाभारत, शान्तिपर्व में गणराज्यों के सम्बन्ध में स्पष्टतः कहा गया है कि राजनीतिक दृष्टि से सभी कुलों और जातियों को समानता का अधिकार प्राप्त होने पर भी, उनमें रूप, धन, बुद्धि आदि की असमानता को राज्य नहीं मिटा सकता। इस विषय पर हम विस्तृत रूप से विचार कर चुके हैं कि गणराज्यों में सभी वर्ण के व्यक्ति शासन में भाग लेते थे। इसका संकेत भारतीय साहित्य में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ काल तक राजतंत्र और गणतंत्र में उपर्युक्त भेद चलता रहा था, जब कि

अशोक ने स्पष्टतः इस भेद को मिटाने की घोषणा कर दी थी ।[१] अशोक ने राजनीति में जिस धर्म का प्रसार किया था वह वास्तव में मानवधर्म था। इस आधार पर कुछ विद्वान् यहाँ तक मानने को तैयार हैं कि अशोक का वैयक्तिक धर्म भी बौद्ध धर्म नहीं था।[२] भारतीय साहित्य में उपलब्ध अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र भी यह बात प्रमाणित करते हैं कि कालान्तर में राजतंत्र में भी राजनीति को धर्म से सर्वथा पृथक् रखने के विचार प्रबल हो चुके थे ।

यूरोपीय देशों ने राजनीति को असाम्प्रदायिक बनाने का सिद्धान्त सहस्रों बार रक्तपात करने के बाद सीखा। परन्तु भारतीय जनतंत्र में यह सिद्धान्त सदैव व्यवहार में लाया गया था, जब कि भारतीय राजतंत्र में इसको शान्तिपूर्वक स्वीकार कर लिया गया था। यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि भारतीय राजतंत्र ने यह पाठ गणतंत्र से ही सीखा था ।

(ऐ) समानता

भारतवर्ष के विस्तृत भूभागों में भौगोलिक विभिन्नता के कारण तथा इस देश के जलवायु के प्रभाव से भारतवासियों की प्रकृति ही कुछ विभिन्नता की ओर दिखाई देती है। इसके फलस्वरूप यहाँ पर विभिन्न जातियाँ, उपजातियाँ, प्रथाएं और विभिन्न विचारधाराएं मिलती हैं। परन्तु भारतीय स्वभाव में सहिष्णुता का गुण होने के कारण ही, इतनी विभिन्नताओं के होते हुए भी यहाँ के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अधिक अशान्ति नहीं दिखाई देती। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतीय राजनीति में सब धर्मों को समानता का अधिकार प्राप्त था। हम असाम्प्रदायिकता के विवरण में ऊपर लिख चुके हैं कि भारतीय जनतंत्र में सभी जातियों और वर्णों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त दिखाई देते हैं। भारतीय इतिहास में पुष्यमित्र शुंग से पहले राजनीति में धार्मिक पक्षपात का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं। समानता के अधिकार के कारण ही, यहाँ पर विभिन्न धार्मिक और राजनीतिक विचारधाराओं की उत्पत्ति और प्रचार सम्भव हो सका था।

(ओ) उच्च न्याय और विधि की सर्वोच्च सत्ता

हिन्दू राजनीति की महान् देन उच्च न्याय-व्यवस्था है, और उसकी सर्वोत्कृष्ट देन है—विधि की प्रधानता। न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में

---

१. डा० बेनीप्रसाद, दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, पृष्ठ १९९
२. उपर्युक्त, पृष्ठ २०३

विचार कर चुके हैं। न्याय करने में पिता-पुत्र का भी पक्षपात न करना, न्याय की सीमा से किसी को भी बाहर न मानना, न्याय-कार्य में विलम्ब न करना, न्याय केवल विद्वानों द्वारा ही करवाना, न्याय-कार्य एकान्त में करने का निषेध, मुकदमों का क्रमानुसार लेना, न्यायाधीश के कार्य को कार्यकारिणी के हस्तक्षेप से रहित रखना, वकीलों का प्रयोग , न्याय की कार्यवाही को लेखनीबद्ध करना, पूर्व निर्णीत मुकदमों का लेखा रखना और उनका भविष्य के निर्णय में प्रयोग करना आदि हिन्दू न्याय-व्यवस्था के मुख्य गुण हैं ।

विधि की प्रधानता तो हिन्दू-राजनीति की आत्मा है । इसका महत्व इतना अधिक समझा गया है कि राजतंत्र के राजा के लिए भी विधियों का पूर्णतः पालन करना आवश्यक समझा जाता था । राज्याभिषेक के समय इसकी शपथ खानी होती थी कि वह धर्म का उल्लंघन कभी नहीं करेगा । इतना ही नहीं, विधि को अत्यन्त पवित्र माना जाता था । इसी लिए उसकी उत्पत्ति विधाता अथवा ब्रह्मा से मानी गयी है । धर्म पर आत्मबलिदान करने की भावना प्राचीन हिन्दू-समाज में सर्वत्र व्याप्त दिखाई देती है।

राज्य को भी विधि-संशोधन का अधिकार न देकर हिन्दू-राजनीति ने जनता के अधिकारों की महान् रक्षा की है। इसी कारण शासन का रूप राजतंत्र होने पर भी उसमें जनतंत्र के अधिकांश गुण दृष्टिगोचर होते हैं । आज भी जनतंत्रीय राज्य का सर्वोच्च लक्षण विधि की प्रधानता को ही माना जाता है। इसका आदि स्रोत हिन्दू राजनीति में ही निहित है ।

अध्याय १६

उपसंहार

भारतीय इतिहास से प्राचीन जनतंत्रीय राज्यों का पाँचवीं शताब्दी ईसवी में लोप होता दिखाई देता है, तथापि भारतीय जनता के हृदय में जनतंत्र की जो भावना वे भर गये थे, उसको अनेक शताब्दियों की दासता भी भारतीयों के हृदय से न निकाल सकी। यद्यपि भारतीय इतिहास में यत्र-तत्र स्वच्छन्द शासक भी दिखाई देते हैं तथापि जन-स्वीकृति के बिना कोई भी शासन स्थायी नहीं हो सकता, यह विचार प्रत्येक बुद्धिमान् शासक को स्वेच्छाचारी होने से रोकता रहा, और इसी कारण प्राचीन भारतीय इतिहास में अधिकांश ऐसे शासक पाये जाते रहे हैं जो लोकापवाद से डरकर सदैव जनमत को अपनी ओर रखने का प्रयास करते रहते थे। महाराणा प्रताप और छत्रपति शिवाजी के कठिन संघर्षों की सफलताओं का कारण यही था कि उन्होंने अपने क्षेत्र की जनता के हृदयों पर विजय पा ली थी। इसी जनतंत्र की भावना ने सन् १८५७ की क्रान्ति को जन्म दिया था और यही भावना कठिन और दीर्घ संघर्ष के बाद सन् १९४७ में देश में पुनः जनतंत्रीय शासन लाने में सफल हुई थी।

भारतीय जनता में यह जनतंत्र की भावना आदि काल में राज्य का जन्म होने से पहले ही विकसित हो गयी थी। जब राज्य गर्भावस्था में ही था, तभी उसके जनतंत्रीय अंग-प्रत्यंगों का निर्माण हो चुका था, इसलिए राज्य का जन्म ही जनतंत्र के रूप में हुआ था। आधुनिक राजनीति के विद्वानों में प्रचलित धारणा है कि संसार में सर्वप्रथम राजतंत्र का जन्म हुआ और उसका नवीनतम विकसित रूप जनतंत्र है। भारतीय साहित्य और राजनीति में इसके विपरीत प्रमाण मिलते हैं। भारत में सर्वप्रथम जनतंत्र का जन्म हुआ और राजतंत्र उसका विकृत रूप था। भारत में राजनीतिक विचारधारा अपने देश-काल से प्रभावित होकर यूनान की विचारधारा से बहुत कुछ भिन्न रही थी, इसलिए इसका अध्ययन स्वतंत्र दृष्टिकोण से करना आवश्यक है।

वेदों में परोक्षवादी शैली होने के कारण ही आधुनिक विद्वान् विश, अग्नि और महाग्नि आदि वैदिक शब्दों के यथार्थ भाव को समझने में असमर्थ रहे हैं। वैदिक साहित्य में विश शब्द आर्थिक संस्था के लिए, अग्नि शब्द विद्वान् के लिए और महाग्नि

शब्द राज्यसभा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार विशपति शब्द राजा के लिए नहीं, अपितु आर्थिक संस्था की समिति के प्रधान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

आदि काल का मानव आर्थिक दृष्टि से सुखी था, परन्तु उसके सामने रक्षा का प्रश्न अवश्य था। अतः दाम्पत्य-प्रेम से प्रेरित होकर रक्षात्मक कारणों से वह गृह बनाकर रहने लगा। इस प्रकार सर्व-प्रथम स्वभावतः सामाजिक संस्था, कुटुम्ब का जन्म हुआ, जिसको वैदिक साहित्य में गार्हपत्य अवस्था कहा गया है। समाज ने गार्हपत्य अवस्था से क्रमशः आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा, समिति और आमंत्रण अवस्था में विकास किया। अतः राज्य की उत्पत्ति से पहले ही समाज में सभा, समिति और कार्य-परिषद् का रूप उत्पन्न हो चुका था। इस राजनीतिक विकास के अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में विश नामक संस्था का जन्म भी राज्य की उत्पत्ति से पहले हो चुका था। परोक्षवादी शैली को न समझने के कारण सभा और समिति के संगठन के विषय में अब तक भ्रम फैला हुआ है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख है कि सभा का संगठन पाँच प्रकार के सभासदों; प्रयाजाः, अनुयाजाः, हुतभागाः, अहुतादः और पंचप्रदिशों द्वारा होता था। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से तत्कालीन समाज अनेक वर्गों में विभाजित था जिनमें आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं का विशेष प्रतिनिधित्व था। इन वर्गों के प्रतिनिधि अपनी पृथक्-पृथक् समितियों में संगठित होते थे और सब समितियों का सम्मिलित रूप सभा कहलाती थी।

राजा की उत्पत्ति से पहले समाज अराजक और वैराज्य अवस्थाओं से गुज़र चुका था, अतः राज्य और राजा की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई और न समान कारणों से हुई। राज्य की उत्पत्ति व्यवस्था के लिए और राजा की उत्पत्ति रक्षात्मक कारणों से हुई।

हिन्दू-साहित्य में शासन का आदर्श-चित्र देवजगत के शासन के रूप में दिया गया है। उसके मतानुसार सृष्टि का शासन ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन आदि देवों के द्वारा चलाया जाता है। ब्रह्मा विधि-निर्माण का कार्य करते हैं, विष्णु के अधीन पालन और रक्षा का भार है तथा महेश सृष्टि के घातक तत्वों का विनाश करने वाले संहार के देवता माने जाते हैं। तदनुसार देवजगत के शासन का भार तीन पृथक्-पृथक् सभाओं—भारती, इडा और सरस्वती में निहित कहा गया है जिसके अध्यक्षों की कल्पना वरुण, इन्द्र और यम नाम से की गयी है। इस प्रकार हिन्दू शासन के आदर्श में विधायिनी, कार्यकारिणी और संहारिणी शक्तियों को सर्वथा पृथक् रखकर शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को आरम्भ से ही माना गया है।

परन्तु वैदिक काल के शासन में एक राज्यसभा ही कार्य-पालिका और न्याय पालिका का कार्य करती थी जिसको महानग्नि कहा गया है। इस सभा के अधिकार राज

शब्द राज्यसभा के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार विशपति शब्द राजा के लिए नहीं, अपितु आर्थिक संस्था की समिति के प्रधान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

आदि काल का मानव आर्थिक दृष्टि से सुखी था, परन्तु उसके सामने रक्षा का प्रश्न अवश्य था। अतः दाम्पत्य-प्रेम से प्रेरित होकर रक्षात्मक कारणों से वह गृह बनाकर रहने लगा। इस प्रकार सर्व-प्रथम स्वभावतः सामाजिक संस्था, कुटुम्ब का जन्म हुआ, जिसको वैदिक साहित्य में गार्हपत्य अवस्था कहा गया है। समाज ने गार्हपत्य अवस्था से क्रमशः आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभा, समिति और आमंत्रण अवस्था में विकास किया। अतः राज्य की उत्पत्ति से पहले ही समाज में सभा, समिति और कार्य-परिषद् का रूप उत्पन्न हो चुका था। इस राजनीतिक विकास के अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में विश नामक संस्था का जन्म भी राज्य की उत्पत्ति से पहले हो चुका था। परोक्षवादी शैली को न समझने के कारण सभा और समिति के संगठन के विषय में अब तक भ्रम फैला हुआ है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख है कि सभा का संगठन पाँच प्रकार के सभासदों; प्रयाजाः, अनुयाजाः, हुतभागाः, अहुतादः और पंचप्रदिशों द्वारा होता था। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से तत्कालीन समाज अनेक वर्गों में विभाजित था जिनमें आर्थिक और क्षेत्रीय संस्थाओं का विशेष प्रतिनिधित्व था। इन वर्गों के प्रतिनिधि अपनी पृथक्-पृथक् समितियों में संगठित होते थे और सब समितियों का सम्मिलित रूप सभा कहलाती थी।

राजा की उत्पत्ति से पहले समाज अराजक और वैराज्य अवस्थाओं से गुज़र चुका था, अतः राज्य और राजा की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई और न समान कारणों से हुई। राज्य की उत्पत्ति व्यवस्था के लिए और राजा की उत्पत्ति रक्षात्मक कारणों से हुई।

हिन्दू-साहित्य में शासन का आदर्श-चित्र देवजगत के शासन के रूप में दिया गया है। उसके मतानुसार सृष्टि का शासन ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन आदि देवों के द्वारा चलाया जाता है। ब्रह्मा विधि-निर्माण का कार्य करते हैं, विष्णु के अधीन पालन और रक्षा का भार है तथा महेश सृष्टि के घातक तत्वों का विनाश करने वाले संहार के देवता माने जाते हैं। तदनुसार देवजगत के शासन का भार तीन पृथक्-पृथक् सभाओं—भारती, इडा और सरस्वती में निहित कहा गया है जिसके अध्यक्षों की कल्पना वरुण, इन्द्र और यम नाम से की गयी है। इस प्रकार हिन्दू शासन के आदर्श में विधायिनी, कार्यकारिणी और संहारिणी शक्तियों को सर्वथा पृथक् रखकर शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त को आरम्भ से ही माना गया है।

परन्तु वैदिक काल के शासन में एक राज्यसभा ही कार्य-पालिका और न्याय-पालिका का कार्य करती थी जिसको महानग्नि कहा गया है। इस सभा के अधिकार राजा

से भी अधिक बताये गये हैं क्योंकि राज्य की सेना और कोष पर भी इसी का अधिकार था। यह सभा राजा के कृत्यों पर विचार भी करती थी और न्याय का कार्य भी इसी के अधीन था। राजा की कटु आलोचना करने का और राजा को पदच्युत करने का अधिकार भी इस सभा को प्राप्त था। साथ ही यह सभा निर्वाचन द्वारा बनायी जाती थी और राजा की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा ही होती थी। अतः वैदिक काल में राज्य का जो चित्र उपलब्ध होता है वह एक विकसित शुद्ध जनतंत्र का रूप है।

जब कि भारत में राज्य का आरम्भ ही जनतंत्र से हुआ था, तब क्या कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में जनतंत्र-शासन का विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। यह प्रश्न उपर्युक्त विवरण के बाद उठना स्वाभाविक है। वास्तव में भारतीय विद्वान् सिद्धान्त रूप में राजतंत्र को जनतंत्र से अधिक भिन्न नहीं मानते थे, क्योंकि राजतंत्र का जन्म जनतंत्र से ही हुआ था, और यही कारण था कि धर्ममर्यादित राजतंत्र में जनतंत्र के लगभग सभी मुख्य गुण दिखाई देते हैं। दूसरे, जनतंत्र और राजतंत्र दोनों के सर्वोच्च शासक को राजा ही कहते थे, अतः राजा के कर्तव्यों के वर्णन में जनतंत्र और राजतंत्र दोनों का वर्णन हो जाता था। तीसरे, भारतीय सूत्रों और शास्त्रों में राज्यशास्त्र का वर्णन किसी राज्य विशेष के लिए नहीं किया गया था। वह केवल राजा और प्रजा के पारस्परिक कर्तव्यों का वर्णन मात्र है जो कि अधिकांशतः जनतंत्र और राजतंत्र दोनों के लिए माननीय था। अतः सूत्रों और धर्मशास्त्रों में निहित राष्ट्र के कर्तव्य, राज्य के सावयव स्वरूप, राजा के वांछित गुण और कर्तव्य सम्बन्धी विवरण को जनतंत्रीय राज्यों के लिए भी उसी रूप में मानना उचित है।

भारतीय विद्वान् पैतृक गुणों को अधिक महत्व देते थे। इसलिए वांछित गुणों से युक्त राजा की खोज सर्वप्रथम पूर्व राजा के पुत्रों में ही करने की प्रथा पड़ गयी, और योग्य सिद्ध होने पर उसको आजीवन पदारूढ रखा जाने लगा। इस प्रथा के कारण शनैः-शनैः राजपद वंशानुक्रमिक बन गया। राजपद आजीवन हो जाने के कारण मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार राजा के हाथ में आ गया। परन्तु इन सब कार्यों के लिए निश्चित और विस्तृत नियम भारतीय मनीषियों ने बना दिये थे, जिनके अनुकूल कार्य करना राजा और मंत्रियों का नैतिक कर्तव्य था। इस प्रकार शासन का स्वरूप जनतंत्र से धर्ममर्यादित राजतंत्र बन गया।

परन्तु सभी राज्यों में उपर्युक्त परिवर्तन एकदम नहीं हो गया था। प्रायः छोटे-छोटे राज्य जनतंत्र के रूप में ही चलते रहे थे। इस प्रकार दीर्घकाल तक जनतंत्र और राजतंत्र साथ-साथ चलते रहे। महाभारत में हमको चार प्रकार के जनतंत्र राज्यों का उल्लेख मिलता है, जिनको वैराज्य, पारमेष्ठ्य राज्य, गणराज्य और संघराज्य कहा गया है। इससे विदित होता है कि समय के प्रभाव से जनतंत्र-शासन के रूप में भी

विभिन्न परिवर्तन होते रहते थे। वैराज्य में जनता परस्पर धर्म का पालन करते हुए व्यवस्था रखती थी। पारमेष्ठ्य राज्य में प्रत्येक गृहपति राज्यसभा का सभासद् होता था और गणराज्य में प्रतिनिधित्व कुल और जातियों के आधार पर होने लगा। संघराज्य एकाधिक गणराज्यों के मिलने से बनता था।

परिवर्तनों के साथ-साथ महाभारत कालीन गणराज्यों में कुछ दोष भी अवश्य आ गये थे। वैसे तो आलोचकों की दृष्टि में आधुनिक जनतंत्र में भी अनेक दोष दिखाई देते हैं, परन्तु गम्भीर विद्वानों ने भी जनतंत्र के कुछ अनिवार्य दोषों का उल्लेख किया है। लार्ड ब्राइस के मतानुसार जनतंत्र में मुख्य छः दोष दिखाई देते हैं, जो निम्नांकित हैं—

(१) विधि-निर्माण और शासन-प्रबन्ध में धन का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

(२) राजनीति को एक प्रकार का व्यवसाय या व्यापार बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है।

(३) समानता के सिद्धान्त की विकृति और प्रशासनिक बुद्धि एवं चातुर्य की अवहेलना की जाती है।

(४) धन का अपव्यय अधिक होता है।

(५) राजनीतिक दल शासन में अनुचित हस्तक्षेप करते हैं।

(६) शासन के कर्मचारियों तथा व्यवस्थापिका के सदस्यों में, भविष्य में मत प्राप्त करने की दृष्टि से विधि बनाने तथा व्यवस्था के भंग होने की स्थिति को सहन करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

महाभारत कालीन गणराज्यों में विधि निर्माण का कार्य राज्य के क्षेत्र से बाहर होने के कारण उपर्युक्त दोषों में से पहला, चौथा और छठा दोष नहीं दिखाई देता, परन्तु उपर्युक्त दूसरे, तीसरे और पाँचवें दोष का संकेत महाभारत में पाया जाता है। इनके अतिरिक्त दो मुख्य दोष और दिखाई देते हैं—(१) मंत्रणा को गुप्त रखने में कठिनाई, जिसका उल्लेख स्वयं भीष्म ने किया है और (२) शासन में आर्थिक तथा स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधित्व का लोप, जो कि वैदिक कालीन गण-राज्य की तुलना से स्पष्टतः विदित होता है।

गणराज्यों के उपर्युक्त दोष तत्कालीन विद्वानों की दृष्टि में भी आ चुके थे। महाभारत में दलबन्दी के दोषों के कारण श्री कृष्ण स्वयं चिन्तित दिखाई देते हैं। दलबन्दी के कारण ही गणराज्य में अयोग्य शासकों का पदारूढ होना सम्भव हो गया था। इन दोषों से राज्य को मुक्त करने के लिए, भारतीय मनीषियों ने राजा के वांछित गुणों की व्याख्या की। उक्त वांछित गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को पाना सुलभ नहीं था। उचित शिक्षा तथा पैतृक गुणों के कारण उन गुणों का अस्तित्व राजा की सन्तान

में होने की अधिक सम्भावना थी। अतः राजपद के योग्य व्यक्ति को राजा के पुत्रों में ही खोजने की प्रथा पड़ गयी। इस प्रकार गणराज्यों में दलबन्दी के दोषों को दूर करने के प्रयास में शासन का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया और वह आधुनिक भाषा में गणतंत्र से धर्ममर्यादित राजतंत्र बन गया। परन्तु अयोग्य सिद्ध होने पर राजा को पदच्युत करने का अधिकार जनता ने सुरक्षित रखा, जिसका उल्लेख हम कर चुके हैं।

भीष्म के मतानुसार गणराज्य में मंत्रणा को गुप्त रखना कठिन हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिए, राजा को विश्वसनीय व्यक्तियों को मंत्रिपद पर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। परन्तु इस अधिकार के कारण ही कालान्तर में राजा को स्वच्छन्द बनने का अवसर मिल गया। राजा का धर्मानुकूल पथप्रदर्शन करने और उसको अनुचित मार्ग से रोकने का कर्तव्य मुख्यतः मंत्रियों पर रखा गया था। परन्तु राजा के हाथ में मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार आ जाने के कारण, पदलोलुप मंत्री अपने कर्तव्य से च्युत होकर राजा की हाँ में हाँ मिलाने लगे। इस प्रकार गणतंत्र के दोषों को दूर करने के उपाय ही राजतंत्र और स्वच्छन्द शासक बनाने के कारण बन गये।

महाभारत में हमको संघराज्य का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु आधुनिक विद्वान् बहुधा पाणिनिसूत्र ३-३-८६ के आधार पर संघ और गण को पर्यायवाची ही मानते हैं। गण और संघ शब्दों का सामान्य, विशेष और पारिभाषिक तीन पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयोग होता है। सामान्यतः गण और संघ दोनों शब्दों का अर्थ समूह होता है, इसलिए सामान्य अर्थ में ये दोनों शब्द लगभग समान अर्थ रखते हैं, परन्तु अपने विशेष और पारिभाषिक प्रयोगों में इन दोनों शब्दों में भिन्नता है। इन अर्थों में एकाधिक गण मिलकर संघ बनाते हैं, अतः संघ की इकाई को गण कहते हैं।

पाणिनि ने आयुधजीवी संघों का भी उल्लेख किया है जो कि कौटिल्य के वार्ता-शस्त्रोपजीवी संघों की भाँति ही आर्थिक संघ थे। इस प्रकार संघ राजनीतिक भी थे और अराजनीतिक भी। अराजनीतिक संघ की इकाई को बहुधा वर्ग कहा जाता था जो कि संस्था के अर्थ में गण का पर्याय होता है। इसका स्पष्ट उदाहरण बौद्ध साहित्य में मिल जाता है जिसमें पंचवर्ग संघ, दशवर्ग संघ आदि का उल्लेख है। इस प्रकार गण शब्द सामान्य अर्थ में संघ का पर्यायवाची होता है जो कि समूह के अर्थ में प्रयुक्त होता है। विशेष अर्थ में गण शब्द आर्थिक संस्था के लिए रामायण आदि में उल्लिखित मिलता है और इस अर्थ में यह वर्ग का पर्यायवाची होता है। पारिभाषिक अर्थ में गण का प्रयोग गणराज्य के अर्थ में होता है। इसी प्रकार संघ शब्द भी सामान्य अर्थ में समूह के लिए, विशेष अर्थ में अराजनीतिक संस्था के लिए और पारिभाषिक अर्थ में संघराज्य के लिए प्रयुक्त होता है।

कौटिल्य ने बौद्धकालीन लिच्छवि, वृजि, मल्ल आदि गणराज्यों को लिच्छविक, वृजिक, मल्लक आदि राजशब्दोपजीवी संघ कहा है, जब कि बौद्ध साहित्य में इनको गणराज्य कहा गया है। कौटिल्य राजनीति का उच्च कोटि का विद्वान् था। उसके उपर्युक्त परिवर्तित नामकरण का विशेष भाव होना आवश्यक है। पाणिनि के अनुसार लिच्छवि, वृजि, मल्ल आदि शब्दों का रूप राजभक्ति (नागरिकता) के अर्थ में लिच्छविक, व्रजिक, मल्लक होता है। अतः कौटिल्य ने इन शब्दों का शुद्ध राजनीतिक स्वरूप प्रयुक्त किया है। राजशब्दोपजीवी का अर्थ राजा शब्द से जीविकोपार्जन करने वाला होता है। जमींदार लोगों की जीविका के साधन को जमींदारी ही कहा जाता है। अतः राजशब्दोपजीवी का तात्पर्य ज़मींदार अथवा सामन्त हो सकता है। इस प्रकार राजशब्दोपजीवी संघ कहकर कौटिल्य ने उक्त राज्यों के सामन्तीय स्वरूप का बोध कराया है। इसकी पुष्टि बौद्ध साहित्य से भी होती है जिसमें लिच्छवि गणराज्य में ७७०७ राजा बताये गये हैं और इतने ही उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक कहे गये हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक राजा अपना निजी उत्तराधिकारी, सेनापति और भाण्डागारिक रखता था। यह विवरण उसके सामन्तीय स्वरूप को स्पष्ट कर देता है।

इस प्रकार वैदिक कालीन शुद्ध जनतंत्र का स्वरूप महाभारत काल में कुलीन गणतंत्र और बौद्धकाल में समन्तपर्यायी गणतंत्र दिखाई देता है। बौद्ध काल के बाद भी अन्त तक गणराज्यों का स्वरूप समन्तपर्यायी ही मिलता है।

समन्तपर्यायी गणराज्य अथवा संघ में राज्य सामन्तों में विभक्त रहता था, और ये सामन्त अपनी सामन्तता में आन्तरिक शासन के पर्याप्त अधिकार रखते थे। इसी लिए ये लोग अपने को राजा ही समझते थे। इस प्रकार के राज्य में साधारण जनता को शासन में प्रतिनिधित्व के अधिकार प्राप्त न थे। अतः जनता के लिए यह शासन राजतंत्र के ही समान था। परन्तु राजतंत्रीय राज्य अपेक्षाकृत बड़े होते थे और उनमें सामन्त लोग भी अधिक स्वतंत्र तथा स्वच्छन्द न हो पाते थे। इसलिए जनता की रुचि गणतंत्र से हटकर राजतंत्र की ओर हो गयी। भारतीय प्राचीन इतिहास से गणतंत्र के लोप हो जाने का यही मुख्य कारण था।

जनतंत्र के रूप में उपर्युक्त परिवर्तनों के अनुसार ही उनकी शासन-व्यवस्था, न्यायव्यवस्था और सैनिक संगठन में भी परिवर्तन होते रहे। वैदिक काल में आर्थिक, सामाजिक तथा स्थानीय संस्थाएं राज्य के हस्तक्षेप से प्रायः वंचित ही थीं और राज्य के शासन में उनका प्रतिनिधित्व भी मुख्य रूप में था। महाभारत काल के गणराज्यों में उक्त संस्थाओं का प्रतिनिधित्व राज्य के शासन में नहीं दिखाई देता, तथापि उनकी आन्तरिक व्यवस्था और विधियों को मान्यता मिली हुई प्रतीत होती है, परन्तु बौद्धकालीन गणराज्यों में शासन-शक्ति सामन्तों में विभाजित होने के कारण आर्थिक, सामाजिक

और स्थानीय संस्थाओं को राजनीतिक अधिकारों से सर्वथा वंचित हो जाना पड़ा। इसी प्रकार सैनिक संगठन पर भी प्रभाव पड़ा।

महाभारत कालीन गणराज्यों की जनता के लगभग सभी समर्थ व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर सैनिक रूप में संगठित दिखाई देते हैं। उनकी आर्थिक संस्थाओं में भी सैनिक शक्ति निहित रहती थी। परन्तु सामन्ततंत्र में जनता को शासन में प्रतिनिधित्व न रहने के कारण केवल स्थायी सेना पर ही अवलम्बित रहना पड़ता था। इसके परिणाम-स्वरूप राज्य की सैनिक शक्ति क्षीण हो गयी और व्यय बढ़ गया। यह भी गणराज्यों के विनाश का मुख्य कारण था।

वैदिककालीन जनतंत्र में प्रशासनाधिकार सामाजिक, आर्थिक और स्थानीय संस्थाओं में वितरित होने के कारण व्यक्ति पर लोकलाज का प्रभाव अधिक पड़ता था, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षेत्र में अपना सर्वोत्तम रूप प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता था इसलिए व्यक्ति का चारित्रिक उत्थान होता था। प्रशासन की दृष्टि से राज्य की इकाई व्यक्ति न होकर अनेक संस्थाएं थीं। इसलिए राज्य का प्रशासन कार्य अत्यन्त सरल हो जाता था। व्यक्ति को स्वतंत्रता और स्वशासन की अनुभूति होती थी जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति में आर्थिक समस्याएं बाधक नहीं बन पाती थीं।

गणराज्यों में सामन्तता आ जाने से अराजनीतिक संस्थाओं का महत्व कम हो गया। अतः व्यक्ति के हृदय से लोकलाज का भय जाता रहा, जिसके कारण उसका तीव्र गति से चारित्रिक पतन होने लगा। प्रभुत्व के कारण सामन्तों में भी विलास और प्रमाद आ गया। सामन्ततंत्र के कारण जनता स्वशासन की अनुभूति से वंचित होकर अपने को राजतंत्रीय राज्य की जनता से किसी प्रकार भी अधिक सुखी न मानने लगी। अतः जनता के लिए जनतंत्र और राजतंत्र समान हो गये।

इस प्रकार हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन भारत के जनतंत्र की रूपरेखा आदि से अन्त तक चित्रित करने का प्रयास किया है। यद्यपि जनतंत्रीय राज्यों का इतिहास गुप्त-काल के साथ समाप्त हो जाता है, तथापि जनतंत्रीय संस्थाएं भारतीय इतिहास में तेरहवीं शताब्दी तक मिलती हैं। भारत में राजनीति का आरम्भ ही जनतंत्र से हुआ था, और राजतंत्र की उत्पत्ति भी जनतंत्र से ही हुई थी, इसलिए भारतीय राजतंत्र अपने अन्तर्गत जनतंत्रीय संस्थाओं का अस्तित्व बनाये रखने और उनको यथोचित महत्व देने में ही गर्व मानता रहा है, और अपने इसी गुण के कारण उसने जनतंत्र के विकृत रूप पर विजय पायी थी। भारतीय राजा शब्द से ही जनतंत्रीय भावना टपकती है कि जो प्रजा का रंजन करे वही राजा होता है। राजा होते हुए भी राजा अपने को जनता का सेवक समझता था, और जनता उसको अपने में से ही एक मानते हुए भी देवोपम समझती थी। ये महान् भावनाएँ दोनों ओर निहित थीं। कारण कि भारतीय भावना कर्तव्य पर

ही अधिक बल देती है, अधिकार पर नहीं। यही कारण है कि भारतीय इतिहास में पाश्चात्य देशों के समान राज्य और धर्म में रक्तपात होता दिखाई नहीं देता। शक्ति-परिवर्तन यहाँ भी हुआ, धर्म की शक्ति शनैः-शनैः कम होती गयी और राज्य की शक्ति तदनुसार बढ़ती गयी। परन्तु यह क्रान्ति भी शान्ति के साथ हुई, रक्तपात के साथ नही।

धनिक और निर्धन वर्गों का संघर्ष भी यहाँ नहीं दिखाई देता, क्योंकि पाश्चात्य देशों में निर्धनों ने जो अधिकार संघर्ष के बाद प्राप्त किये थे, वे अधिकार भारतीय जनता को आरम्भ से ही प्राप्त थे, आर्थिक संस्थाओं में ही नहीं, अपितु राज्य में भी अनुयाजाः के नाम से उनका पृथक् प्रतिनिधित्व वैदिक काल की राज्यसभा में मिलता है। भारतीय जनतंत्रीय राजनीति सभी वर्गों का महत्व और अधिकार स्वीकार करती है।

हमको आशा है कि प्रस्तुत विचारधारा राजनीति के विद्वानों में प्रचलित इस भ्रम को दूर कर सकेगी कि संसार में सर्वप्रथम राज्य का जन्म राजतंत्र के रूप में ही हुआ था, अथवा राजा की उत्पत्ति कुटुम्ब से हुई थी, अथवा वह दैविक रूप में मानी गयी थी।

ग्रन्थ-सूची

(अ) मूल स्रोत

(१) ब्राह्मण–साहित्य

ऋग्वेद संहिता—हिन्दी अनुवाद सहित,
जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर
ऋग्वेद संहिता—अंग्रेजी अनुवाद सहित,
आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस
यजुर्वेद संहिता—हिन्दी अनुवाद सहित,
जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर
यजुर्वेद संहिता—अंग्रेजी अनुवाद सहित,
आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस
सामवेद संहिता—अंग्रेजी अनुवाद सहित,
आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस
सामवेद संहिता—हिन्दी अनुवाद सहित,
जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर
अथर्ववेद संहिता—हिन्दी अनुवाद सहित,
जयदेव शर्मा विद्यालंकार, अजमेर
ऐतरेय ब्राह्मण, सायणाचार्य भाष्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना
ऐतरेय ब्राह्मण अंग्रेजी अनुवाद, डा० मार्टिन हाग, एलाहाबाद
तैत्तिरीय आरण्यक, सायणाचार्य भाष्य, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना
आपस्तम्बीय धर्मसूत्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस
बौधायन श्रौत्रसूत्र, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
बौधायन धर्मसूत्र ई० हुसल, लिपज़िक
वशिष्ठ धर्मसूत्र, ए० फ्यूहरर, बम्बई
गौतम धर्मसूत्र, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना
बाल्मीकीय रामायण, हिन्दी टीका सहित, पं० चन्द्रशेखर शास्त्री, बनारस

महाभारत (सानुवाद), गीताप्रेस, गोरखपुर!
मनुस्मृति, मन्वर्थमुक्तावली सहित, कुल्लूक भट्ट, बनारस
मनुस्मृति, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
नारदस्मृति , जौली, कलकत्ता ।
कौटलीय अर्थशास्त्र, पं० गंगाप्रसाद शास्त्री, देहली
कौटिल्य अर्थशास्त्र, आर० शामशास्त्री, मैसूर
कामन्दकीय नीतिशास्त्र, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्
शुक्रनीति, हिन्दी अनुवाद सहित, पं० गंगाप्रसाद शास्त्री, शामली मुजफ्फरनगर
बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र, एफ० डब्ल्यू० थामस
राजनीतिरत्नाकार—चण्डेश्वरकृत,
के० पी० जायसवाल, बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
अग्निपुराण, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई
वायुपुराण, राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता
पद्मपुराण, वी० एन० माण्डलिक, पूना
शतपथ ब्राह्मण, सायणाचार्य भाष्य, रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
बृहदारण्यक उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर
कठोपनिषद्, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना
भागवत पुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर
वीरमित्रोदय, राजनीति प्रकाश, मित्र मिश्र, बनारस
याज्ञवल्क्य स्मृति, अपरार्क व्याख्या, आनन्दाश्रम, पूना
आश्वलायन गृह्यसूत्र, आनन्दाश्रम सिरीज़, पूना

(२) बौद्ध साहित्य

जातकाज़, वी० फौसबाल, लन्दन
अंगुत्तर निकाय, आर० मोरिस एण्ड ई० हार्डी, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन
दिग्घ निकाय, जे० जब्ल्यू० हेरिस डेविड्स एण्ड ई० कार्पेण्टर,
पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन
मज्झिम निकाय, वी० टेन्कनर एण्ड आर० चामर्स,
पाली टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन
धम्मपद, सूर्यगौड़ सुमंगल ठेरा, पाली टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन
ललितविस्तर, राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता

दिव्यावदान, ई० बी० कोवेल एण्ड आर० ए० नील, केम्ब्रिज
महावस्तु, ई० स्नार्ट, पेरिस

(३) जैन साहित्य

आचारंग सूत्र, जेकोबी का अनुवाद, एस० बी० ई०, मेक्स मुलर, आक्सफोर्ड
कल्पसूत्र, एच० जेकोबी का अनुवाद, एस० बी० ई० मेक्समुलर, आक्सफोर्ड
जम्बूदिव्वपन्नति, शान्तिचन्द्र, बम्बई
नवधम्मकड, एन० बी० वैद्य, पूना
ववहार भाष्य, मलयागिरि, भावनगर
महानिशिथ, डब्ल्यू० शुब्रिग, बर्लिन
उत्तर पुराण, गणभद्राचार्य भाष्य, देवदत्त
आदि पुराण, जिनसेनाचार्य भाष्य, दौलतराम
हरिवंशपुराण, जिनसेनाचार्य भाष्य, दौलतराम
पद्मपुराण, रविसेनाचार्य, दौलतराम
वर्धमानपुराण, सकलकीर्ति भाष्य, केसरी सिंह
लघु अर्हन्नति, अहमदाबाद
नीतिवाक्यामृत, सोमदेव सूरि, सुन्दरलाल शास्त्री, देहली
अभिधान-राजेन्द्र, जैन प्राकृत कोश, रतलाम

(४) विदेशी साहित्य

इनवेजन आफ इण्डिया वाई एलेक्जेण्डर दि ग्रेट, मेक क्रिण्डल, वेस्टमिस्टर
एंशियण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड वाई मेगस्थनीज एरियन एटसेट्रा, मेक क्रिण्डल, कलकत्ता
हिरोडोटस, जी० रालिसन, लन्दन
एंशियण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, मेक क्रिण्डल, वेस्टमिस्टर
फाह्यान, गाइल्स, लन्दन
एंशियण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइड वाई टोलेमी, मेक क्रिण्डल, कलकत्ता

(५) मुद्राएं

काइंस आफ एंशियण्ट इण्डिया, कनिंघम, लन्दन
केटेलाग आफ काइंस इन दि इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता बी० १, बी०ए० स्मिथ
केटेलाग आफ दि काइन्स आफ दि गुप्त डाइनेस्टीज एन्ड आफ शशांक, किंग आफ गौड, अल्तन जोन, लन्दन

(६) **शिलालेख**

हाथीगुम्फा इंसक्रिप्शन आफ खारवेल
अशोक एण्ड हिज़ इंसक्रिप्शन, बरुआ
कार्पस इंसक्रिप्शन इण्डिकेरम वी० ३ (गुप्त इंसक्रिप्शन्स), फ्लीट, कलकत्ता
सिलेक्ट इंसक्रिप्शंस बियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन, सरकार
इंसक्रिप्शंस आफ अशोक, डी० आर० भण्डारकर, एण्ड एस० एन० मजूमदार, कलकत्ता

(आ) आधुनिक साहित्य

हिन्दू पालिटी, के० पी० जायसवाल, बंगलोर
लेक्चर्स आन दि एंशियण्ट हिस्ट्री आफ इण्डिया, डी० आर० भण्डारकर, कलकत्ता
दि स्टेट इन एंशियण्ट इण्डिया, बेनीप्रसाद, एलाहाबाद
दि पालिटिकल थ्योरी इन एंशियण्ट इण्डिया, बेनीप्रसाद
एस्पेक्ट्स आफ एंशियण्ट इण्डियन पालिटी, ए० एन० ला०, आक्सफोर्ड
सम एस्पेक्ट्स आफ एंशियण्ट इण्डियन पालिटी, डी०आर० भण्डारकर, बनारस
कार्पोरेट लाइफ इन एंशियण्ट इण्डिया, आर० सी० मजूमदार, कलकत्ता
ए हिस्ट्री आफ इण्डियन पोलिटिकल थ्योरी, यू० एन० घोषाल........
हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, विण्टरनिट्ज़
दि वेदिक एज, आर० सी० मजूमदार
हिन्दू राज्यशास्त्र, अम्बिकाप्रसाद बाजपेयी, प्रयाग
पाणिनि कालीन भारतवर्ष, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, बनारस
स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, ए० एस० अलटेकर, देहली
स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कलचर, यू० एन० घोषाल, बम्बई
जनतंत्रवाद, डा० श्यामलाल पाण्डेय, लखनऊ
इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्यूनिज्म टु स्लेवरी, एस० ए० डांगे, बम्बई
इण्डिया एज़ डिस्क्राइब्ड इन अर्लीटेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म, बी० सी० ला, लन्दन
मनु का राजधर्म, डा० श्यामलाल पाण्डेय, लखनऊ
कौटिल्य की राज्यव्यवस्था, डा० श्यामलाल पाण्डेय, लखनऊ
भीष्म का राजधर्म, डा० श्यामलाल पाण्डेय, लखनऊ
संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर, दिल्ली
सावरेनिटी इन एंशियण्ट इण्डियन पालिटी, एच० एन० सिन्हा, लन्दन

लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्ड़िया, आर० के० मुकर्जी., आक्सफोर्ड
डाइलाज आफ दि बुद्ध, हेरिस डेविड्स
स्टडीज इन चोल हिस्ट्री एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन, के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, मद्रास
लाइफ आफ दि बुद्ध, राक हिल

जर्नल्स

एपिग्राफिया इण्डिका
इण्डियन एण्टिक्वेरी
जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी
दि वाइस आफ अहिंसा
जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी
साउथ इण्डियन एपिग्राफिकल रिपोर्ट्स